नोट

युद्ध-काल के दौरान देश में औद्योगिक विकास की गति तेज तो हुई, लेकिन देश औद्योगिक क्षेत्र में उतनी तेजी से प्रगति नहीं कर सका जितना कि उसे अवसर मिला था।

यही नहीं कि युद्ध-काल के अवसरों से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सका, बल्कि इस अवधि में देश में अनेक समस्याएं भी उठीं जिनका औद्योगिक क्षेत्र पर तत्काल एवं आगे चलकर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिए, विश्वयुद्ध ने पुरानी व घिसी हुई मशीनों एवं उनके प्रतिस्थापन की समस्या को बहुत जटिलतर बना दिया। युद्ध-काल में उत्पादन तो बढ़ा, लेकिन मुख्य रूप से यह वृद्धि मौजूदा संयन्त्रों और मशीनों पर ही अधिक समय तक काम करके लाई गई थी। युद्ध-काल में आयात में भारी कटौती के कारण नई मशीनों का मंगाना संभव न हो सका। यहां तक कि मशीनों का आवश्यक प्रतिस्थापन-कार्य भी बहुत बड़ी सीमा तक रुक गया। फलस्वरूप पुरानी व घिसी हुई मशीनों की समस्या जटिलतर बनती रही। इससे युद्ध खत्म होने के बाद औद्योगिक विकास के क्षेत्र में बड़ी कठिनाई पैदा हुई।

एक अन्य समस्या यह पैदा हुई कि चूंकि युद्ध-काल में अनेक चीजों की बड़ी कमी थी, इसलिए हर कोई चीज जो तैयार की जा सकती थी, उसके बेचने में किसी प्रकार की कठिनाई उठने की संभावना नहीं थी। माल अच्छा न होने पर भी ऊंची कीमतों पर बेचकर भारी मुनाफा कमाया जा सकता था। फलस्वरूप इस अवधि में अविचारित एवं असम्बद्ध ढंग से उद्योगों का विस्तार हुआ। इस काल में कुछ ऐसे उद्योग भी चल पड़े जिनकी स्थिति कच्चे माल, वित्त, बाजार अथवा अन्य बातों की दृष्टि से बहुत खराब थी। युद्ध के समाप्त होने पर ऐसे उद्योगों को भारी मुसीबतों का सामना करना पड़ा और ऐसी स्थिति में औद्योगिक विकास की गति का धीमा पड़ना स्वाभाविक ही था।

इसी प्रकार युद्ध-काल के दौरान व्यवसाय का नैतिक आधार बहुत कमजोर हो गया। उन दिनों अनेक ऐसे लोग व्यवसाय-क्षेत्र में उतरे जो शीघ्र-से-शीघ्र अधिकाधिक लाभ कमाने के चक्कर में थे। अन्य किसी और बात से उनका कोई सरोकार नहीं था। फलस्वरूप चोरबाजारी, मुनाफाखोरी, झूठ, धोखा आदि अनैतिक व असामाजिक बातों को बहुत बढ़ावा मिला। लड़ाई के साथ ये रोग खत्म नहीं हुए, बल्कि धीरे-धीरे बढ़कर भारतीय जीवन के साधारण अंग बन गए। इससे देश को कितना धक्का लगा और आज भी लग रहा है, यह सर्वविदित है।

अस्तु, द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रभाव से जहां पुराने उद्योग बढ़े और कुछ नए उद्योग भी स्थापित हुए, वहां तरह-तरह की समस्याएं भी उठीं जिनके कारण युद्ध के बाद कुछ समय तक कठिनाइयां बनी रहीं और इनका औद्योगिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। वैसे भी अगले दो-तीन वर्ष का काल राजनीतिक अस्थिरता का समय था जिसमें औद्योगिक विकास के सिलसिले में कोई ठोस कार्य किया जाना संभव न था।

1947 में देश आजाद हुआ, लेकिन आवश्यक शर्त के रूप में देश का विभाजन किया गया। इस देश-विभाजन से औद्योगिक अर्थव्यवस्था को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से चोट पहुंची। उदाहरणतया, विभाजन के फलस्वरूप देश में कच्चे माल की, विशेष रूप से कपास और पटसन की बड़ी कमी हो गई। पटसन के सब कारखाने देश में रह गए, लेकिन कुल 25 प्रतिशत पटसन-क्षेत्र ही हमें मिल सका। इसी प्रकार जहां लगभग 98 प्रतिशत सूती कपड़े के कारखाने हमारे पास रहे, वहां कपास-क्षेत्र का हमें मिलने वाला भाग मुश्किल से 60 प्रतिशत ही था। कच्चे माल की इस कमी के कारण हमारे कपड़ा तथा पटसन उद्योगों को विशेष रूप से गहरी ठेस लगी।

हमारे उद्योगों को इस बात से क्षति पहुंची कि देश की अनेक बड़ी मण्डियां पाकिस्तान के क्षेत्र में चली गयीं। ये मण्डियां अभी तक देश की अपनी संरक्षित मण्डियां थी। देश-विभाजन

नोट

के कारण ये विदेशी मण्डिया बन गयीं। फलस्वरूप इन मंडियों में माल बेचना कठिन हो गया। पूंजी-बाजार पर भी देश-विभाजन का बुरा असर पड़ा। कुछ क्षेत्रों के लोगों को अपनाघर-बार एवं अपना धन्धा-व्यवसाय छोड़कर भारत आना पड़ा। कुछ समय तक वे प्रमुख रूप से उपभोक्ता ही बने रहे। कुछ बचत करना अथवा पूंजी को उत्पादन-कार्य में लगाना उनके लिए सम्भव न था। देश में उस समय छाई हुई अनिश्चितता और अशान्ति का पूंजी-बाजार पर काफी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। और फिर, देश-विभाजन के फलस्वरूप कुछ विशेष कोटि के श्रमिकों की कमी बढ़ गई और परिवहन सम्बन्धी स्थिति काफी बिगड़ गई। इनके कारण औद्योगिक क्षेत्र की कठिनाइयों में और वृद्धि हुई।

इन प्रत्यक्ष प्रतिकूल प्रभावों के अतिरिक्त, परोक्ष रूप से भी देश-विभाजन का औद्योगिक अर्थव्यवस्था पर बुरा असर पड़ा। उदाहरण के लिए, देश-विभाजन से भारत में खाद्य-समस्या पहले से कहीं अधिक गंभीर हो गई। कारण, जहां विभाजन के फलस्वरूप देश के हिस्से में लगभग 82 प्रतिशत जनसंख्या आई, वहां चावल-उत्पादन का कुल 68 प्रतिशत क्षेत्र और गेहूं-उत्पादन का केवल 65 प्रतिशत क्षेत्र ही भारत को मिल सका। साथ ही देश के सामने शरणार्थियों के पुनर्वास की समस्या भी उठी। देश के सीमित साधन इन समस्याओं को सुलझाने में लगाए जाने लगे, जो इन समस्याओं के न होने पर काफी सीमा तक औद्योगिक विकास के लिए प्रयोग किए जा सकते थे।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि 100 वर्ष के औद्योगीकरण के बावजूद स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय देश की औद्योगिक अर्थव्यवस्था बहुत पिछड़ी हुई अवस्था में थी। उस समय तक औद्योगिक विकास के क्षेत्र में जो प्रगति हुई थी, वह देश की आवश्यकताओं और संसाधनों की दृष्टि से बहुत अपर्याप्त थी। राष्ट्रीय आय और रोजगार में उद्याग का योगदान बहुत थोड़ा बना रहा। धीमी प्रगति के अलावा, औद्योगिक ढांचा कमजोर और बहुत बड़ी सीमा तक एकांगी था। देश में मूल व भारी उद्योगों का अभाव था, और जो ऐसे उद्योग थे भी, उनकी प्रगति बहुत धीमी और अवरुद्ध थी। वे अपना पूरा योगदान देने में असमर्थ थे। उद्योगों का प्रादेशिक वितरण भी बहुत दोषयुक्त था। अधिकांश उद्योग देश के कुछ विशेष क्षेत्रों में ही केन्द्रित थे। मौटे तौर पर औद्योगिक क्षेत्र में विदेशी पूंजी और उद्यम की प्रधानता काफी बड़ी सीमा तक बनी हुई थी।

औद्योगिक अर्थव्यवस्था के पिछड़ेपन एवं असन्तोषजनक स्थिति का मूल कारण यह था कि विदेशी शासन-काल में देश के औद्योगीकरण में न तो सरकार ने सक्रिय रूप से भाग लिया और न आवश्यक सुविधाओं की समुचित व्यवस्था द्वारा इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया। तकनीकी जानकारी, पूंजी एवं आवश्यक साज-सामान की कमी तथा विदेशी प्रतियोगिता के कारण देश के औद्योगिक विकास में जो भी कठिनाइयां पैदा हो रही थीं उनको दूर करने के लिए समय पर और सम्बद्ध रूप में कोई व्यवस्थित प्रयास नहीं किया गया।

3.5 औद्योगिक विकास और योजनाएँ

1947 में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना एवं विकास के लिए 1951 में आयोजन अपनाने के बाद देश के औद्योगिक क्षेत्र में अनेक और विभिन्न प्रकार के महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इनके फलस्वरूप औद्योगिक अर्थव्यवस्था का रूप व आकार बहुत-कुछ बदल गया है। इसका आधार मजबूत हुआ है, स्तर ऊपर उठा है, और इसमें काफी विविधता दिखाई पड़ने लगी है। अब भारत की गिनती विश्व के प्रमुख औद्योगिक देशों में की जाने लगी है। इसका मूल्यांकन करने के सिलसिले में सर्वप्रथम पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगिक विकास के लिए की गई व्यवस्था एवं योजना-काल में हुई प्रगति की जानकारी लाभप्रद रहेगी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56)

नोट

देश की प्रथम पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास को नहीं, बल्कि कृषि-विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता देने का निश्चय किया गया। देश की अल्पविकसित अर्थव्यवस्था तथा आयोजन के पूर्व की परिस्थितियों को देखते हुए यह आवश्यक ही था। उस समय देश में अनाज व अनेक प्रकार के कच्चे माल के सम्बन्ध में स्थिति बहुत खराब थी। अत: कृषि-क्षेत्र की ओर विशेष ध्यान दिया जाना आवश्यक था। फिर भी इस योजना में औद्योगिक विकास की उपेक्षा नहीं की गई थी। योजना आयोग ने इस बात पर बल दिया कि देश के वर्तमान उद्योगों को बढ़ाया जाए, विशेषत: उन उद्योगों को जिनका सम्बन्ध उत्पादक वस्तुओं के तैयार करने से है। साथ ही औद्योगिक ढांचे को मजबूत बनाने के लिए नए उद्योग स्थापित करने की भी सिफारिश की गई थी।

इस योजना के अन्तर्गत छोटे-बड़े उद्योगों एवं खनिजों के विकास के लिए 188 करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था थी; जो योजना की कुल आयोजित व्यय की रकम का लगभग 8 प्रतिशत था। इस अवधि में वास्तव में खर्च की गई रकम निर्धारित व्यय की रकम से भी कम थी--लगभग 97 करोड़ रुपये।

प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में औद्योगिक विकास के क्षेत्र में काफी सन्तोषजनक प्रगति हुई। अनेक क्षेत्रों में उत्पादन-मात्रा में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप कई निर्धारित लक्ष्य समय से काफी पहले ही प्राप्त कर लिए गए। पुराने उद्योगों के विकास के अतिरिक्त, कई नये महत्त्वपूर्ण, भारी व बुनियादी उद्योगों की इस अवधि में स्थापना की गई। फलस्वरूप बहुत-सी वस्तुएं जो पहले केवल विदेशों से की आती थीं, अब देश में तैयार होने लगीं। निश्चय ही यह हमारी आर्थिक समृद्धि और आत्मनिर्भरता का शुभ लक्षण था।

दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956-61)

दूसरी पंचवर्षीय योजना में, जैसी कि आशा थी, औद्योगिक विकास को बहुत ऊंची प्राथमिकता दी गई। यदि पहली योजना को कृषि मूलक योजना कहा जाए, तो दूसरी योजना को औद्योगिक योजना का नाम देना अनुचित न होगा। इस योजना में उद्योग-धन्धों के विकास पर बहुत बल दिया गया, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में कृषि-क्षेत्र में काफी प्रगति होने के कारण देश में तीव्र औद्योगिक विकास के लिए स्थितियां अब कहीं अधिक अनुकूल थीं। इस योजना में औद्योगिक विकास पर जो अधिक बल दिया गया, वह इस बात से स्पष्ट है कि इस योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत छोटे-बड़े उद्योगों एवं खनिजों के लिए 950 करोड़ रुपए की व्यवस्था की गई, जो योजना की कुल राशि का 18.6 प्रतिशत था। इस योजना काल में खर्च की रकम और भी अधिक थी— लगभग 1125 करोड़ रुपये।

दूसरी योजना में दो प्रकार के उद्योगों पर विशेष रूप से बल दिया गया था—एक तो भारी मूल उद्योग पर और दूसरे, लघु और कुटीर उद्योगों पर। इनके लिए क्रमश: 690 करोड़ और 160 करोड़ रुपए निर्धारित किए गए थे। देश की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़, आत्मनिर्भर तथा विविधतापूर्ण बनाने के लिए भारी और बुनियादी उद्योगों का तीव्र विकास अत्यन्त आवश्यक था। साथ ही लघु तथा कुटीर उद्योगों के स्वस्थ विकास की ओर भी अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया जाना आवश्यक था। इनके विकास के लिए पूंजी की कम आवश्यकता पड़ती है, और इनमें अपेक्षाकृत अधिक लोगों को काम मिल सकता है। इन दोनों बातों का हमारे लिए विशेष महत्त्व है। देश में पूंजी की बड़ी कमी है और बेकार लोगों की संख्या बहुत अधिक है। साथ ही इनके सहारे अपेक्षाकृत कम समय

में उत्पादन में, विशेष रूप से उपभोग-वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि लाई जा सकती है। पूंजीगत उद्योगों के विकास के शुरू के चरणों में उपभोग-वस्तुओं के उत्पादन में यथासंभव वृद्धि लाना बहुत आवश्यक होता है, अन्यथा कीमतों के बढ़ने अथवा स्फीतिकारी प्रवृत्तियों के जोर पकड़ने की संभावना बनेगी। अत: दूसरी योजना में जो इन दोनों प्रकार के उद्योगों पर अधिक बल दिया गया, वह हर दृष्टि से वांछनीय और आवश्यक था।

दूसरी योजना की अवधि में औद्योगिक विकास के क्षेत्र में कई दृष्टियों से काफी तेज एवं संतोषजनक प्रगति हुई। सार्वजनिक और निजी, दोनों क्षेत्रों में निवेश की रकम में काफी भारी वृद्धि हुई। इसके फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन-मात्रा काफी तेजी से बढ़ी। इस अवधि में औद्योगिक उत्पादन में हुई औसत वार्षिक वृद्धि लगभग 6.4 प्रतिशत थी। इससे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि इस अवधि में बुनियादी एवं पूंजीगत सामान तैयार करने वाले उद्योगों ने, विशेष रूप से मशीन और इंजीनियरी उद्योगों ने भारी उन्नति की। इस्पात, सीमेंट, कोयला, एल्यूमिनियम आदि के उत्पादन में भी काफी वृद्धि हुई। अनेक उद्योगों में काम आने वाले कल-पुर्जों व मशीनों का अधिकाधिक निर्माण देश में होने लगा। साथ ही कुटीर व लघु उद्योगों के क्षेत्र में भी काफी उन्नति हुई।

तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961-66)

तीसरी पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास को और ऊंची प्राथमिकता दी गयी। इसमें इस बात पर बल दिया गया कि यदि राष्ट्रीय आय और रोजगार से सम्बन्धित दीर्घकालिक लक्ष्य पूरे किये जाने हैं, तो अगले 15 वर्षों में तीव्र औद्योगीकरण के लिए अभी नींव तैयार कर लेनी होगी। इसके लिए यह अनिवार्य ठहराया गया कि मशीन-निर्माण के कार्यक्रमों पर विशेष जोर देते हुए मूल उद्योगों और उत्पादक-पदार्थ उद्योगों की दिशा में तेजी से उन्नति की जाए। इस शर्त को पूरा किए बिना भावी औद्योगीकरण से सम्बन्धित आवश्यकताएं देश के निजी साधनों से पर्याप्त मात्रा में पूरी नहीं हो सकेंगी और न तब तक देश की प्रगति स्वत: विकासशील बन सकेगी।

इस योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत छोटे-बड़े उद्योगों एवं खनिजों के विकास के लिए 1784 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी थी, जो इस योजना की कुल राशि का लगभग 23 प्रतिशत था। इस काल में खर्च की रकम योजना में निर्धारित रकम से काफी अधिक थी—लगभग 1967 करोड़ रुपये। दूसरी योजना की भांति इस योजना में भी मूल व भारी उद्योगों के विकास पर विशेष बल दिया गया।

वार्षिक योजनाएं

तीसरी योजना की समाप्ति पर चौथी योजना को शुरु नहीं किया जा सका। इसे तीन वर्षों के लिए स्थगित कर दिया गया और इस अवधि (1966-690 में तीन वार्षिक योजनाओं का सहारा लिया गया। इन तीन वर्षों में छोटे-बड़े उद्योगों पर लगभग 1636 करोड़ रुपये खर्च किए गए। लेकिन विभिन्न कारणों से इस अवधि में देश की उद्योग-सम्बन्धी स्थिति बहुत असन्तोषजनक बनी रही। विदेशी सहायता के अभाव में देश के उद्योगों के लिए कच्चा माल और पूंजीगत सामान की प्राप्ति में कठिनाई चलती रही। उधर देश में लगातार दो वर्षों तक प्रतिकूल मौसम के कारण कृषि सम्बन्धी स्थिति भी काफी गम्भीर बनी रही। इससे बचत, निवेश और क्रय-शक्ति में कमी हुई, जिसके फलस्वरूप उद्योग-धन्धों को गहरी ठेस लगी। तीन वर्षों की इस अवधि में औद्योगिक उत्पादन की वार्षिक वृद्धि-दर केवल 2.6 प्रतिशत थी, जबकि तीसरी योजना के काल में औसत वृद्धि-दर 7 प्रतिशत के लगभग थी।

चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-74)

चौथी योजना में औद्योगिक विकास-कार्यक्रम और नीतियों के निर्धारण में इस बात पर विशेष बल दिया गया कि औद्योगिक ढांचे के असन्तुलनों को दूर किया जाए और सृजित क्षमता को अधिकतम उपयोग में लाया जाए। साथ ही इस तरह की व्यवस्था की जाए कि जिससे कि भुगतान-शेष पर अनुचित दबाव डाले बिना औद्योगिक उत्पादन में तेजी से वृद्धि लाना संभव हो सके। मोटे तौर पर चौथी योजना में औद्योगिक क्षेत्र में निवेश के सम्बन्ध में ये उद्देश्य निर्धारित किए गए–(i) पहले से चल रहे निवेश-कार्यों को पूरा करना; (ii) भावी विकास की आवश्यकतानुसार वर्तमान क्षमता में वृद्धि लाना, विशेष रूप से आयात-प्रतिस्थापन एवं निर्यात-संवर्धन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त मात्रा में जरूरी चीजों को देश में उपलब्ध करने के लिए व्यवस्था; तथा (iii) देश में वर्तमान उपलब्धि तथा विकास का लाभ उठाते हुए नए उद्योगों की स्थापना अथवा उद्योगों के लिए नए आधारों का निर्माण।

इस योजना में इस बात पर भी जोर दिया गया कि पूंजी व अन्य साधन इस ढंग से इस्तेमाल में लाए जाएं कि देश में औद्योगीकरण का यथासंभव अधिकतम विस्तार हो और नए उद्यमकर्त्ता-वर्ग के बढ़ने के लिए प्रात्साहन मिले। चौथी योजना में छोटे-बड़े उद्योगों एवं खनिजों के विकास के लिए कुल मिलाकर सार्वजनिक क्षेत्र के लिए 3630 करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की गई जो तीसरी योजना की इस मद के लिए निर्धारित राशि से लगभग दुगुनी थी। लेकिन खर्च की रकम 3107 करोड़ रुपए थी जो आयोजित राशि से काफी कम थी।

पांचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79)

औद्योगिक विकास के महत्त्व एवं चौथी योजना के काल में इस क्षेत्र में हुई असन्तोषजनक प्रगति को ध्यान में रखते हुए पांचवीं योजना में औद्योगिक विकास-कार्यक्रम को ऊंची प्राथमिकता दी गई। इस कार्यक्रम के लिए इस योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के लिए 10200 करोड़ रुपए की व्यवस्था की गई थी। योजना-काल में खर्च की गई रकम इससे थोड़ी कम थी–लगभग 9580 करोड़ रुपए। पिछली योजनाओं में इस कार्यक्रम के लिए निर्धारित राशियों से यह राशि कहीं अधिक बड़ी थी। इस योजना में औद्योगिक उत्पादन के लिए वार्षिक वृद्धि-दर का लक्ष्य 9 प्रतिशत रखा गया था।

पांचवीं योजना में औद्योगिक विकास-कार्यक्रम तैयार करते समय मुख्य रूप से इन दो उद्देश्यों को सामने रखा गया–आत्मनिर्भरता और सामाजिक न्याय सहित विकास। इस कार्यक्रम में मुख्य रूप से इन बातों पर विशेष बल दिया गया–आधारमूलक क्षेत्र (core sector) के उद्योगों का तेजी से विकास, निर्यात-संवर्धन, लोक-उपभोग वस्तुओं की पर्याप्त आपूर्ति, अनावश्यक वस्तुओं के उत्पादन पर रोक, ग्रामीण व लघु उद्योगों को बढ़ावा, औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए इलाकों का विकास, आदि। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पांचवीं योजना में जिन बातों को आवश्यक ठहराया गया, उनमें प्रमुख ये थीं–वर्तमान क्षमता से अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना, चालू परियोजनाओं को जल्दी पूरा करना, वर्तमान इकाइयों जिनसे शीघ्र अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है उनमें विस्तार व तकनीकी सुधार लाना, योजना में निर्धारित प्राथमिकता के अनुसार नई क्षमता का सृजन तथा छठी योजना की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए लम्बी अवधि वाली परियोजनाओं की पहले से तैयारी।

छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85)

अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण में, उसे आत्मनिर्भर बनाने एवं उसमें संरचनात्मक विविधता लाने में औद्योगिक विकास का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण ठहरता है। इस तथ्य पर बल देते हुए तथा इस बात

नोट

को ध्यान में रखकर कि गत कई वर्षों से औद्योगिक प्रगति बहुत असन्तोषजनक थी, छठी योजना में औद्योगिक विकास को बहुत ऊंची प्राथमिकता दी गई। छोटे-बड़े उद्योगों और खनिज सम्बन्धी विकास-कार्यक्रम के लिए इस योजना में 15,018 करोड़ रुपये की राशि निर्धारित की गई। इसमें कोयला और पैट्रोलियम के लिए निर्धारित राशि शामिल नहीं है जो पहले इस मद के अन्तर्गत की जाती थी। इस निर्धारित राशि का बड़ा भाग (13,237 करोड़ रुपये) संगठित उद्योगों के लिए रखा गया। लघु और ग्राम-उद्योगों के लिए अपेक्षाकृत बहुत थोड़ी राशि की व्यवस्था की गई–केवल 1780 करोड़ रुपये। इसमें यही नहीं कि उद्योग-क्षेत्र को अपेक्षाकृत ऊंची प्राथमिकता दी गई, बल्कि इस क्षेत्र के अन्तर्गत बड़े पैमाने के उद्योगों के विकासपर अधिक बल दिया गया। ऐसा इसलिए किया गया ताकि पूंजीगत और उपभोग-वस्तुओं की बढ़ती हुई मांग देश के भीतर अधिकाधिक पूरी हो सके और ऊंची उत्पादकता के स्तर पर लोगों को रोजगार उपलब्ध कराया जा सके।

इस योजना में औद्योगिक विकास के संदर्भ में इन बातों पर विशेष जोर दिया गया। वर्तमान क्षमता का भरपूर उपयोग और उत्पादिता के स्तर को ऊपर उठाना; सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के अनेक उद्योगों की क्षमता में विस्तार लाना ताकि उपभोग-वस्तुओं और पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन को तेजी से बढ़ाया जा सके; पूंजीगत उद्योगों, खास तौर से इलेक्ट्रानिक उद्योगों पर जिन पर अन्य अनेक उद्योग निर्भर करते हैं, विशेष ध्यान देना जिससे कि उत्पादित माल की कोटि में गिरावट न होने पाए और लागत प्रतियोगी स्तर पर कायम रह सके; निर्यात संवर्धन के उद्देश्य से कुछ विशेष प्रकार के उद्योगों जैसे इंजीनियरी उद्योगों के उत्पादनों में तेजी से वृद्धि लाना; उत्पादन-तकनीक में सुधार लाने के लिए अनुसंधान की समुचित व्यवस्था; पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिए नए उपायों को खोज करना अथवा उपयुक्त कार्य-नीतियां तैयार करना, आदि।

इस योजना में औद्योगिक विकास के लिए जो व्यवस्था की गई थी, उसके आधार पर औद्योगिक संवृद्धि-दर का लक्ष्य 6.9 प्रतिशत वार्षिक रखा गया। पिछली दशाब्दी की संवृद्धि-दर को देखते हुए यह लक्ष्य थोड़ा ऊंचा था। लेकिन यह लक्ष्य पहुंच के बाहर नहीं था। आयोजन के प्रथम 15 वर्षों में वृद्धि-दर 7 प्रतिशत के लगभग थी। इसके बाद भी कई वर्ष ऐसे रहे हैं जब कि वृद्धि-दर इस स्तर के आस-पास थी। अत: ठोस प्रयास के सहारे इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता था। लेकिन पहले की भांति इस योजना काल में प्रगति असन्तोषजनक थी। इस अवधि (1980–85) में औद्योगिक उत्पादन में हुई वार्षिक वृद्धि-दर लगभग 6.2 प्रतिशत थी, जो 6.9 प्रतिशत के निर्धारित लक्ष्य से थोड़ी कम थी। लक्ष्य की प्राप्ति इन अनेक कारणों से संभव नहीं हो सकी–विभिन्न रूपों में संरक्षण की व्यवस्था; तकनीक का अनुपयुक्त चयन; क्षमता-उपयोग की नीची दर; क्षमता और मांग के बीच असन्तुलन; बिजली, परिवहन आदि की ओर से बाधाएं आदि।

सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985–90)

सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक संवृद्धि एवं उत्पादिता में सुधार के निर्देशक सिद्धांतों के अनुसार सातवीं योजना में औद्योगिक क्षेत्र के लिए निम्न उद्देश्य निर्धारित किए गए–(i) उचित कीमतों पर और ठीक किस्म की लोक-उपभोग की वस्तुओं की पर्याप्त आपूर्ति को सुनिश्चित करना; (ii) पुनर्गठन और तकनीकी सुधार के सहारे उपलब्ध सुविधाओं का भरपूर उपयोग; (iii) विशाल घरेलू बाजार एवं अधिक निर्यात क्षमता वाले उद्योगों पर विशेष ध्यान; (iv) अपनी जरूरतों से जुड़े तथा ऊंची संवृद्धि-क्षमता के उद्योगों को बढ़ावा; तथा (v) महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में आत्म-निर्भरता एवं कुशल और प्रशिक्षित श्रमिकों के रोजगार-सृजन की दिशा में एकीकृत नीति का निरूपण।

नोट

कोयला और पैट्रोलियम के लिए व्यय-राशि के प्रावधान को निकालते हुए, उद्योग तथा खनिज सम्बन्धी विकास कार्यक्रमों के लिए इस योजना में 22,461 करोड़ रुपए की राशि निर्धारित की गई। इसमें से 2753 करोड़ रुपये लघु और ग्रामीण उद्योगों के विकास के लिए रखे गए। योजना में औद्योगिक उत्पादन के लिए औसत वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य 8.3 प्रतिशत निर्धारित किया गया। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भारतीय उद्योग को उत्पादिता के उच्चतर स्तर पर पहुंचना जरूरी समझा गया। इसके लिए तकनीक में सुधार लाना, उत्पादन-साधनों का कुशलतम उपयोग, उपलब्ध क्षमता का भरपूर उपयोग एवं उद्योग का आधुनिकीकरण आवश्यक ठहराया गया। योजना के प्रथम दो वर्षों में प्रगति पर्याप्त सन्तोषजनक रही। दोनों वर्षों में प्रगति लक्ष्य से अधिक रही। वार्षिक वृद्धि-दर 1985-86 में 8.7 प्रतिशत और 1986-87 में 9.1 प्रतिशत थी। तीसरे वर्ष 1987-88 में वृद्धि-दर लक्ष्य से कम थी–7.3 प्रतिशत। लेकिन चौथे वर्ष 1988-89 में फिर वृद्धि-दर निर्धारित लक्ष्य से अधिक थी–लगभग 8.7 प्रतिशत। योजना के अन्तिम वर्ष 1989-90 में वृद्धि-दर 8.6 प्रतिशत के करीब थी। इस प्रकार कुल मिलाकर सातवीं योजना के काल में औद्योगिक संवृद्धि-दर लगभग निर्धारित लक्ष्य के अनुरूप रही। इस योजना-काल में औद्योगिक उत्पादन में हुई वार्षिक वृद्धि-दर 8.5 प्रतिशत थी, जो 8.3 प्रतिशत के निर्धारित लक्ष्य से थोड़ी अधिक ही थी।

आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97)

इस योजना में उद्योग एवं खनिज सम्बन्धी विकास-कार्यक्रमों के लिए 40,588 करोड़ रुपये की राशि निर्धारित की गई। लघु और ग्रामीण उद्योगों के लिए अलग से 6,334 करोड़ रुपये खर्च करने का प्रावधान किया गया। रकम की दृष्टि से निर्धारित राशि अपेक्षाकृत कहीं अधिक बड़ी थी। लेकिन कुल व्यय-राशि के प्रतिशत के रूप में यह काफी कम था–लगभग 10.8 प्रतिशत, जबकि यह प्रतिशत भाग छठी योजना में 15.5 और पांचवीं योजना में 24.3 था। आठवीं योजना में औद्योगिक क्षेत्र में इन अनेक बातों पर विशेष बल दिया गया–उद्योगों की प्रतियोगिता-शक्ति को बढ़ाना, महत्त्वपूर्ण खनिजों का पता लगाना, औद्योगिक कंपनियों के आकार में वृद्धि लाना, हर संभव उपाय से सार्वजनिक उद्यमों को कार्य-कुशल और लाभकारी बनाना आदि। इस योजना में औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि का वार्षिक लक्ष्य सातवीं योजना के दौरान प्राप्त वृद्धि-दर (8.5%) की तुलना में थोड़ा कम रखा गया–8.2 प्रतिशत। कारण, 1990-92 के दो वर्षों में औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि की स्थिति बहुत निराशाजनक रही थी। औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि की दर 1990-91 में तो 7.8 प्रतिशत थी और 1991-92 में यह मात्र 0.6 प्रतिशत थी। आठवीं योजना के प्रथम दो वर्षों में औद्योगिक उत्पादन सम्बन्धी स्थिति असन्तोषजनक बनी रही, यद्यपि सुधार की प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी थी। उदाहरण के लिए, उत्पादन-वृद्धि की दर 1992-93 में 4.2 प्रतिशत थी और 1993-94 में 5.8 प्रतिशत। तीसरे वर्ष 1994-95 में वार्षिक वृद्धि-दर बढ़कर 9.4 प्रतिशत और चौथे वर्ष 1995-96 में इससे भी अधिक थी –11.6 प्रतिशत। अन्तिम वर्ष 1996-97 में अनुमानित वृद्धि-दर (8.7 प्रतिशत) के आधार पर इस योजना के दौरान वृद्धि-दर 8.1 प्रतिशत आंकी गई है जो कि निर्धारित लक्ष्य के बराबर थी।

नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002)

इस योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत छोटे-बड़े उद्योग एवं खनिज सम्बन्धी विकास-कार्यक्रमों के लिए 69,972 करोड़ रुपये खर्च करने का प्रावधान किया गया जो आठवीं योजना में इस मद के लिए निर्धारित राशि से यह लगभग डेढ़ गुनी अधिक थी। लेकिन कुल व्यय-राशि के प्रतिशत के रूप में यह अपेक्षाकृत कम रही। यह प्रतिशत मात्रा आठवीं योजना में 10.8, छठी योजना में

15.5 और पांचवीं योजना में 24.3 था, जबकि नौवीं योजना में कुल 8.1 ही थी। विभिन्न कारणों से इस योजना में सर्वोच्च प्राथमिकता ऊर्जा के विकास को दी गई है। उसके बाद प्राथमिकता-क्रम में समाज-सेवा, कृषि और परिवहन का स्थान रहा। इस प्रकार उद्योग को दी गई प्राथमिकता अपेक्षाकृत काफी नीची रही।

3.6 औद्योगिक विकास का मूल्यांकन

भारत में आयोजन के श्रीगणेश से लेकर अब तक की औद्योगिक वस्तुस्थिति एवं प्रवृत्तियों पर विचार कर लेने पर अब हम इस क्षेत्र में हुई उपलब्धियों का मूल्यांकन करेंगे। औद्योगिक विकास की दिशा में होने वाली कुछघटनाएं वांछनीय रही हैं और कुछ अवांछनीय हैं। इसलिए अंतिम रूप से कोई निष्कर्ष निकालने से पहले इन दोनों का संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है।

सकारात्मक पक्ष

औद्योगिक गतिविधियों का मूल्यांकन करते समय हमें सबसे पहले इस क्षेत्र की निम्नलिखित प्रमुख उपलब्धियों पर ध्यान देना चाहिए।

सन्तोषजनक संवृद्धि दर—आयोजन काल के दौरान औद्योगिक उत्पादन की औसत वार्षिक वृद्धि-दर (6 प्रतिशत) अगर बहुत उत्साहजनक नहीं, तो सामान्यत: संतोषप्रद अवश्य रही है। यह वृद्धि-दर कृषि उत्पादन, जनसंख्या और राष्ट्रीय आय की औसत वृद्धि-दर से काफी अधिक है तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले की औद्योगिक संवृद्धि-दर की तुलना में तो यह लगभग तीन गुनी ज्यादा है। आयोजन-काल के दौरान औद्योगिक उत्पादन लगभग पांच गुना हो गया है। इस भारी वृद्धि के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय की संरचना में उद्योग-क्षेत्र का सापेक्ष योगदान पहले से काफी बढ़ गया है यह अवश्य है कि यह वृद्धि-दर विभिन्न योजनाओं में निर्धारित दरों से प्राय: कम रही हैं एक बात यह भी है कि छठे दशक के मध्य से अगले लगभग पन्द्रह वर्षों तक वृद्धि-दर प्राय: गिरने की ओर रही। फिर भी वृद्धि-दर के ऊपर की ओर उन्मुख दीर्घकालीन प्रवृत्ति की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए। हाल के वर्षों में स्थिति सुधरी भी है। 1980-81 को आधार वर्ष मानते हुए, औद्योगिक उत्पादन में औसत वार्षिक वृद्धि-दर 1984-96 की अवधि में 8 प्रतिशत के आसपास रही।

कुछ देशों के साथ तुलना करने पर भी हमारी स्थिति सामान्यतया सन्तोषजनक ठहरती है। उदाहरण के तौर पर 1975 को आधार-वर्ष मानते हुए, 1982 में औद्योगिक सूचकांक सिंगापुर में 183, मलेशिया में 165, जापान में 139, रूस में 132 और अमरीका में 118 था। इसकी तुलना में भारत में यह सूचकांक 144 था। इसी प्रकार 1980-93 के दौरान वार्षिक वृद्धि-दर जहां भारत में 6.2 प्रतिशत थी, वहां यह दर चीन में 11.5 प्रतिशत, जापान में 5 प्रतिशत, श्रीलंका में 3 प्रतिशत और कनाडा में केवल 2.2 प्रतिशत ही थी। इस अवधि में सारे विश्व के लिए औसत वृद्धि 2.4 प्रतिशत थी।

आद्योगिक आधार में मजबूती—उत्पादन-मात्रा में वृद्धि तो सन्तोषजनक रही ही है, साथ ही औद्योगिक आधार मजबूत भी हुआ है जिसके सहारे आगे चलकर और अधिक तेजी से उत्पादन में वृद्धि लाना सम्भव हो गया है। इसका स्पष्ट बोध आधारमूलक और पूँजी-वस्तु उद्योगों के क्षेत्र में हुई भारी प्रगति से होता है। इस्पात, सीमेन्ट, इन्जीनियरी, पेट्रोलियम जैसे महत्त्वपूर्ण उद्योगों की स्थापना और तेज विकास-विस्तार से अर्थव्यवस्था की क्षमता बहुत बढ़ गई है। इसके फलस्वरूप देश में विभिन्न प्रकार के उद्योग तेजी से प्रगति कर सकेंगे।

नोट

विविधता एवं आधुनिकीकरण–एक उल्लेखनीय बात यह है कि यहां की औद्योगिक संरचना में विविधता और आधुनिकता दिखाई पड़ने लगी है। अनेक आधुनिक किस्म के नए उद्योग महत्त्वपूर्ण हो गये हैं, जबकि उपभोग-वस्तु-उद्योगों का सापेक्ष महत्त्व कम हो गया है। इस तरह नये उद्योगों का योगदान बढ़ा है। यह विविधता अनेक बुनियादी और पूंजीगत वस्तु-उद्योगों की स्थापना में भी दिखाई देती है। उदाहरण के लिए, औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक में खाद्य-वस्तुएं और कपड़ा तैयार करने वाले उद्योगों को दिया जाने वाला महत्त्व अब कम हो गया है, जबकि रासायनिक पदार्थों तथा इंजीनियरी माल को दिये जाने वाले महत्त्व में काफी वृद्धि हुई है। औद्योगिक तकनीक, कौशल आदि क्षेत्रों में भी आधुनिकीकरण बढ़ा है। यह भी स्पष्ट है कि सकलघरेलू उत्पाद में परम्परागत उद्योगों की अपेक्षा नए-नए आधुनिक उद्योगों का योगदान बराबर बढ़ रहा है। औद्योगिक संरचना में आने वाली विविधता भारत के विदेशी व्यापार में भी दीख पड़ती है। बहुत-सी नयी विनिर्मित वस्तुएं–जैसे इंजीनियरी माल, इस्पात आदि–काफी विदेशी मुद्रा कमाने लगी हैं। निर्यात की परम्परागत संरचना भी बदली है। पहले इसमें कृषिजन्य वस्तुओं की बहुतायत होती थी। अब उनका स्थान नयी विनिर्मित वस्तुओं ने ले लिया है। आयात में भी परिवर्तन आया है। अब विनिर्मित वस्तुओं का आयात पहले से बहुत कम हो गया है, जबकि कच्चे माल और पूंजीगत पदार्थों के आयात में भारी वृद्धि हुई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि औद्योगिक अर्थव्यवस्था विविधतापूर्ण और आधुनिक रूप धारण कर रही है। साथ ही इसका आधार मजबूत हो चला है जिससे आगे चलकर विकास की गति और तेज हो सकेगी।

आत्म-निर्भरता–आत्म-निर्भरता की दिशा में निस्संदेह उल्लेखनीय प्रगति की गई है। कई वस्तुओं के मामले में देश आत्म-निर्भर हो गया है और अन्य अनेक वस्तुओं के बारे में 1950-51 की स्थिति की तुलना में, दूसरों पर हमारी निर्भरता काफी कम हो गयी है। मिसाल के तौर पर, अब इस्पात के मामले में दूसरों पर हमारी निर्भरता नहीं के बराबर है। मशीनों और उर्वरकों जैसी महत्त्वपूर्ण मदों में भी हमारी पराश्रित्तता में बहुत कमी हुई है। बहुत-सी विनिर्मित

उपभोग-वस्तुओं के लिए अब हम आयात पर निर्भर नहीं हैं। यह उपलब्धि वास्तव में औद्योगीकरण की उस कार्य-नीति का फल रही है जिसमें ऐसे उत्पादक वस्तु उद्योगों पर बल दिया गया, जिनके आधार पर आगे चलकर टिकाऊ उपभोग वस्तुएं–पंखे, साईकिलें, रेडियो, टी. वी. आदि–तैयार की जाने लगीं।

उल्लेखनीय निवेश–एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि निवेश में हो रही भारी वृद्धि से सम्बन्धित है। उद्योग-क्षेत्र में निवेश के लिए अधिकाधिक बड़ी मात्रा में धनराशियाँ अखिल भारतीय वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त होने लगी हैं। औद्योगिक कम्पनियाँ नए-नए शेयर जारी करके पूँजी-बाजार के माध्यम से विशाल मात्रा में संसाधन जुटाने लगी हैं। विदेशी निवेशक भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। यही नहीं, निवेश का बड़ा भाग इन जैसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में लगा है–बिजली उत्पादन, तेल-शोधन, विद्युत उपकरण, रसायन और निर्यात से जुड़े उद्योग। इसके फलस्वरूप आगे चलकर विकास की दर और तेजी पकड़ सकेगी।

नकारात्मक पक्ष

हमारे औद्योगिक मंच पर कुछ अवांछनीयघटनाएं भीघटित हुई हैं जिन्होंने इसका चित्र बहुत-कुछ धूमिल कर दिया है। इनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं–

अक्षम फर्में–एक गंभीर प्रवृत्ति देश में अकुशल औद्योगिक फर्मों की संख्या में भारी वृद्धि का होना है। अक्षमता का प्रमाण ऊंची लागतों से मिलता है। कुछ फर्मों की लागतें तो विश्व-मूल्यों से

नोट

दो-तीन गुना अधिक है। इन फर्मों की अक्षमता निम्न उत्पादिता-स्तरों से भी झलकती है। इसका मुख्य कारण यह बताया जाता है कि हमने आयात-प्रतिस्थापन द्वारा औद्योगिक विकास की नीति अपनाई है। यह तर्क दिया जाता है कि इस नीति के कारण भारत में आयातों की कड़ी लाइसेंस-व्यवस्था, अनेक वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध और आयात-शुल्कों आदि के रूप में ऐसे संरक्षात्मक कदम उठाये गए जिनसे प्रभावकारी संरक्षण 80-100 प्रतिशत तक हो गया। इस प्रकार प्रतियोगिता की स्थिति के हटने से अनेक फर्में लागत और क्वालिटी के बारे में सचेत नहीं रहीं। फिर भी आयात-प्रतिस्थापन इस स्थिति का एक मात्र कारण नहीं रहा है। दुर्भाग्य से पूंजी-प्रधान औद्योगीकरण की दिशा में बढ़ते हुए हम अनेक उद्योगों के लिए समुचित तकनीकों का चयन ही नहीं कर पाये। हमने गलती से वह तकनीक चुनी जिसमें पूंजी कर दरकार थी, वह नहीं जिसमें सस्ते श्रम का प्रयोग अधिक किया जा सकता था। ऊंची लागत और नीची उत्पाकदता का एक अन्य कारण औद्योगिक क्षमता का कम उपयोग बताया जाता है। निःसन्देह यह आरोप निराधार नहीं है।

उत्पादन में कमियां—कार्यकुशलता के अभाव के कारण अनेक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों—जैसे आधारभूत इस्पात, कच्चे लोहे, कुछ प्रकार की मशीनों और उर्वरक—में उत्पादन कम रहा है। इसका औद्योगिक अर्थव्यवस्था के दूसरे क्षेत्रों पर—वास्तव में पूरी अर्थव्यवस्था के विकास पर—बहुत बुरा असर पड़ा है। कमियों का स्तर 25 प्रतिशत से लेकर 75 प्रतिशत तक या इससे भी अधिक रहा है। इन कमियों के अनेक कारण रहे हैं। मुख्य कारण इस प्रकार हैं—(1) काम शुरू होने के बाद डिजाइन आदि में फेर-बदल के कारण परियोजना-आयोजन में त्रुटियां; और (2) संयन्त्रों के निर्माण में अधिक समय का लगना जिसका मुख्य कारण यह था कि महत्त्वपूर्ण उद्योगों के काफी उपकरण विदेशी सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत दूसरे देशों से आते थे। चूंकि विदेशी सहायता के बारे में लिखा-पढ़ी करने और माल सुपुर्दगी की प्रक्रियाएं अनिश्चित होती हैं और इनमें समय भी बहुत लग जाता है, इसलिए लक्ष्य पूरा करने में देरी हुई। लक्ष्य प्राप्ति के सम्बन्ध में इन कमियों ने न केवल अन्य क्षेत्रों में प्रगति में रुकावट डाली है, बल्कि विकास-व्यय भी बढ़ा दिया है। साथ ही छठे दशक के मध्य से अगले दस-पन्द्रह वर्षों तक वृद्धि-दर अपेक्षाकृत बहुत धीमी रही। साथ ही वृद्धि-दर में भारीघट-बढ़ भी होती रही। उदाहरण के लिए, जहां वृद्धि-दर 1978-79 में 11 प्रतिशत थी, वहां अगले वर्ष 1979-80 में यह 1.9 प्रतिशत से ऋणात्मक रही।

क्षमता का अल्प-उपयोग और औद्योगिक रुग्णता—हमारे औद्योगिक क्षेत्र की एक अन्य कमी यह है कि बहुत-सी सृजित क्षमता का उपयोग ही नहीं हो पा रहा है और अनेक औद्योगिक इकाइयां रुग्ण अवस्था में हैं। क्षमता के इस अल्प-उपयोग की मात्रा अलग-अलग उद्योगों में और वर्ष-प्रतिवर्ष भिन्न रही है। कुछ मामलों में तो यह 70 से 90 प्रतिशत तक जा पहुंची है। अनेक और विभिन्न प्रकार के उद्योग इस कमी के शिकार रहे हैं। इसके निम्नलिखित गम्भीर परिणाम हुए हैं—निर्मित क्षमता का अपव्ययय; वित्तीय तथा प्रबन्धकीय कार्य-कुशलता का अपव्यय; नये उद्योग स्थापित करने में उत्साह में कमी; अनेक अनैतिक परिपाटियां जैसे दुर्लभ कच्चे माल का उपयोग उत्पादन के लिए किए जाने के पहले उद्योगपतियों द्वारा लाभ कमाने की भावना से काले बाजार में वस्तुओं का व्यापार; और संभावित रोजगार-क्षमता का नष्ट होना। निस्सन्देह देश में साधनों की कमी, बड़े पैमाने पर फैली हुई बेरोजगारी तथा कालाबाजारी के बढ़ते जोर को देखते हुए हमारे लिए क्षमता के अल्प-उपयोग की स्थिति की गंभीरता और भी बढ़ जाती है। इतना ही चिन्ताजनक तथ्य यह है कि हमारे बहुत-से औद्योगिक उद्यम रुग्ण (sick) हो गये हैं। ये उद्यम है जो वित्तीय संकट में फंसे हुए हैं और लम्बे समय से अपनी देनदारियां चुकाने में असमर्थ हैं। मार्च 2001 में लगभग 253 हजार

औद्योगिक इकाइयां रुग्ण अवस्था में थीं। 20 वर्ष पहले 1980 की तुलना में (24.5 हजार) यह संख्या लगभग दस गुनी अधिक थी। इससे पता चलता है कि ये इकाइयां किस तेजी से बढ़ रही हैं। बैंकों के साधन जो इनमें फंसे हुए हैं, उसमें भी तेजी से बढ़ोत्तरी हो रही है। 2001 में रुग्ण इकाइयों को दिए गए बैंक-ऋण की बकाया रकम 25,775 करोड़ रुपए थी, जबकि 20 वर्ष पहले यह राशि 1809 करोड़ रुपए ही थी। इस प्रकार 20 वर्षों के भीतर बकाया राशि लगभग चौदह गुनी बढ़ गई। निसन्देह यह विशेष चिन्ताजनक स्थिति ठहरती है। बीमार इकाइयां सब क्षेत्रों में मौजूद हैं—छोटे-बड़े औद्योगिक क्षेत्रों में तथा निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों में भी।

भारी क्षेत्रीय असन्तुलन—भारत के औद्योगिक विकास में एक बड़ी कमी यह रही है कि यहां सभी क्षेत्रों में समान रूप से विकास नहीं हुआ है। अत: देश में क्षेत्र या राज्य-स्तर पर भारी असमानता और असन्तुलन देखने को मिलता है। अधिकांश विकास कुछ ही राज्यों में हुआ है। उदाहरण के लिए, देश के लगभग 80 प्रतिशत कारखाने इन नौ राज्यों में स्थित हैं—महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, पंजाब, कर्नाटक, बंगाल तथा उत्तर प्रदेश। इन नौ राज्यों का योगदान कुल औद्योगिक उत्पादन में 79 प्रतिशत और निवल संवर्धित मूल्य में 78 प्रतिशत के लगभग है। शेष राज्य औद्योगिक क्षेत्र में हर दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं। यही नहीं, उपर्युक्त नौ राज्यों वे बीच भी बड़ी असमानता देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ, जहां कुल औद्योगिक उत्पादन में महाराष्ट्र का प्रतिशत भाग 22 के लगभग है, वहां कर्नाटक का प्रतिशत केवल 4 है। इस तरह स्पष्ट है कि हमारे देश के विभिन्न क्षेत्रों में कितनी अधिक असमानताएं मौजूद हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारा औद्योगिक आयोजन विभिन्न क्षेत्रों में कितनी अधिक असमानताएं मौजूद हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारा औद्योगक आयोजन कुछ इस तरह हुआ है कि उसमें उन्नत औद्योगिक क्षेत्र को और भी आगे बढ़ने की सुविधा मिली, जबकि पिछड़े इलाके वस्तुत: पिछड़े ही बने रहे।

मजदूरी-वस्तुओं का अपर्याप्त उत्पादन—हमारे वर्तमान औद्योगिक ढांचे की एक अन्य कमी यह है कि बहुत अधिक लोगों द्वारा बरती जाने वाली वस्तुओं—अर्थात् मजदूरी-वस्तुओं का पर्याप्त मात्रा में यह उत्पादन नहीं कर पाता है। अधिकांश औद्योगिक मजदूरी-वस्तुएं या विनिर्मित मजदूरी-वस्तुएं ऐसी हैं जो मूलत: कृषि की देन हैं, लेकिन जिन्हें कारखानों द्वारा उपभोग्य रूप दिया जाता हैं ऐसी कुछ वस्तुएं हैं सूती कपड़ा, चीनी, वनस्पति तेल, चाय आदि। इनमें से अनेक वस्तुओं का उत्पादन तेजी के साथ नहीं बढ़ा है। कृषिजन्य वस्तुओं के उत्पादन में होने वालीघट-बढ़ के परिणामस्वरूप इन वस्तुओं का उत्पादन भीघटता-बढ़ता रहता है। इसका कारण यह है कि एक ओर तो कृषि की नई तकनीक का विस्तार पर्याप्त रूप से नहीं किया गया और उर्वरक-उत्पादन का स्तर नीचा रहा है, तथा दूसरी ओर बुनियादी व पूंजीगत वस्तु-उद्योगों पर अभी हाल तक अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया गया है। मजदूरी-वस्तुओं की अपर्याप्तता का नतीजा यह हुआ है कि सामान्य उपभोग की चीजों की कीमतें बढ़ गई हैं और औद्योगिक प्रगति तथा रोजगार-सृजन का काम धीमा रहा है। किसी हद तक यह आलोचना उचित भी है, क्योंकि अगर कृषि की ओर थोड़ा अधिक ध्यान दिया जाता तथा उसमें कुछ और संसाधन लगाए जाते और विकास की रणनीति में मजदूरी वस्तु-क्षेत्र को उचित स्थान दिया जाता तो हमारा औद्योगिक उत्पादन अधिक बढ़ सकता था, रोजगार के अवसरों का तेजी के साथ विस्तार हो सकता था और हम विभिन्न इलाकों में जल्दी ही अपने उद्योगों को फैला सकते थे। इस बात को ध्यान में रखते हुए, वर्तमान नौवीं योजना में कृषि-विकास को ऊंची प्राथमिकता देने का प्रावधान किया गया है।

निवेश में वृद्धि के बावजूद हमारे विकासमूलक प्रयास बहुत-कुछ इस कारण निष्फल होते जा रहे हैं। अतः उत्पादिता में वृद्धि लाना हमारा केन्द्र बिन्दु होना चाहिए। इससे सभी को लाभ पहुंचेगा–पूंजीपति, श्रमिक और उपभोक्ता।

नोट

उत्पादिता-वृद्धि के लिए तरह-तरह के उपाय सुझाए जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में दो-एक उपाय विशेष महत्त्वपूर्ण ठहरते हैं। एक तो समुचित सीमा तक औद्योगिक क्षेत्र में प्रतियोगिता की स्थिति का लाया जाना बहुत जरूरी है। ऐसी स्थिति के अन्तर्गत ही उत्पादकों पर लागतघटाने, गुण-कोटि में सुधार लाने तथा उत्पादन बढ़ाने के सिलसिले में आवश्यक दबाव डाला जा सकेगा। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे कि औद्योगिक क्षेत्र में विशेष रूप से ऐसे क्षेत्रों में जहां एकाधिकार की स्थिति अपेक्षाकृत अधिक मजबूत रही है, ऐसी और विदेशी फर्में आसानी से प्रवेश कर सकें। इसके अतिरिक्त, उत्पादन-तकनीक में सुधार लाना जरूरी है। इस संदर्भ में अनुसंधान-कार्य का मुख्य उद्देश्य उत्पादिता-स्तर को ऊपर उठाना तथा पूंजी, और अन्य सीमित संसाधनों के इस्तेमाल में किफायत करना होना चाहिए।

यदि जरूरी हो तो इस उद्देश्य से कुछ मामलों में विदेशी तकनीक के आयात का भी सहारा लिया जा सकता है। इस दृष्टि से वैज्ञानिक प्रबन्धन का महत्त्व कम नहीं है। प्रबन्ध-क्षेत्र में आधुनिक तौर-तरीके अपनाकर प्रबन्धक लागतघटाने एवं उत्पादिता बढ़ाने में काफी योगदान दे सकते हैं। स्पष्टतः यह भूमिका प्रशिक्षित प्रबन्धक ही भली-भांति निभा सकते हैं और वह भी तभी जब वे कार्य करने में पर्याप्त स्वतंत्र हों।

साथ ही औद्योगिक वस्तुओं के लिए माँग में वृद्धि लाना कम ज़रूरी नहीं है। वर्तमान समय में इस दिशा से रुकावट पैदा हो रही है। यह कार्य अब इस कारण और जरूरी बन गया है कि आयात-प्रतिस्थापन के सहारे जो माँग में वृद्धि लाई गई थी, उसका प्रभाव लगभग समाप्त हो गया है। उधर हाल के वर्षों में सार्वजनिक निवेश में वृद्धि धीमी पड़ गई है। अतः हमें नए उपाय अपनाने होंगे। इस संदर्भ में औद्योगिक वस्तुओं की कीमतों में कमी लाना प्रमुख उपाय ठहरता है। इससे देश-विदेश में हमारे माल की माँग बढ़ेगी। अप्रत्यक्ष करों में कटौती कीमतों को, कम रखने में सहायक रहेगी। उपभोग-वस्तुओं के सम्बन्ध में ब्राण्ड नाम के प्रयोग से बाजार का विस्तार सुविधाजनक बन जाता है, विशेष रूप से विदेशी बाजार का विस्तार।

3.7 सार्वजनिक क्षेत्र की समस्यायें एवं मुद्दे

निस्सन्देह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास-विस्तार में सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। लेकिन यह भी सही है कि इस क्षेत्र के सामने अनेक कठिनाइयां और समस्याएं हैं जिनके कारण इसके विकास एवं सुचारु रूप से संचालन में भारी रुकावटें आ रही हैं। साथ ही इसके सम्बन्ध में कई कमजोरियाँ देखने को मिलती हैं जिसके फलस्वरूप इसकी उपलब्धियाँ बहुत-कुछ धूमिल पड़ जाती हैं। यही नहीं, बल्कि सरकार को विवश हो कर सार्वजनिक क्षेत्र के सम्बन्ध में आंशिक रूप में निजीकरण करने की नीति को अपनाना पड़ा। हाल के वर्षों में कई सार्वजनिक उद्यमों के साथ निजी भागीदारी की व्यवस्था की गई है। अतः इसकी मुख्य समस्याओं और कमजोरियों का विवेचन आवश्यक है, ताकि सुधार के लिए आवश्यक उपाय प्रस्तुत किये जा सकें।

नियन्त्रण और स्वायत्तता

सार्वजनिक क्षेत्र की एक महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि औद्योगिक प्रतिष्ठानों की अपेक्षित स्वायत्तता और सार्वजनिक अधिकारियों द्वारा उन पर नियंत्रण की आवश्यकता के बीच स्वस्थ एवं समुचित

समायोजन किस तरह किया जाए। इन संस्थानों में लगा अधिकांश रुपया सरकारी है, जो वास्तव में करदाता का रुपया है। अत: इन प्रतिष्ठानों का मालिक होने के नाते जनता को यह कानूनी और सांविधानिक हक है कि वह इन प्रतिष्ठानों पर नियंत्रण रखे। इसके साथ-ही-साथ यह भी सच है कि इन प्रतिष्ठानों को इतनी आजादी तो मिलनी ही चाहिए कि वे कार्यकुशलता और मितव्ययिता के साथ अपना काम जारी रख सकें। अस्तु, जटिल समस्या यह है कि इन दोनों को कैसे अंगीकार किया जाए अथवा इन दोनों को समायोजित कैसे किया जाए?

अर्थ-सरकारी नियंत्रण में यह बात अंतर्निहित है कि प्रतिष्ठान सरकार के प्रति उत्तरदायी रहें। दूसरे शब्दों में, इसका आशय यह है कि सार्वजनिक उद्यम अपने कार्यों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी हों। यह उत्तरदायित्व इसलिए अनिवार्य है, ताकि (1) सरकार, संसद और इनके माध्यम से जनता को यह भरोसा हो सके कि सार्वजनिक उद्यम कुशलता और प्रगतिशीलता के साथ चल रहे हैं, (2) उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा हो सके, तथा (3) यह सुनिश्चित किया जा सके कि श्रमिक-सम्बन्ध और कार्मिक-प्रबन्धन इतना उत्तम हो कि हड़ताल और तालाबन्दी जैसी स्थितियों से बचा जा सके।

नियंत्रण का अर्थ यह भी है कि संसद को यह अधिकार रहे कि प्रतिष्ठान के काम पर विचार करके उनकी नीतियों और कार्यचालन में आवश्यक सुधार के लिए कानूनी तौर पर आदेश जारी कर सके। नियंत्रण और स्वायत्तता, दोनों का सीमा-विस्तार सम्बन्धित उद्यम के विविध कार्यों—उत्पादन, वितरण, विकास, लेखापालन, औद्योगिक सम्बन्धों आदि—पर प्रभाव डालने वाली नीतियों तथा सामान्य सिद्धान्तों के निर्धारण और कार्यान्वयन तक विस्तृत है।

स्वायत्तता का आशय यह है कि प्रबन्धकों को उस उद्यम के सामान्य कार्य-संचालन की स्वतन्त्रता प्राप्त हो। मिसाल के तौर पर, उन्हें उत्पादन-साधन जुटाने तथा उनकी प्रबन्ध-व्यवस्था करने, कच्चा माल खरीदने और तैयार माल बेचने आदि के बारे में पूरी आजादी हो। वैसे यह आजादी इस अर्थ में सीमित ही है कि प्रबन्धकों को इसका प्रयोग संसद द्वारा निर्धारित नीतियों और सिद्धान्तों के अनुरूप ही करना होता है।

संगठन के रूप—नियंत्रण और स्वायत्तता का प्रश्न अंशत: सार्वजनिक प्रतिष्ठानों के संगठनात्मक रूप के साथ जुड़ा हुआ है। भारत में संगठन के तीन रूप हैं। एक है विभागीय प्रतिष्ठान, जैसे कि रेल, डाक-तार आदि। ये सम्बन्द्ध मंत्रालय के विभाग के तौर पर चलाए जाते हैं। राजकोष से इनका वित्त पोषण होता है और इनकी आय का अधिकांश भाग राजकोष में जमा होता है। सरकारी बजट और जांच नियंत्रण के ये अधीन होते हैं। दूसरा रूप सरकारी कम्पनियों का है जो, अन्य कम्पनियों की तरह, कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित की जाती हैं। इनकी सारी पूंजी का 51 प्रतिशत पूंजी सरकार द्वारा लगाई जाती है। तीसरा रूप सार्वजनिक निगमों का है जो विशेष कानून द्वारा खोले जाते हैं और ये सरकार के स्वामित्व में होते हैं।

इन तीनों प्रकार के संगठनों में व्यापारिक और औद्योगिक उद्यमों के लिए विभागीय प्रतिष्ठान सबसे कम उपयुक्त ठहरते हैं, क्योंकि इनके सम्बन्ध में स्वायत्तता नहीं के बराबर होती है। देश में कम्पनी का रूप अधिक लोकप्रिय है। इसमें पर्याप्त लचीलापन होता है जिसके कारण सार्वजनिक कम्पनी निजी क्षेत्र के प्रतिष्ठानों से प्रतियोगिता कर सकती है।

योजना ने सार्वजनिक प्रतिष्ठानों के लिए तीसरे प्रकार के संगठन-रूप का अर्थात् निगम का सुझाव दिया। निगम का रूप सेवाओं, विशेष रूप से लोकहित सेवाओं के लिए अधिक उपर्युक्त ठहरता है। इन दोनों के बीच जरूरतों के अनुसार चयन किया जाना चाहिए।

नोट

अस्पष्ट स्थिति–नियंत्रण और स्वायत्तता की लक्ष्यसिद्धि की स्थिति अब तक अस्पष्ट ही बनी रही है। इससे इन प्रतिष्ठानों के समुचित कार्यसंचालन में बाधा आती है। इस सम्बन्ध में अभी तक यह परिपाटी रही है: संसद-सदस्य संसद में पूछे जाने वाले प्रश्नों, प्रस्तावों तथा इन प्रतिष्ठानों की रिपोर्टों के माध्यम से इन प्रतिष्ठानों के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं। सम्बन्धित मंत्रालय की निधि-विषयक मांगों पर मतदान के समय वे संसद् में उन प्रसंगों पर वाद-विवाद करते हैं। इस संदर्भ में मंत्री विभागेतर उद्यमों को भी विभागीय उद्यमों की भाँति ही मानते हैं। मई 1964 से इस स्थिति में सुधार हुआ है। उस समय सार्वजनिक लेखा समिति तथा सार्वजनिक प्राक्कलन समिति के ढंग पर सार्वजनिक उद्यमों के विषय में एक संसदीय समिति गठित की गयी। यह समिति युक्तियुक्त कारोबारी सिद्धान्तों और विवेकसम्मत वाणिज्यिक परिपाटियों के आधार पर इन उद्यमों में कार्यचालन की परख करती है।

नियंत्रण और आजादी–नियंत्रण और स्वायत्तता के दोहरे लक्ष्य की सिद्धि के लिए संस्थागत व्यवस्था के साथ-साथ दो और बातें भी आवश्यक हैं। एक तो यह भली-भाँति स्पष्ट होना चाहिए कि किन क्षेत्रों में संसद् का नियंत्रण रहेगा तथा कहां उक्त नियंत्रण का अंत और उद्यम की अपनी स्वायत्तता का आरम्भ होगा। दूसरे, संसद-सदस्यों के सांविधिक अधिकारों के बारे में स्वस्थ परिपाटियों की स्थापना आवश्यक है। उन्हें इस अधिकार का प्रयोग संयम और सावधानी के साथ ही करना चाहिए, नहीं तो नियंत्रण का मूल उद्देश्य–अर्थात् प्रतिष्ठान का समुचित कार्यसंचालन ही विफल हो जायेगा। इसके साथ-ही-साथ प्रबन्धकों पर भी यह दायित्त्व आ जाता है कि वे निर्धारित सीमाओं का उल्लंघन न करें। अर्थात् राजकीय उद्यमों की नीति तथा लक्ष्य-निर्धारण में प्रबन्धकों का सहयोग आरम्भ से ही लिया जाना चाहिए। इस तरह सार्वजनिक हित के लिए नियंत्रण करने वाली सरकार और कार्य-कुशलता के लिए आजादी चाहने वाले प्रबंधकों के आपसी संघर्ष यथासंभव बचाये जा सकेंगे। यह अवश्य है कि नियंत्रण और स्वायत्तता के इस गठबन्धन के बारे में कोई निश्चित नियम नहीं बनाये जा सकते। इन दोनों के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा खींचनी भी संभव नहीं है। बहुत समय से तंग करने वाली इस समस्या का समाधान तो अनुभव के बल पर ही किया जा सकेगा। आवश्यक यह है कि सरकार के प्रतिनिधियों और उद्यम का प्रतिनिधित्त्व करने वालों के बीच स्वस्थ और लाभकारी मनोवृत्तियों का विकास किया जाए।

लाभकारिता और कार्यकुशलता

इतना ही महत्त्वपूर्ण है सार्वजनिक उद्यमों में किए गए निवेश की लाभकारिता एवं इससे जुड़ा उद्यमों की कार्यकुशलता का प्रश्न। इस पर अलग से विचार करना जरूरी है।

अर्थ–आम बोलचाल में लाभकारिता का अर्थ है लागत के ऊपर अधिशेष पैदा करना अथवा लाभ कमाना। उद्यम चलाने का यह व्यापारिक सिद्धान्त है और प्रतियोगिता की स्थिति में निजी क्षेत्र इसी सिद्धान्त के आधार पर अपना कार्य चलाता है। इस स्थिति के संदर्भ में इसका अर्थ है लागत को न्यूनतम करना और बाज़ार कीमत पर माल को बेचना। यह तो ठीक है कि कुछ मामलों में (जैसे कि गरीब बच्चों के लिए सार्वजनिक उद्यम द्वारा रियायती दरों पर दूध उपलब्ध कराना) बाज़ार -कीमत की अपेक्षा बिक्री-कीमत कम रखी जा सकती है, फिर भी लाभकारिता या कार्यकुशलता की बात अपनी जगह बनी रहती है। लाभ न कमा सकने की दशा में भी लागत को न्यूनतम करने के रूप में कार्यकुशलता बनाए रखना जरूरी ठहरता है। यह सच्ची लाभकारिता का सूचक है।

आवश्यकता—इन अनेक कारणों से सार्वजनिक उद्यमों की लाभकारिता और कार्यकुशलता में वृद्धि लाना जरूरी है। एक तो यह सामान्यत: सभी स्वीकार करते हैं कि आरम्भ में अपेक्षित पूंजी सरकार द्वारा लगा दी जाने के बाद इन उद्यमों को इतना लाभ अर्जित कर लेना चाहिए कि वे उसी के बल पर अपना विस्तार कर सकें। भारत मे अभी हाल तक सार्वजनिक उद्यमों की स्थिति इस दृष्टि से सराहनीय नहीं रही है। एक अध्ययन के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र के सम्बन्ध में कुल निवेश में आन्तरिक संसाधनों का अंश 28 प्रतिशत था, जबकि निजी निगम क्षेत्र में यह अंश 60 प्रतिशत था।

इधर स्थिति में अवश्य सुधार हुआ है। उदाहरणतया जहां 1964-65 में कुल निवेश में आंतरिक संसाधनों (मूल्य ह्रास एवं प्रतिधारित लाभों का जोड़) का भाग 28 प्रतिशत के लगभग था, वहां 1972-73 में यह 47 के निकट पहुंच चुका था। फिर भी निजी क्षेत्र की तुलना में यह बहुत कम है।

दूसरी बात यह है कि इन उद्यमों को सरकार से प्राय: रियायती दरों पर वित्त मिलता है। इसी तरह विविध सुविधाएँ जैसे जमीन, इमारती सामान आदि सुलभ करने के मामले में भी राजकीय उद्यमों को निजी क्षेत्र की अपेक्षा प्राथमिकता दी जाती है। अत: इन उद्यमों में कम लाभ होने, लाभ न होने या हानि होने को केवल अपवादतुल्य परिस्थितियों में ही क्षम्य माना जा सकता है। इससे वास्तव में उनके कुशल कार्य संचालन के बारे में संदेह पैदा होता है।

तीसरे, भारतीय दशाओं के संदर्भ में सामान्यत: लागतें इतनी ऊंची नहीं होनी चाहिए जितनी कि आजकल हैं। वास्तव में विकसित देशों की तुलना में हमारी लागत कम होनी चाहिए। कारण, श्रम की बहुलता के फलस्वरूप हमारे देश में मजदूरी और वेतन का स्तर अपेक्षाकृत नीचा है। अनेक भौतिक लागतों के सम्बन्ध में भी यह बात लागू होती है। अत: पूंजीगत और परिचालन, दोनों प्रकार की लागतें अपेक्षाकृत कम बैठनी चाहिए।

चौथे, देश में सार्वजनिक उद्यमों को न केवल अपने विकास-विस्तार के लिए, बल्कि योजनाओं के लिए साधन जुटाने के उद्देश्य से भी लाभ कमाने के लिए प्रयास करना चाहिए। काफी लम्बे समय से ऐसा नहीं हो पाया है जिसके कारण सार्वजनिक उद्यमों की कड़ी आलोचना की जाती रही है। इस कमी को दूर करने के लिए इन उद्यमों के कार्य-संचालन को कुशल बनाना जरूरी है।

पांचवें, यह संभव है कि सार्वजनिक उद्यम लाभ पैदा न कर सकें या लाभ कीघोषणा न कर सकें, क्योंकि उनके उत्पादों की कीमतें कम रखी जाती हैं ताकि विशेष सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति हो सके। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि निर्धारित उद्देश्य को पूरा करने के लिए ये उद्यम उत्पादन-लागत में कमी लाने में सक्षम न बनें। विशिष्ट बातें उद्यम की कार्यकुशलता की जाच करने के लिए सही अर्थ में प्रासंगिक नहीं है। इनकी विशेष संगति केवल यह निश्चित करने में है कि वस्तु की कीमत निर्धारित करते समय आर्थिक सहायता या सहायिकी का अंश कितना रखा जाए। दूसरे शब्दों में, कार्यकुशलता सिद्ध करने के लिए उद्यम को लाभकारिता दिखलानी ही चाहिए।

उद्यमों में हानियां—अभी हाल तक बहुत से सार्वजनिक उद्यमों में कोई विशेष लाभ नहीं कमाया गया है। सच तो यह है कि अनेक उद्यमों में हानि ही होती रही है। पिछले कुछ बरसों में यह स्थिति सुधरी है। लाभ कमाने वाले उद्यमों की संख्या बढ़ी है और लाभ की राशि भी। फिर भी कुल मिलाकर स्थिति सन्तोषजनक नहीं ठहरती। घाटे में चल रहे उद्यमों की संख्या बहुत अधिक है और साथ ही घाटे की रकम भी। उदाहरण के लिए केन्द्रीय सरकार के उद्यमों की संख्या 1993-94 में 240 थी जिनमें से कोई 107 उद्यमघाटे में चल रहे थे। उस वर्ष कुलघाटे की रकम 5287

करोड़ रुपये थी। भारी एवं बढ़ते हुए घाटे के कारण सरकारी बजट पर बोझ उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है जिसका भार अन्ततः समाज को उठाना पड़ता है।

नोट

इस सम्बन्ध में संतुलित निष्कर्ष निकालने के लिए यह आवश्यक है कि लाभकारिता या कार्यकुशलता के दृष्टिकोण से इन उद्यमों के असन्तोषजनक कार्य-संचालन के विविध कारणों पर विचार कर लिया जाए। इनमें से मुख्य कारण ये हैं:

(1) **बहुत अधिक आरम्भिक व्यय**—सार्वजनिक क्षेत्र में नयी और बड़ी परियोजनाओं की स्थापना पर आरम्भिक व्यय बहुत अधिक रहा है। इन इकाइयों के निर्माण के आरम्भिक समय में बहुत अधिक प्राविधिक योग्यता वाले लोग उपलब्ध नहीं थे। इसलिए इन परियोजनाओं के आयोजन और कार्यान्वयन पर लागत अधिक आयी।

इस प्रकार पहले शुरू की गई परियोजनाओं में बहुत पूंजी लगी हुई है। समय बीतने के साथ-साथ इस स्थिति में काफी सुधार हुआ है।

(2) **पूंजी-प्रधान उद्योग**—सार्वजनिक क्षेत्र के अनेक उद्योग बहुत अधिक पूंजी-प्रधान हैं। इस्पात, इंजीनियरी, रसायन, उर्वरक और पेट्रोलियम उद्योगों में बहुत अधिक पूंजी लगी हुई है। इन उद्योगों को पूरा होने में लम्बा समय लगता है और इस कारण प्रतिफल बहुत देर में प्राप्त हो पाता है।

(3) **अतिरिक्त क्षमताएं**—कुछ उद्योगों में यह व्यवस्था की गई आगे चल कर अतिरिक्त क्षमता उपलब्ध हो सके।

इस कारण उनकी प्रारंम्भिक लागतें अधिक रहीं। इस व्यवस्था से लाभ तभी उठाया जा सकेगा, जबकि इन क्षमताओं का पूरी तरह उपयोग सम्भव बन जाए। तब तक तो इनमें हुए निवेश से लागत में ही वृद्धि होती रहेगी और लाभ कम ही रहेगा।

(4) **भारी सामाजिक लागत**—इन उद्यमों के नगर-क्षेत्र के निर्माण, रख-रखाव और प्रशासन पर बहुत अधिक सामाजिक लागत आई है। ये लागतें इन उद्यमों की कुल लागतों का अभिन्न अंग हैं। इनके अलावा शिक्षा, श्रमिक कल्याण आदि पर हुआ व्यय भी कुल लागतों में शामिल होता है। सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों के एक अध्ययन दल के मतानुसार निवेश का 10 प्रतिशत भाग इन नगर-क्षेत्रों पर ही व्यय हुआ है।

(5) **कम कीमतों वाले उत्पादन**—सार्वजनिक क्षेत्र में उत्पादित कुछ वस्तुओं के दाम प्रायः जानबूझकर कम रखे गए हैं। जैसे इस्पात, उर्वरक तथा सीमेंट आदि की सरकार द्वारा निर्धारित कीमतें प्रायः उनकी लागत पर आधारित कीमतों से कम रही हैं। इसी तरह विभिन्न उद्योगों के लिए आवश्यक आधारमूलक कच्चे माल की कीमतें कम रखी गयी हैं, ताकि इनका उत्पादन बढ़े और मुद्रास्फीति में कमी रहे। अनेक राष्ट्रीयकृत बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी शाखाएं खोलने और उन्हें चालू रखने के सिलसिले में प्रायः भारी हानि उठानी पड़ी है।

(6) **श्रमविषयक कठिनाइयां**—बहुत से उद्यमों में श्रमविषयक कठिनाइयों से काम रुक गया। इस कारण वहाँ उत्पादन कम रहा, बिक्री से कम रकम मिली और लाभ भी कम रहा या फिर हानि उठानी पड़ी।

(7) **ऊंचा व्यय अनुपात**—व्यय का अनुपात (अर्थात् शुद्ध बिक्री/लागत) भी बहुत अधिक रहा है। इसका परिणाम यह है कि उद्यमों के अधिशेष कम रहे हैं या फिर उनमें हानियां रही हैं। कुछ उद्यमों में तो व्यय का अनुपात 100 प्रतिशत तक या उससे भी अधिक रहा है।

(8) **अन्य कारण**–इनके अलावा ऐसी कुछ और बातें भी है जिनके कारण सार्वजनिक उद्यमों का कार्य-निष्पादन सन्तोषजनक नहीं रहा है। इनमें से पहली बात है कुल निवेश में ऋण का बहुत अधिक अनुपात। इससे उद्यम पर निश्चित ब्याज चुकाए जाने के कारण स्थायी रूप से एक बड़ा बोझ लद जाता है। परियोजना का निर्माण-कार्य चाहे पूरा हो या नहीं और चाहे उत्पादन शुरू हो या नहीं, ऋण पर ब्याज की रकमें जुड़ती जाती हैं। चूंकि परियोजना के पूरी होने में प्रायः बहुत देरी होती है, इसलिए ब्याज की रकम बहुत बड़ी हो लेती है। इसके विपरीत, कारोबार का आम तरीका यह है कि निवेश का अधिक अनुपात इक्विटी पूंजी के रूप में रखा जाता है।

दूसरे, इन उद्यमों के प्रबन्ध के विषय में, खासतौर से माल-नियन्त्रण के मामले में अकुशलता या कमियां मौजूद हैं। साथ ही साधारणतया कर्मचारियों की कार्यक्षमता का स्तर नीचा रहा है। आयातित कच्चे माल की भराई में समय लगने और उसकी प्राप्यता अनिश्चित होने के कारण आवश्यकता से अधिक माल रखना पड़ता है और इस तरह लागत बढ़ जाती है। साथ ही ऊँचे स्तर के प्रबन्धकों के साथ भी यह शिकायत रही है कि वे बहुत अच्छा काम नहीं कर सके। इसका आंशिक कारण यह रहा है कि सही आदमियों को इस काम पर नहीं लगाया गया। दफ्तरशाही के कारण भी कार्य-कुशलता को क्षति पहुंची है। कार्य की लेखा-परीक्षा में बहुत देर होती रही है। कार्य-कुशलता की भी कोई जांच नहीं की गई है। एक अन्य कारण निजी क्षेत्र की रुग्ण इकाइयों का सार्वजनिक क्षेत्र में शामिल किया जाना है। ऐसी इकाइयों की संख्या तेजी से बढ़ती रही है। सामाजिक हितों को ध्यान में रखते हुए इनको सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत लाना आवश्यक तो ठहराया जा सकता है, लेकिन लाभकारिता पर प्रतिकूल प्रभाव तो पड़ेगा ही।

सुधार के लिए उपाय

सार्वजनिक उद्यमों की लाभकारिता और कार्य-कुशलता के इस विवेचन से स्पष्ट है कि कम लाभकारिता का पूरा दोष इन उद्यमों पर ही नहीं थोपा जा सकता। समय मिलने पर इनमें से अनेक बुराइयां दूर हो सकती हैं। फिर भी कई प्रकार के उपाय अपनाकर इनकी लाभकारिता व कार्यकुशलता को बढ़ाया जा सकता है। एक तो इनके प्रबन्धन में सुधार लाकर उसे वैज्ञानिक एवं व्यावसायिक रूप देना जरूरी है कर्मचारियों का प्रशिक्षण इस कार्य में सहायक हो सकता है। दूसरे, लागत कम करने के उद्देश्य से आवश्यक उपाय अपनाने होंगे। उदाहरण के लिए, कुल निवेश में ऋण का अनुपातघटाने से स्थायी ब्याज लागत का बोझ कम किया जा सकता है। इसी प्रकार वित्त-व्यवस्था तथा कार्यकुशलता की जांच-परख से सम्बन्धित नीतियों में आवश्यक संशोधन करने से इन उद्यमों के कार्य में सुधार लाया जा सकता है। माल-नियंत्रण के अधिक कुशल तरीके से लागत में कमी हो सकेगी। वर्तमान क्षमता के और अधिक उपयोग से कम-से-कम समय में उत्पादन बढ़ेगा और लाभदेयता में भी वृद्धि होगी। परियोजनाएं ठीक ढंग से बनाकर, उनका समुचित नियंत्रण करके और उन्हें जल्दी ही पूरा करके पूंजीगत लागतें भीघटायी जा सकती हैं। यह भी आवश्यक है कि निजी क्षेत्र की रुग्ण इकाइयों को सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत लाए जाने पर रोक लगाई जाए। यह औद्योगिक रुग्णता का स्थायी या सही हल नहीं है। यहां यह ध्यान रहे कि अनेक सार्वजनिक उद्यम स्वयं रुग्णता के शिकार हैं। बेहतर होगा कि सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार को सीमित किया जाए। समाजवाद के नारे को लेकर नहीं, बल्कि प्रमुखतः आर्थिक आधार पर सार्वजनिक उद्यम को खोलना देश के हित में होगा। आवश्यकता इस बात की है कि सार्वजनिक उद्यम की उत्पादिता का स्तर ऊपर उठे।

नोट

तीसरे, औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार बहुत ही जरूरी है। स्वस्थ औद्योगिक सम्बन्धों के बिना ये उद्यम अपनी भूमिका भली-भांति निभा ही नहीं सकेंगे। इसके लिए पांचवीं योजना में तीन बातें अनिवार्य ठहरायी गयीं–(1) उच्चतर कार्य-संचालन के लाभों के बंटवारे की उचित पद्धति का प्रबन्ध, उदाहरण एक सीमा तक श्रमिकों को शेयरधारी बनाने की व्यवस्था; (2) कर्मचारियों के प्रतिनिधियों और प्रबन्धकों के बीच प्रभावकारी सौदाकारी सम्बन्धों के बारे में संस्थागत ढांचे की व्यवस्था; तथा (3) सभी स्तरों के कर्मचारियों को शिक्षा प्रदान करना, ताकि औद्योगिक लोकतन्त्र की भावना पैदा हो सके।

इस प्रकार सार्वजनिक उद्यमों की कार्य-कुशलता और लाभकारिता बढ़ाने के लिए प्रबन्धन, परियोजना, कच्चा माल, वित्त, औद्योगिक सम्बन्ध आदि विभिन्न मोर्चे पर एक साथ उपाय अपनाने होंगे।

कीमत नीति

सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की एक अन्य समस्या का सम्बन्ध उनके उत्पादनों की कीमतों के निर्धारण के साथ है। यह बात महत्त्वूपर्ण हो गयी है, क्योंकि ये उद्यम पर्याप्त लाभ न कमा सकने के कारण अधिशेष पैदा नहीं कर पा रहे है, जबकि ऐसे संसाधनों की आवश्यकता वर्तमान समय में बहुत बढ़ गई है।

महत्त्व–प्राय: सभी सार्वजनिक उद्यमों के उत्पादों की कीमतें निर्देशित कीमतें होती हैं; अर्थात् उनका निर्धारण प्रशासन या प्रबन्धक वर्ग द्वारा किया जाता है, मांग तथा आपूर्ति की मंडीगत शक्तियों द्वारा नहीं। अत: इस कीमत-निर्धारण को किन्हीं सिद्धान्तों या उद्देश्यों के आधार पर उचित ठहराना आवश्यक होता है। यदि ये कीमतें विवेकपूर्ण न रखी जाएं, तो उद्यमों की कार्य-कुशलता सुनिश्चित किए बिना हानियां या अधिशेष पैदा होंगे। मिसाल के तौर पर, अगर लागतों पर ध्यान दिए बिना कीमतें ऊंची रख दी जाएं तो इससे उद्यम की अक्षमता छिपी रहने में सहायता मिलेगी या उसे क्षमताशील बनने की प्रेरणा न मिल सकेगी। इसी तरह अनुचित रूप से कम कीमत कुशल उद्यम के लिए सजा सरीखी भी हो सकती है, क्योंकि उस उद्यम में हानि इसलिए नहीं होगी कि वहां कार्यकुशलता की कमी है, बल्कि हानि इसलिए होगी कि उसके उत्पाद की कीमत बहुत कम रखी गई है।

कार्यकुशलता के अलावा, वस्तुओं की कीमत-निर्धारण का सम्बन्ध, लाभ कमाने के प्रयोजन के साथ है, ताकि पर्याप्त संसाधन निवेश के लिए सुलभ हो सकें। सरकारी उद्यमों में हानि होने से इसका बोझ सरकार के बजटीय संसाधनों पर पड़ता है। कराधान द्वारा यदि और धन एकत्र करने की संभावना होती, तो हानियों को पूरा करने का यह तरीका शायद उचित भी मान लिया जाता। लेकिन इसके लिए सम्भावना बहुत कम है। अत: अतिरिक्त सार्वजनिक निवेश इस बात पर निर्भर करेगा कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में आंतरिक संसाधन पैदा करने की कितनी अधिक क्षमता है। अभी तक तो इस दिशा में सार्वजनिक क्षेत्र की उपलब्धि सन्तोषप्रद नहीं रही है। योजनाओं के दौरान प्राप्त संसाधन आशा से बहुत कम रहे है। मिसाल के तौर पर, अनुमान यह था कि तीसरी और चौथी योजनाओं के संसाधनों में, रेलवे सहित, सार्वजनिकक्षेत्र के उद्यमों का योगदान क्रमश: 550 करोड़ और 2231 करोड़ रुपये रहेगा। लेकिन वास्तव में ये रकमें केवल 435 करोड़ रुपये और 1135 करोड़ रुपये ही रहीं। सार्वजनिक उद्यमों की अधिशेष-सृजन क्षमता बढ़ाने की आवश्यकता कीमत-निर्धारण की समुचित नीति के प्रश्न को और भी महत्वपूर्ण बना देती है। यहां यह भी ध्यान रहे कि सार्वजनिक उद्यमों द्वारा उत्पादित अनेक वस्तुएं कई और उद्योगों में उत्पादन-साधन के रूप में इस्तेमाल की जाती हैं। अत: इनकी कीमतें उनके लागत-स्तर को प्रभावित करती हैं। इस दृष्टि से भी कीमतों का समुचित निर्धारण आवश्यक है।

नोट

'लोक-उपयोगिता-प्रधान विचारधारा बनाम 'प्रतिफल-दर'-प्रधान विचारधारा–कीमत-नीति के सम्बन्ध में दो परस्पर-विरोधी विचारधाराएं सामने आती हैं। इनमें से एक को लोक या जन-उपयोगिता-प्रधान विचारधारा कहा जाता है। इसके समर्थक सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को पारम्परिक अर्थ में लोक-उपयोगिता के तुल्य मानते हैं, जिसमें 'न लाभ-न हानि' की स्थिति होती है। बहुत समय से यह विचारधारा कीमत-निर्धारण नीति पर जोरदार प्रभाव डालती रही है। इस विचारधारा को इस तर्क ने और बल प्रदान किया है कि सार्वजनिक क्षेत्र के अधिकतर उद्यम आधारभूत उद्योगों की परिधि में आते हैं। अत: अगर इनके उत्पादनों की कीमतें बहुत ऊंची रखी गयीं, तो इससे अर्थव्यवस्था के अनेक अंगों मे लागतें बढ़ जाएंगी। निजी क्षेत्र भी सरकार पर दबाव डालता रहा है कि आधारमूलक उद्योगों की वस्तुओं की कीमतें नीची निर्धारित की जाएं, ताकि उसे सस्ता कच्चा माल सुलभ हो सके। अत: कीमतें जितनी ऊंची हो सकती थीं, उससे कम निर्धारित की जाती रहीं।

दूसरी विचारधारा को 'प्रतिफल दर-प्रधान विचारधारा' कहा जाता है। इसमें निवेशित पूंजी से समुचित प्रतिफल प्राप्त करने पर बल दिया जाता है। इसके अनुसार प्रतिफल केवल इतना ही नहीं होना चाहिए कि उससे मूल्यह्रास और ब्याज-प्रभार की ही भरपाई हो सके, बल्कि वह इतना हो कि अर्थव्यवस्था में पुन: निवेश के लिए भी कुछ बचा रह सके। इस विचारधारा के प्रयोग मे समरूपता तो दिखाई नहीं देती है, लेकिन कुछ उद्यमों में इसे अंगीकार कर लिया गया है। जैसे, पैट्रोलियम उत्पादों के सम्बन्ध में तेल-मूल्य समिति (1974-76) ने प्रत्येक तेल शोधशाला के लिए कीमत की संगणना करते समय कुल निवेशित पूंजी पर 15 प्रतिशत के बराबर सकल प्रतिफल को आधार बनाया। इसी प्रकार उर्वरकों के बारे में मराठे समिति ने कर चुकाने के बाद 12 प्रतिशत का प्रावधान किया। विभिन्न योजनाओं में राजकीय बिजली बोर्डों के लिए 9-10 प्रतिशत प्रतिफल की व्यवस्था रही है। फिर भी कीमत-निर्धारण की सरकारी नीतियों का यह आधार नहीं बन सका।

सहायिकी और हानियां–उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं में से जन-उपयोगिताप्रधान विचारधारा इतनी शक्तिशाली रही कि उसने सार्वजनिक क्षेत्र के उत्पादनों की कीमतों में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं होने दी। इस तरह के मूल्य-निर्धारण से वही परिणाम सामने आये जो अपेक्षित थे। उपभोक्ताओं, विशेषकर कमजोर वर्गों और प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों को आर्थिक सहायता या सहायिकी (subsidy) प्रदान की गई है। यहां एक तर्कसंगत कार्य यह हो सकता था कि जो उपभोक्ता कमजोर नहीं थे अथवा जो गैर-प्राथमिकता वाले क्षेत्र थे, उनसे अधिक दाम वसूल किए जाते। लेकिन ऐसा किया नहीं गया। इसके विपरीत, यह बोझ बजट और दीर्घावधिक वित्तीय संस्थाओं और बैंकों पर पड़ा। इस प्रक्रिया में सार्वजनिक उद्यमों में हुए निवेश पर प्रतिफल की दर कम और यहां तक कि ऋणात्मक हो गयी। इन हानियों के परिणामस्वरूप ये उद्यम अपने विकास-विस्तार के लिए अपनी ओर से कोई व्यवस्था करने में असमर्थ हो गये। एक बात और भी है। सार्वजनिक उद्यमों में लगातार हानियां होने या उनकी उपलब्धि लगातार कम रहने से प्रबन्धकों और मजदूरों, दोनों के ही मनोबल पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। सार्वजनिक उद्यमों के उत्पादों की कीमतें कम रखने का एक बुरा असर यह भी हुआ है कि ये वस्तुएं 'काले बाजार' अर्थव्यवस्था की ओर बढ़ निकलती हैं जहां इनसे भारी निजी लाभ कमाए जाते हैं। ऐसी स्थिति में उपभोक्ता को कुछ लाभ नहीं मिल पाता और इधर और सार्वजनिक उद्यमों को भी हानि ही होती है।

कीमत-वृद्धि का औचित्य–कीमत-नीति के लिए पथ-प्रदर्शन के रूप में तीन मुख्य बातें उभर कर सामने आती हैं।

नोट

एक तो यह कि इस शर्त के अधीन रहते हुए कि कुछ वस्तुओं के बारे में कुछ विशिष्ट उपभोक्ताओं या प्रयोगों को विशेष छूट या सुविधा दी जा सकती है, कुल मिलाकर कीमतों में वृद्धि की जानी चाहिए। समग्र रूप से यह मूल्य-वृद्धि अनेक कारणों से उचित है। एक तो यह कि सार्वजनिक निवेश के लिए तत्काल संसाधन व अधिशेष बढ़ाना बहुत जरूरी है। इन उद्यमों में पहले ही बड़ी-बड़ी रकमें लगी हैं। अतः इनमें और अधिक निवेश करने के लिए या इनके विस्तार के लिए तथा नये उद्यमों की स्थापना के लिए भी यह आवश्यक है कि इन निवेशों के लिए पर्याप्त संसाधन जुटाये जाएं। दूसरे, ये परियोजनाएं बहुत अधिक पूंजी-प्रधान तो हैं ही, इनकी लागतें भी बहुत ऊंची होती है जिन्हें एक अवधि के भीतर वसूल किया जाना होता है। तीसरी बात यह है कि इन उद्योगों की निविष्टियों में, या फिर अर्थव्यवस्था की किसी अन्य सम्बन्धित क्षेत्र में मूल्य-वृद्धि हो सकती है। इस स्थिति में भी इन उद्योगों के उत्पादनों की कीमतों में वृद्धि आवश्यक ठहर सकती है।

लागत कम करने के उपाय–सार्वजनिक उद्यमों के उत्पादों की मूल्य-वृद्धि को उचित ठहराते हुए भी इस तथ्य को नहीं भुलाया जा सकता कि इन उद्यमों में लागतघटाने और कार्यकुशलता सुधारने के प्रयत्न भी बहुत आवश्यक हैं। वास्तव में इसके बिना तो मूल्य-वृद्धि को उचित माना ही नहीं जा सकता। अगर ये प्रयत्न किये बिना कीमतें बढ़ायी जाती हैं, तो इसका अर्थ होगा अक्षमता को सहारा देना। लागतें कम करने के लिए अनेक कदम उठाए जा सकते हैं। इनमें से सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि इन उद्यमों की क्षमता का भरपूर उपयोग किया जाए। इन उद्योगों में अनेक बुराइयां रही हैं–जैसे माल की अकुशल व्यवस्था, क्रय-विक्रय के लिए उचित व्यवस्था का अभाव, आदि। बेहतर प्रबन्ध और संगठनात्मक संयोजनों द्वारा ये बुराइयां दूर की जा सकती हैं। हानियों का एक कारण यह भी रहा है कि परियोजनाएं ठीक तरह से नहीं बनायी गयीं, जिनके कारण निर्माण-काल के दौरान उनके आकार और स्वरूप में समय-समय पर परिवर्तन आवश्यक होते गए। अतः श्रेष्ठतर ढंग से परियोजनाएं बनाकर वर्तमान परियोजनाओं का विस्तार करते समय या नयी परियोजनाएं स्थापित करते समय इस बुराई से बचा जा सकता है।

कीमत-निर्धारण का आधार–परियोजनाओं की कुशलता के साथ तैयारी, निर्माण और संचालन की आवश्यक होते गए। अतः श्रेष्ठतर ढंग से परियोजनाएं बनाकर वर्तमान परियोजनाओं का विस्तार करते समय या नयी परियोजनाएं स्थापित करते समय इस बुराई से बचा जा सकता है।

कीमत-निर्धारण का आधार–परियोजनाओ की कुशलता के साथ तैयारी, निर्माण और संचालन की समुचित व्यवस्था के साथ-साथ कीमत-निर्धारण को लागत से जोड़ना आवश्यक है। इसका यह आशय नहीं है कि प्रत्येक स्थिति में बिक्री-मूल्य लागत के बराबर हो। उद्यमों के अन्य उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए ग्राहक से लिया गया मूल्य लागत पर निर्धारित मूल्य से भिन्न हो सकता है। जहां लाभेतर कारण प्रधान न हों (या उत्पाद का उद्देश्य किन्हीं सामाजिक हितों की रक्षा न हो) वहां कीमत लागत से ऊंची हो सकती है, उतनी ऊंची जितनी कि मांग के सन्दर्भ में सम्भव हो या जितनी उपभोक्ता या प्रयोक्ता बरदाश्त कर सकें। इस सम्बन्ध में मूल लक्ष्य तो यही है कि जहां तक हो अधिक-से-अधिक कीमत ली जाए, ताकि उद्यम मूल्यह्रास, ब्याज आदि की अपनी देनदारियां चुकाने के बाद पर्याप्त अधिशेष पैदा कर सकें। कुछ मामलों में 'न लाभ न हानि' को आधार बनाया जा सकता है। वैसे उपर्युक्त सिद्धान्त का पालन पूरी तरह किया जाना चाहिए, ताकि उद्यम अपने सभी दायित्वों का पूरी तरह निर्वाह कर सकें। उद्यम कुछ गिने-चुने मामलों में कीमतें

नोट

लागत से कम भी रख सकते हैं और इस तरह उन वस्तुओं के सम्बन्ध में सहायिकी या आर्थिक सहायता दे सकते हैं। लेकिन ऐसे मामलों में यह सुनिश्चित होना ही चाहिए कि लाभ किन्हें दिया जाना है और यह कि इस तरह उन उद्यमों को होने वाली हानि लाभान्वित होने वालों के लाभ से अधिक नहीं हो। इस तरह स्पष्ट है कि बिक्री-मूल्य के आधार उद्देश्यों के अनुरूप भिन्न हो सकते हैं। इस सन्दर्भ में सबसे प्रधान लक्ष्य यही रहना चाहिए कि सार्वजनिक क्षेत्र में हुए निवेशों से कुल मिलाकर शुद्ध प्रतिफल प्राप्त हो। यह बात देश के वर्तमान चरण में तो और भी महत्त्वपूर्ण है, जहां अधिक-से-अधिक सार्वजनिक निवेश द्रुत गति से विकास के लिए आवश्यक बन गया है।

सरकार की नीति

सार्वजनिक क्षेत्र की कमियों को दूर करने के लिए सरकार ने इधर कई उपाय किये हैं। इनमें निम्न उल्लेखनीय हैं।

निजीकरण–निजी क्षेत्र से जुड़ी प्रेरणाओं को काफी बड़ी सीमा तक समावेश करने का उपाय किया गया है। इसके लिए एक तो सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित 17 उद्योगों में से 9 निजी क्षेत्र के लिए खोल दिए गए हैं। इनमें लोहा व इस्पात, वायु-परिवहन, नौवहन निर्माण, बिजली आदि जैसे महत्त्वपूर्ण उद्योग शामिल हैं। दूसरे, कुछ उद्योगों के सम्बन्ध में पूंजी के एक भाग के विनिवेश (disinvestment) के द्वारा सरकार ने निजी क्षेत्र को सह-स्वामी या भागीदार बनाना निश्चय किया है। तीसरे, कुछ विशेष प्रकार के उद्योगों को जिनके सम्बन्ध में निजी क्षेत्र के पास सुविज्ञता और संसाधन आदि हैं, उन्हें निजी क्षेत्र के लिए छोड़ने का निर्णय सरकार ने लिया है। सार्वजनिक क्षेत्र के सम्बन्ध में कम-अधिक सीमा तक निजी क्षेत्र का सहयोग लेने की नीति को अनेक विकसित और विकासशील देशों ने अपनाया है। इस नीति के पीछे इस प्रकार के अनेक उद्देश्य रहे हैं जैसे कि अर्थव्यवस्था के लिए पूँजी जुटाना, सहायिकी की लागत के बोझ को कम करना, सार्वजनिक उद्यम की अक्षमता को दूर करना आदि। फिर भी निजीकरण एक सीमा तक ही वांछनीय है। ध्यान रहे कि निजी-क्षेत्र की कमजोरियाँ और बुराइयाँ कम गम्भीर नहीं हैं जिसका आगे चलकर उल्लेख किया जायेगा। बाज़ार-उन्मुखता–निजीकरण के अलावा, सरकार ने यह सुनिश्चित करने के लिए भी उपाय किए हैं कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम अपने कार्य को बाजार-सिद्धान्तों के अनुसार चलाएं। दूसरे शब्दों में, उनका कार्य-संचालन बाजार-कीमतों और प्रतियोगिता के आधार पर हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, एक तो सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को एकाधिकार आयोग के अन्तर्गत ला दिया गया है। अभी तक ये एकाधिकारी एवं प्रतिरोधात्मक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम के दायरे के बाहर थे। दूसरे, निजी क्षेत्र की भांति, अब सरकार सार्वजनिक उद्यमों के मामले भी औद्योगिक तथा वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड को सौंपा करेगी।

कार्य-संचालन में सुधार–सार्वजनिक उद्यमों की कार्यप्रणाली में सुधार लाने के लिए भी सरकार प्रयास कर रही है। कुछ चुने हुए क्षेत्रों में प्रतियोगिता का समावेश करने के अलावा; सरकार ने साधनों की खरीद, माल की बिक्री, कीमत-निर्धारण आदि मामलों में इन उद्यमों को स्वायत्तता प्रदान की है। साथ ही इन पर इस बात के लिए जोर डाला जा रहा है। कि पूंजी-संसाधनों की प्राप्ति के लिए ये अपने ऊपर अधिक निर्भर करें। निस्सन्देह सार्वजनिक उद्यमों की कार्य-प्रणाली में सुधार लाना बहुत ही आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है।

3.8 आधारसंरचना और आर्थिक विकास

नोट

पिछले 200 वर्षों के दौरान, इंग्लैण्ड एवं अन्य देशों में औद्योगिक एवं कृषि क्रान्तियों के साथ परिवहन एवं संचार में क्रान्ति हुई। ऊर्जा (Energy) के स्रोत के रूप में पहले कोयले का प्रयोग और बाद में तेल और पानी के प्रयोग का भारी विस्तार हुआ। इसके अतिरिक्त, उत्पादन एवं व्यापार के लिए वित्त जुटाने की दृष्टि से बैंकिंग, बीमा और अन्य वित्तीय संस्थानों का विस्तार किया गया।

आधार संरचना सुविधाओं को प्राय: आर्थिक एवं सामाजिक उपरिव्यय (Economic and Social Overheads) भी कहते हैं। इनमें सम्मिलित हैं–

(i) ऊर्जा, कोयला, बिजली, तेल और अन्य अपारम्परिक स्रोत;

(ii) परिवहन, रेलवे, सड़कें, जहाजरानी और नागरिक परिवहन;

(iii) संचार, डाक एवं तार, टेलीफोन, टेली संचार (Telecommunications) आदि;

(iv) बैंकिंग, वित्त एवं बीमा;

(v) विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी; और

(vi) सामाजिक उपरिव्यय : स्वास्थ्य, सफाई एवं शिक्षण।

स्वतन्त्रता के पश्चात् आधार संरचना का विकास

भारतीय आयोजक, आधारसंरचना और सामान्य आर्थिक विकास के बीच सम्बन्ध के बारे में पूरी तरह जागरूक थे और इसी कारण पहली योजना के आरम्भ से ही इन सुविधाओं के विकास पर बल दिया गया। सामान्यत: योजनाओं में कुल योजना परिव्यय का 50 प्रतिशत से भी कुछ अधिक आधारसंरचना विकास पर खर्च किया गया। आधारसंरचना पर भारी विनियोग के परिणामस्वरूप, आधारसंरचना सुविधाओं का भारी विकास हुआ। उदाहरणार्थ, 1950.51 और 2005.06 के बीच कोयले का उत्पादन 320 लाख टन से बढ़कर 4,130 लाख टन हो गया। इसी अवधि के दौरान, पावर-जनन क्षमता 5 अरब किलोवाट घण्टे से बढ़कर 623 अरब किलोवाटघण्टे हो गयी और पेट्रोलियम का उत्पादन 4 लाख टन से बढ़कर 320 लाख टन हो गया। इसी प्रकार, अन्य आधारसंरचना सुविधाओं में भारी विस्तार हुआ। हमें आधार संरचना विकास के तीन मूल लक्षणों को दृष्टि में रखना होगा।

ऊर्जा

किसी देश के आर्थिक विकास पर सीमाबन्धन लगाने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण एकमात्र कारण ऊर्जा की उपलब्धि है। आर्थिक विकास के स्तर, प्रति व्यक्ति आय के आकार और ऊर्जा के प्रति व्यक्ति उपभोग में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। भारत चाहे जनसंख्या की दृष्टि से दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा देश है, परन्तु इसकी प्रति व्यक्ति आय निम्न है और इसमें प्रति व्यक्ति ऊर्जा उपभोग भी बहुत नीचा है परन्तु भारत में धीरे-धीरे ऊर्जा उपभोग में वृद्धि हो रही है, चाहे अभी भी यह विकसित देशों की तुलना में कहीं कम है।

ऊर्जा के स्रोत

मोटे तौर पर ऊर्जा के दो स्रोत हैं: वाणिज्यिक ऊर्जा (Commercial Energy) और गैर-वाणिज्यिक ऊर्जा। वाणिज्यिक ऊर्जा अर्थात् ऊर्जा के व्यापारिक स्रोत हैं: कोयला, पेट्रोलियम और बिजली। ये स्रोत इसलिए वाणिज्यिक माने जाते हैं क्योंकि इनके प्रयोगकर्ताओं को इनके लिए कीमत देनी पड़ती है।

भारत में कुल ऊर्जा उपभोग में वाणिज्यिक ऊर्जा का भाग 50 प्रतिशत से अधिक है। गैर-वाणिज्यिक स्रोतों में जलाने की लकड़ी, बची-खुची वनस्पति और सुखाया हुआ गोबर शामिल हैं। इन स्रोतों को गैर-वाणिज्यिक कहा जाता है क्योंकि ये निःशुल्क प्राप्त होते हैं और इनके लिए कोई कीमत अदा नहीं करनी पड़ती। वास्तव में, शहरी क्षेत्रों में जलाने की लकड़ी और सुखाये गए गोबर के लिए भी कीमत अदा करनी पड़ती है। जबकि वाणिज्यिक स्रोत सामान्यतः क्षयशील (Exhaustible) होते हैं, इनमें जल-विद्युत शक्ति एक अपवाद है, गैर-वाणिज्यिक स्रोत नवीकरणीय (Renewable) होते हैं।

नोट

भारत में वाणिज्य ऊर्जा के स्रोत

वाणिज्यिक ऊर्जा के तीन मुख्य स्रोत हैं: (क) कोयला, (ख) तेल एवं गैस और बिजली। जहां तक बिजली का सम्बन्ध हैं, इसमें जल-विद्युत शक्ति और तापीय शक्ति (Thermal power)।

कोयला और लिग्नाइट (Lignite)–भारत में कोयले के कुल अनुमानित भण्डार 14ए879 करोड़ टन आंके गए हैं, परन्तु इनमें खनन-योग्य भण्डार लगभग, 6ए000 करोड़ टन हैं। तमिलनाडु के नेवेली के भण्डार लगभग 330 करोड़ टन है जिनमें से 190 करोड़ टन प्रमाणित वर्ग में हैं। देश में कोयले का कुल वार्षिक उत्पादन 2005.06 में 43.7 करोड़ टन था। वर्तमान प्रक्षेपण के आधार पर भावी मांग को दृष्टि में रखकर यह अनुमान लगाया गया है ये भण्डार लगभग 130 वर्षों के लिए काफी हैं।

तेल और गैस–अद्यतन उपलब्ध अनुमान के आधार पर कोयले के शुद्ध भण्डार 55 करोड़ टन और गैस के कुल भण्डार 500 अरबघन मीटर आंके गए हैं। सन् 2005.06 में रूक्ष तेल का उत्पादन 320 लाख टन था। उपभोग की वर्तमान दर पर तेल के भण्डार केवल 20 से 25 वर्षों के लिए उपलब्ध होंगे।

विद्युत शक्ति–जल-विद्युत स्रोतों से कुल वार्षिक ऊर्जा का सरकारी अनुमान लगभग 90,000 मेगावाट है। इसमें से 18,000 मेगावाट का विकास किया जा चुका है। इसका अर्थ यह हुआ कि कुल संभाव्य क्षमता के केवल 20 प्रतिशत का विकास हुआ है और 80 प्रतिशत शेष है, इसके अतिरिक्त जल-विद्युत संयंत्रों को तापीय एवं न्यैष्टिक प्लान्टों के ऊपर बहुत से लाभ प्राप्त हैं।

सार्वजनिक उपयोगिता पावर प्लान्ट (Public Utility Power Plants) अर्थात् सार्वजनिक क्षेत्र की पावर इकाइयों द्वारा सन् 2005.06 में 623 अरब किलोवाटघण्टे बिजली पैदा की गयी जिसमें जल-विद्युत पावर का भाग 84 अरब किलोवाटघण्टे और तापीय पावर (Thermal Power) का भाग 503 अरब किलोवाटघण्टे था। आज कुल पावर-जनन (Power generation) में जल-विद्युत का योगदान 14 प्रतिशत, तापीय पावर का 83 प्रतिशत और न्यैष्टिक पावर 3 प्रतिशत है। सार्वजनिक पावर इकाइयों के अतिरिक्त, गैर-सरकारी क्षेत्र की पावर इकाइयाँ भी है जिन्हें बद्ध-पावर-प्लान्ट (Captive power plant) कहते हैं, या जिन्हें गैर-उपयोगिताएँ (Non-utilities) भी कहा जाता है, इनके द्वारा 2005.06 में 74 अरब किलोवाटघण्टे बिजली का योगदान दिया गया।

देश के यूरेनियम (Uranium) के भण्डार लगभग 70,000 टन आंके गए हैं जो 120 अरब टन कोयले के बराबर हैं। भारत के थोरियम (Thorium) भण्डार 3,60,000 टन आंके गए हैं और ये जब प्रजनक रिएक्टरों (Breeder Reactor) में इस्तेमाल किए जाएंगे, तो 600 अरब टन कोयले के बराबर होंगे। यह कोयले के कुल भण्डार का लगभग 5 गुना है। अतः न्यैष्टिक ऊर्जा (Nuclear Energy) की दीर्घकालीन क्षमता थोरियम पर निर्भर करेगी जो कि देश के लिए लम्बे समय तक

एकमात्र महत्त्वपूर्ण स्रोत है। किन्तु न्यैष्टिक ऊर्जा द्वारा विद्युत-जनन के प्रति काफी लोकप्रिय विरोध हो रहा है और इसका मुख्य कारण रूस और यू.एस.ए. में अणु पावर प्लान्टों की विफलता है। इस सम्बन्ध में कल्पाकम न्यैष्टिक ऊर्जा प्लान्ट का हाल ही में आए सुनामी से बचाव को ध्यान में रखना होगा।

नोट

भारत में ऊर्जा के गैर-वाणिज्यिक स्रोत

(i) **ईंधन-लकड़ी**–ईंधन के रूप में लकड़ी का प्रयोग हमारे ग्रामों और कस्बों में विस्तृत रूप में किया जाता है। ईंधन-लकड़ी समिति (Fuelwood Committee) 1982 के अनुसार देश में ईंधन के लिए 5 करोड़ टन लकड़ी प्रति वर्ष प्राप्त होती है जोकि गरीब लोगों की खाना पकाने की आवश्यकताओं के केवल आधे भाग की पूर्ति करती है। यदि वर्तमान मांग और पूर्ति परिस्थितियां बनी रहती हैं, तो देश में लकड़ी रूपी ईंधन का अकाल पड़ जाएगा। वैज्ञानिकों का मत है कि निकट भविष्य में लकड़ी की उपलब्धि खाद्यान्नों की उपलब्धि की अपेक्षा अधिक सीमाबन्धन बन सकती है।

(ii) **वनस्पति अपशिष्ट पदार्थ** (Vegetable Waste)–कृषि से प्राप्त अपशिष्ट पदार्थ जैसे घास-फूस का प्रयोग पशुओं के चारे औरछतों के निर्माण और खाद के उत्पादन और खाना पकाने के लिए ईंधन के रूप में किया जाता है। वनस्पति अपशिष्ट पदार्थों के बारे में कोई विश्वसनीय अनुमान उपलब्ध नहीं है, परन्तु ईंधन के रूप में कृषि अपशिष्ट पदार्थों का उपभोग 1975.76 में 410 लाख टन आंका गया। अब यह लगभग 650 लाख टन होगा।

(iii) **पशु गोबर** (Animal Dung)–पशुओं का सुखाया गया गोबर ग्राम क्षेत्रों में (और नगरों में भी) ईंधन के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। पशु गोबर के लिए 32.4 करोड़ टन के अनुमानित उत्पादन में से लगभग 7.3 करोड़ टन ईंधन के रूप में जलाकर प्रति वर्ष इस्तेमाल किया जाता है। यदि पशु गोबर को उर्वरक बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाए, तो इससे देश के खाद्य-उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हो सकती है।

भारत में ऊर्जा के गैर-पारम्परिक स्रोत

ऊर्जा के गैर-पारम्परिक स्रोतों में तीन मुख्य स्रोत हैं: सौर ऊर्जा (Solar Energy), पवन ऊर्जा (Wind Energy) और ज्वार-ऊर्जा (Tidal Energy)। भारत जैसे देश में सौर ऊर्जा असीमित रूप में उपलब्ध है। इसी प्रकार, पवन ऊर्जा प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, विशेषकर तटीय क्षेत्रों और पहाड़ी इलाकों में, परन्तु सौर ऊर्जा और पवन ऊर्जा दोनों का प्रयोग अधिक नहीं हो रहा क्योंकि इनके सम्बन्ध में लागत-प्रभावी टेक्नोलॉजी (Cost-effective Technology) का अभाव है। किन्तु ऊर्जा के पारम्परिक स्रोतों में भारी कमी अनुभव होने के साथ-साथ, बहुत से देश ऊर्जा के अपारम्परिक स्रोतों की खोज की संभावनाएं तलाश रहे हैं। इस प्रकार आने वाले वर्षों में इनका महत्त्व बढ़ सकता है।

भारत में ऊर्जा संकट

सत्तर और अस्सी के दशकों में ऊर्जा संकट मूलत: तेल संकट था। यह केवल राष्ट्रीय मुद्दा नहीं था बल्कि वैश्विक समस्या थी। भारत के संदर्भ में ऊर्जा संकट के कुछ विशेष लक्षण हैं।

(क) भारत की ऊर्जा समस्या केवल तेल की मांग एवं पूर्ति की समस्या ही नहीं। वास्तव में, प्रत्येक वाणिज्यिक ईंधन में मांग एवं पूर्ति असंतुलन बढ़ता जा रहा है। इसका मुख्य कारण

यह है कि आर्थिक विकास की गति बढ़ने से वाणिज्यिक ऊर्जा की मांग लगातार बढ़ती जा रही है।

इसके विरुद्ध सभी वाणिज्यिक ईंधनों की पूर्ति में भी वृद्धि हो रही है परन्तु यह पर्याप्त नहीं। तेल और प्राकृतिक गैस आयोग (Oil and Natural Gas Commission—ONGC) और आयल इंडिया लिमिटेड लगातार रूक्ष तेल की खोज में तीव्र रूप में कार्य कर रहे हैं परन्तु पेट्रोलियम एवं तेल उत्पादों का उपभोग देशीय उत्पादन और परिष्करण क्षमता (Refining Capacity) से कहीं अधिक मात्रा में बढ़ रहा है। इस कारण देश को मजबूर होकर आयात पर निर्भर होना पड़ रहा है। इस सम्बन्ध में सबसे गंभीर कठिनाई यह है कि खनिज तेलों के ज्ञात भण्डार विश्व के कुल तेल भण्डारों का केवल 0.3 प्रतिशत हैं। ज़ाहिर है कि तेल भारत के लिए वाणिज्यिक ईंधन का मुख्य स्रोत नहीं बन सकता।

(ख) इसके साथ-साथ, कोयला उद्योग जिससे यह आशा की जाती थी कि वह भारत में ऊर्जा के बढ़ते हुए संकट का सामना करने के लिए कोयले के उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि करेगी, पिछले कुछ वर्षों से बहुत बुरी अवस्था में है। इसके अतिरिक्त, कोयले के भण्डार गुणवत्ता (Quality) और मात्रा की दृष्टि से भी अपर्याप्त है।

(ग) बिजली की मांग एवं पूर्ति में अन्तर कम होने की अपेक्षा बढ़ रहा है। औद्योगिक और कृषि विकास के संदर्भ में पावर की मांग तेजी से बढ़ रही है। परन्तु पूर्ति की दृष्टि से इस पर बहुत से सीमाबन्धन हैं। इनके परिणामस्वरूप देश में पावर के जनन एवं वितरण में भारी अभाव और अड़चनें उत्पन्न हो गयी हैं। भारत में ऊर्जा संकट का एक और पहलू यह है कि पावर की पूर्ति अनियमित एवं अपर्याप्त है।

अत: भारत के आर्थिक विकास के संदर्भ में, ऊर्जा संकट ने तेल के अभाव, कोयले के अभाव और पावर के अभाव का रूप धारण कर लिया है। इन तीन प्रकार के अभावों का प्रभाव न केवल भुगतान-शेष और कीमतों में वृद्धि के रूप में व्यक्त होता है, बल्कि यह तीन अन्य प्रकार से भी व्यक्त होता है।

(i) तेल की कमी से परिवहन क्षेत्र पर दुष्प्रभाव पड़ता है जिसमें भारत के कुल तेल उपभोग के 56 प्रतिशत की खपत होती है।

(ii) कोयले के अभाव से बिजली-जनन पर दुष्प्रभाव पड़ता है जिससे सामान्य आर्थिक विकास में रुकावट पैदा होती है।

(iii) पावर का अभाव औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन पर दुष्प्रभाव डालता है।

ग्रामीण भारत में ऊर्जा संकट-देश के ग्रामों में रहने वाले करोड़ों गरीब व्यक्तियों पर ईंधन के संकट का प्रभाव पड़ता है क्योंकि उन्हें ईंधन के लिए लकड़ी एकत्र करने में प्रतिवर्ष 100 मानव-दिन श्रम लगाना पड़ता है। गरीब वर्गों द्वारा बिना पकाए गए कच्चे चावल खाने की बहुत सी दु:खद रिपोर्टें प्राप्त हुई हैं। गरीब वर्गों के लिए, ग्रामों में ईंधन का अभाव गम्भीर ऊर्जा संकट के विद्यमान होने का संकेत है।

भारत में ऊर्जा समस्या के समाधान के उपाय

(i) **तेल के उत्पादन को बढ़ावा देना**—जबकि 1973 में रूक्ष तेल की कीमत 2.09 डालर प्रति बैरल से बढ़ा कर 1980 में 27.30 डालर प्रति बैरल की गयी, तब यह फौरी ज़रूरत

थी कि तेल के उपभोग में वृद्धि पर रोक लगायी जाए, ताकि पेट्रोल एवं इससे सम्बन्धित पी.ओ.एल पदार्थों के आयात को उचित सीमाओं के बीच रखा जा सके और तेल के देशीय उत्पादन और परिष्करण क्षमता को बढ़ाया जाए। ओ.एन.जी.सी और ओ.आई.एल द्वारा देशभर में इसकी खोज के प्रयासों को त्वरित किया गया। तेल का उत्पादन 1973.74 में 70 लाख टन था जो बढ़कर 1995.96 में 350 लाख टन हो गया, इसके बाद इसमें गिरावट आयी और पिछले चार वर्षों में यह 320 लाख टन के इर्दगिर्द स्थिर हो गया है।

नोट

(ii) **पेट्रोलियम एवं स्नेहकों** (Lubricants) **के उपभोग पर नियंत्रण**–सरकार द्वारा पेट्रोलियम एवं स्नेहकों के उपभोग को नियंत्रित करने के उपाय पूरी तरह सफल नहीं हुए। 1973 में, पेट्रोलियम उत्पादों का उपभोग लगभग 240 लाख टन था और यह कुछ समय तक पेट्रोलियम की कीमतों में तीव्र वृद्धि और सरकार द्वारा लगाए गए प्रतिबन्धों के परिणामस्वरूप इसी स्तर पर स्थिर रहा परन्तु बाद में पेट्रोलियम के उपभोग में वृद्धि हुई और यह 1979.80 तक 300 लाख टन हो गया और फिर और बढ़कर 1995.96 में 750 लाख टन और 2005.06 में और बढ़कर 1,200 लाख टन हो गया। इसके परिणामस्वरूप, सरकार को मजबूर होकर पेट्रोलियम उत्पादों के आयात में वृद्धि करनी पड़ी और सन् 2005.06 में यह बढ़कर अपने रिकार्ड-स्तर पर 1,94,640 करोड़ रुपये हो गया। इसके परिणामस्वरूप तेल के आयात के विरुद्ध विदेशी मुद्रा का उत्प्रवाह (Outflow) हुआ और एक समय ऐसा आ गया जब देश में विदेशी मुद्रा का संकट पैदा हो गया। अत: स्वाभाविक है कि तेल-उत्पादों के बढ़ते हुए उपभोग को प्रबन्धकीय सीमाओं में, रखा जाए। इसके लिए तेल का प्रतिस्थापन कोयले से और रेलवे उत्कर्षण (Railway traction) का बिजलीकरण और डीज़ल पम्पसैटों का प्रतिस्थापन बिजली के पम्पसैटों से करना होगा।

(iii) **तेल का कोयले से प्रतिस्थापन**–ईंधन नीति समिति (Fuel Policy Committee) ने कई उद्योगों में भट्टी के तेल (Furnace oil) का कोयले से प्रतिस्थापन करने का सुझाव दिया। इस प्रकार यह अनुमान लगाया गया कि जो उद्योग (जिनमें पाउवर-हाऊस भी शामिल हैं) अपने प्लान्टों में थोड़े फेर-बदल के पश्चात तुरन्त कोयले का प्रयोग कर सकते हैं, के लिए प्रतिवर्ष 100 लाख टन कोयले की आवश्यकता होगी और इससे 40 लाख टन भट्टी के तेल की बचत होगी। परन्तु यदि कोयल की मांग में 7 प्रतिशत की दर से वृद्धि होती है, तो इसके परिणामस्वरूप, वर्तमान कोयले के भण्डार 2035.40 तक समाप्त हो जाएँगे। अत: कोयला ऊर्जा संकट के समाधान का वास्तविक उत्तर नहीं है।

(iv) **विद्युत शक्ति का विस्तार**–चूंकि बिजली का प्रयोग विभिन्न कार्यों के लिए बढ़ रहा है और इसका लम्बी दूरी तक परिवहन संभव है, इस कारण तेल-संकट के समाधान के लिए बिजली के स्रोत का महत्त्व बढ़ रहा है। चूंकि जल-विद्युत ऊर्जा का एक नवीकरणीय स्रोत (Renewable source) है, इसलिए पावर के विस्तार को अधिकतम करना होगा और यही एक आदर्श समाधान है। देश की कुल जनन-क्षमता में जल-विद्युत का भाग जो 1984.85 में 34 प्रतिशत था कम होकर 2005.06 में 14 प्रतिशत हो गया।

जल-विद्युत के बहुत से लाभ होने के बावजूद भारत सरकार तापीय पावर (Thermal power) के विस्तार को बढ़ाती जा रही है जो कि देश के पावर का प्रधान स्रोत (80 प्रतिशत) है। तापीय शक्ति अधिक महंगी है क्योंकि यह कोयले और तेल का प्रयोग

करती है जो गैर-नवीकरणीय आदान (Non-renewable inputs) हैं। आठवीं योजना (1992-97) के दौरान, बिजली की स्थापित क्षमता में 16ए400 मेगावाट की वृद्धि हुई थी जबकि इसका लक्ष्य 30,540 मेगावाट था अर्थात् लक्ष्य से 46 प्रतिशत कम। दसवीं योजना (2002-07) के दौरान, मई 2007 के अन्त तक अतिरिक्त बिजली उत्पादन का लक्ष्य 41,110 मेगावाट रखा गया, परन्तु प्रत्याशित उत्पादन केवल 23,250 मेगावाट था अर्थात् 17,860 मेगावाट की कमी लगभग 40 प्रतिशत। वास्तव में, सभी पंचवर्षीय योजनाओं में बिजली के उत्पादन में कमी बदस्तूर बनी रही है। इसका मुख्य कारण अपर्याप्त धनराशि की उपलब्धि, कार्य विधि में विलम्ब से भूमि प्राप्त करने सम्बन्धी बाधाएं और ठेकेदारी व्यवस्था की असफलता थी। इसके अतिरिक्त, संचारण हानि (Transmission losses) 20 से 22 प्रतिशत थी जबकि विश्व औसत 9 प्रतिशत थी।

भारत सरकार के पावर मंत्रालय ने, पावर उत्पादन बढ़ाने के लिए कई उपाय किए हैं जिनमें उल्लेखनीय हैं–

(i) एन.टी.पी.सी. और कुछ राज्य बिजली बोर्ड 660 से 800 मेगावाट के उच्च तकनालाजी के पावर के प्लान्टों को आरम्भ कर रहे हैं।

(ii) सरकार जल एवं वायु-ऊर्जा के प्रयोग को प्रोत्साहित कर रही है जो ईंधन के रूप में कोयला पर निर्भर नहीं होंगे और जिन के कारण प्रदूषण भी नहीं होगा। सरकार ने ऐसे 39 जल–पावर प्रोजैक्टों की पहचान कर ली है जिनकी क्षमता 1,07,000 मेगावाट होगी।

(iii) पावर मंत्रालय ने 9 कोयला-आधारित पावर प्रोजैक्ट जिनकी क्षमता 4,000 मेगावाट होगी स्थापित करने का कार्य आरंभ कर दिया है। अन्य उपायों में शामिल हैं–

(क) 11वीं योजना के दौरान 60,000 मेगावाट की वृद्धि की व्यवस्था की गयी है ताकि हम 8.9 प्रतिशत की विकास–दर प्रतिवर्ष प्राप्त करने के लिए सुविधाजनक स्थिति कायम कर सकें।

(ख) कोयले और प्राकृतिक गैस ईंधनों की उपलब्धि के लिए नये प्लान्ट लगाने और दीर्घकालीन वित्त का प्रबन्ध करने के लिए कार्यक्रम तय किया गया है।

प्रगति करने के बावजूद, पावर की कमी और इसकी पहुंच का अभाव आर्थिक विकास पर एक मुख्य सीमाबन्धन हैं।

(iv) **ऊर्जा का बचाव या रक्षण** (Conservation of Energy)–भारत में वाणिज्यिक ऊर्जा (Commercial Energy) अर्थात् कोयला, पेट्रोलियम एवं बिजली की मांग गैर–वाणिज्यिक ऊर्जा की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ रही है। आज परिस्थिति यह है कि कोयले की मांग प्रतिवर्ष लगभग 4 से 5 प्रतिशत बढ़ रही है, पेट्रोलियम उत्पादों की 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष और बिजली की मांग 9 से 10 प्रतिशत की दर से बढ़ रही है। इसको देखते हुए भारत सरकार ने पेट्रोलियम उत्पादों के बचाव के लिए कई उपाय किए हैं। इनमें शामिल हैं–

(क) ऐसे उपायों का प्रयोग करना जिनसे ईंधन–कुशलता (Fuel efficiency) बढ़े और इसके लिए परिवहन क्षेत्र में प्रशिक्षण प्रोग्राम चलाए गए हैं।

(ख) औद्योगिक क्षेत्र में पुरानी और अकुशल मशीनरी का नयी एवं ईंधन–कुशल मशीनरी से प्रतिस्थापन।

(x) ईंधन कुशल सिंचाई पम्पसैटों का प्रमाणीकरण (Standardisation) और कृषि क्षेत्र में वर्तमान पम्प सैटों में सुधार करके उन्हें ईंधन-कुशल बनाना।

(घ) परिवार क्षेत्र में मिट्टी के तेल और एल.पी.जी. स्टोवों को अधिक ईंधन कुशल बनाना।

नोट

(v) **नवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों को बढ़ावा देना**—ऊर्जा के पारम्परिक स्रोतों से ही भारत के ऊर्जा-संकट का समाधान संभव नहीं। इस कारण अपारम्परिक और नवीकरणीय (Renewable) स्रोतों को बढ़ावा देना आवश्यक है। सौभाग्यवश भारत में अपारम्परिक स्रोत अर्थात् जैव-ऊर्जा (Biogas), सौर-ऊर्जा (Solar- power), जल विद्युत शक्ति, पवन ऊर्जा आदि की भारी क्षमता विद्यमान है। इसके लिए सरकार ने बहुत से उपाय किए हैं। जैव-ऊर्जा जनन प्रोग्राम के आधीन सरकार ने 27 लाख जैव-ऊर्जा पलान्ट स्थापित किए हैं और इनसे लगभग 60 लाख टन ईंधन लकड़ी के समान जनन-क्षमता कायम की गयी है और 6 लाख टन खाद भी तैयार की जाएगी। उन्नत चूल्हा राष्ट्रीय प्रोग्राम के अधीन 200 लाख धूआं-रहित चूल्हे कायम किए गए जबकि देश में 1,200 लाख चूल्हों की क्षमता उपलब्ध है।

भारत में चीनी के कारखानों में उपलब्ध राव (Bagasse) का प्रयोग बिजली पैदा करने के लिए किया गया है। देश में 420 चीनी के कारखानों से 3,500 मेगावाट पावर उत्पन्न की जा सकती है। सरकार इसके प्रयोग के लिए प्रोत्साहन दे रही है।

एक स्रोत जिस का विकास करना होगा और सौर-ऊर्जा (Solar Energy) है। भारत जैसे उष्ण-कटिबन्धीय (Tropical country) में सौर-ऊर्जा, सौर-भट्टियों और सौर-पावर-प्रणालियों के प्रयोग को उच्च प्राथमिकता देनी होगी, इससे विशेषकर ग्रामों की ऊर्जा-आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है। इसमें काफी प्रगति हो चुकी है। उदाहरणार्थ, 2 लाख सौर-कुकर बेचे जा चुके हैं और ग्रामों में 10,000 गलियों में रोशनी व्यवस्था इसी से की जा रही है।

पवन-ऊर्जा (Wind Energy) प्रदर्शन एवं विकास कार्यक्रम में भी तेज़ी से प्रगति की जा रही है। 1,000 मेगावाट के पावर-जनन की क्षमता कायम की जा चुकी है जिसमें से 70 प्रतिशत की स्थापना निजी क्षेत्र द्वारा की गयी है। यू. एस.ए. के बाद भारत पवन-ऊर्जा का सबसे अधिक प्रयोग करने वाला दूसरा देश है।

ऊर्जा निर्माण के लिए छोटी जल-विद्युत प्रणालियों (Micro-hydel systems) को बढ़ावा देने के प्रयास किए गए हैं। आठवीं योजना के अन्त तक छोटे जल विद्युत प्लान्टों द्वारा 250 मेगावाट क्षमता कायम की गयी। भारत सरकार ने छोटे जल-विद्युत प्लान्टों की स्थापना के लिए बहुत से उपाय किए हैं। ये प्रोजैक्ट जल-प्रपातों, नहरों, छोटी नदियों पर कायम करने के लिए 75 प्रतिशत लागत तक सहायता सरकार द्वारा दी जायगी। राज्य बिजली बोर्ड इस जल-विद्युत के क्रय का प्रबन्ध करेंगे।

ज्वार-पावर प्लान्टों की मुख्य समस्या यह है कि ये तभी मितव्ययी हो सकते हैं यदि स्थापित क्षमता बहुत अधिक हो। इसके अतिरिक्त इनमें भारी निवेश करना पड़ता है। फ्रांस ने ज्वार-पावर (Tidal power) के प्रयोग का सफल प्रदर्शन किया है। गुजरात की भावनगर बन्दरगाह के पास कैम्बे की खाड़ी और पश्चिम बंगाल में सुन्दरबन्स में ज्वार-पावर स्टेशन कायम करने की संभावना की जांच सरकार कर रही है।

नोट

भारतीय नवीकरणीय ऊर्जा विकास एजेन्सी (Indian Renewable Energy Development Agency) ने विश्व बैंक और वैश्विक पर्यावरण कोष (Global Environment Fund) के साथ इस क्षेत्र में सक्रिय भाग अदा किया है। इस एजेन्सी की स्थापना 1987 में एक सार्वजनिक उद्यम के रूप में की गयी। इसका उद्देश्य भारत में नयी एवं नवीकरणीय ऊर्जा तकनालाजियों का विकास और उनके लिए वित्त-प्रबन्ध करना है। मार्च 1996 तक इस एजेन्सी ने 730 नवीकरणीय ऊर्जा प्रोजैक्टों के लिए 1,100 करोड़ रुपये का वित्त जुटाया।

भारत सरकार ने प्रत्यक्ष विदेशी निवेश और सहयोगों (Collaborations) को प्रोत्साहित करने के लिए बहुत से उपाय किए हैं। विशेषकर अनिवासी भारतीय, पवन-फार्म (Wind farms) और सौर-प्लान्टों (Solar plants) सम्बन्धी बहुत से प्रोजैक्ट आंध्र प्रदेश, गुजरात, कर्नाटक, मध्य प्रदेश एवं केरल में स्थापित कर रहे हैं जिनकी कुल क्षमता 450 मेगावाट है।

पावर

विद्युत-शक्ति जोकि ऊर्जा का एक रूप है, आर्थिक विकास का अनिवार्य अंग है। इसकी आवश्यकता वाणिज्यिक एवं गैर-वाणिज्यिक उद्देश्यों के लिए पड़ती है। पावर के वाणिज्यिक प्रयोगों के लिए इसकी जरूरत उद्योगों, कृषि, परिवहन आदि में होती है। गैर-वाणिज्यिक प्रयोगों (Non-commercial uses) के लिए इसकी आवश्यकता पारिवारिक रोशनी, खाना पकाने, पारिवारिकघरेलू उपकरणों जैसे रेफ्रिजरेटरों, वातानुकूलकों आदि के लिए होती है।

भारत में जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के साथ और दैनिक जीवन में यांत्रिक साधनों के बढ़ते हुए प्रयोग के फलस्वरूप, बिजली के पारिवारिक प्रयोग में बहुत वृद्धि के साथ और दैनिक जीवन में यांत्रिक साधनों के बढ़ते हुए प्रयोग के फलस्वरूप, बिजली के पारिवारिक प्रयोग में बहुत वृद्धि हुई है।

बिजली के प्रयोग का एक प्रधान लक्षण यह है कि कृषि में इसका प्रयोग बढ़ता जा रहा है। ग्राम-विद्युतीकरण (Rural Electrification) प्रोग्रामों के कारण पावर की मांग सिंचाई और पम्पसैटों को शक्ति प्रदान करने के लिए प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और यह 4 प्रतिशत से बढ़कर 23 प्रतिशत हो गयी है। नये उद्योगों अर्थात् लौह एवं इस्पात, मशीनी औजारों, इंजीनियरिंग, उर्वरकों आदि की स्थापना और उपभोग वस्तु उद्योगों के विस्तार के परिणामस्वरूप भारत में बिजली की मांग लगातार बढ़ती जा रही है। परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि बिजली के उपभोग में उद्योगों का भाग 1970-71 में 68 प्रतिशत से कम होकर 2005-06 में 36 प्रतिशत हो गया। इसका कारण यह नहीं कि औद्योगीकरण की गति मन्द हो गयी है, न ही यह कि बहुत सी औद्योगिक इकाइयों के ऊर्जा के अन्य स्रोतों पर निर्भर करना शुरू कर दिया है, बल्कि बहुत से कारखानों ने अपने बद्ध-पावर प्लान्ट (Captive power plant) स्थापित कर लिए हैं और ऐसा बड़े पैमाने पर हो रहा है क्योंकि वे सार्वजनिक उपयोगिताओं (Power utilities) की प्रायः अपर्याप्त एवं अविश्वसनीय पावर पूर्ति पर निर्भर रहना नहीं चाहते। यह अनुमान लगाया गया है कि गैर-उपयोगिताओं (Non-utilities) अर्थात् निजी क्षेत्र के पावर प्लांटों से 2005-06 में लगभग 74 अरब किलोवाटघण्टे पावर उद्योगों के लिए प्राप्त की जाती है।

जल-विद्युत (Hydro-power) एक नवीकरणीय प्राकृतिक स्रोत है। 1950ख51 में इसकी स्थापित क्षमता 560 मेगावाट थी जो बढ़कर 2005–06 में 32,300 मेगावाट हो गयी, परन्तु सापेक्ष रूप में, इसका अनुपात 26 प्रतिशत हो गया है। जल-विद्युत के कई लाभ है–

(क) यह पावर का सबसे मितव्ययी स्रोत है;

(ख) जल-विद्युत के जनन में पर्यावरण के प्रदूषण या व्यर्थ पदार्थों के निपटारे की कोई समस्या नहीं होती; और

नोट

(ग) तेल, कोयला या प्राकृतिक गैस जिनका प्रयोग बिजली के जनन के लिए किया जाता है, उनकी पूर्ति में कमी रहती है और इस कारण इनके अधिक लागत के रूप में गुह्यार्थ हैं और विदेशी मुद्रा पर भी दबाव पड़ता है; जल-विद्युत उनका आसानी से प्रतिस्थापन कर सकती है।

किन्तु यह तर्क दिया गया है कि जल-विद्युत परियोजनाओं की परिपाक अवधि (Gestation period) तापीय परियोजनाओं की तुलना में लम्बी होती है। इस तर्क की समीक्षा पावर इकानामी समिति (Power Economy Committee) द्वारा की गयी और पूरी छानबीन के पश्चात् उसने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि जल-विद्युत परियोजना को कार्यान्वित करने से पहले इनकी पूरी तरह समीक्षा और डिज़ाइन तैयार कर लिये जाएं, तो इसके निर्माण की अवधि तापीय परियोजना के लगभग बराबर ही बैठती है। इसी कारण 1962 में पावर आयोग (Power Commis- sion) और भारतीय ऊर्जा सर्वेक्षण समिति (1965) ने सिफारिश की कि जल-विद्युत परियोजनाओं पर अधिक निर्भर रहना चाहिए। पहली और दूसरी परियोजना के दौरान जल-विद्युत परियोजनाओं के बारे में पुरज़ोर जोश था, परन्तु बाद में इन पर बल देने में ढील अनुभव हो गयी। यह बुद्धिमतापूर्ण कदम नहीं था और इस प्रवृत्ति को बदलने की ज़रूरत नहीं थी। नीति की भावी दिशा में परिवर्तन पर बल देते हुए पॉवर इकॉनामी समिति (1971) ने यह उल्लेख किया; "देश की वर्तमान परिस्थितियों में, जल-विद्युत परियोजनाएं बिजली उत्पादन का सबसे मितव्ययी स्रोत हैं। .

...; देश में ऊर्जा के जनन एवं संभरण (Supply) पर नियंत्रण एवं लागत को कम करने की दृष्टि से, अभी तक स्थापित जनन सुविधाओं के पूर्ण प्रयोग और इस बात को सुनिश्चित करने के लिए कि पावर-संभरण के लिए किए गए सीमित पूंजी-आवंटन (Capital allocation) से अधिकतम लाभ उठा कर ही देश में पावर की कमी कम की जा सकती है। अत: पांचवीं एवं छठी योजना के दौरान अतिरिक्त जनन क्षमता का अधिकतर भाग जल-विद्युत स्रोतों से ही पूरित किया जाएगा।"

इन स्पष्ट लाभों के बावजूद और इस बात के बावजूद कि अभी तक जल-विद्युत की कुल क्षमता के केवल पांचवें भाग का ही प्रयोग किया जा सका है, सरकार भारत में बिजली की कमी को दूर करने के लिए तापीय स्रोतों पर अधिक आश्रित है। 1998-99 में, भारत सरकार ने जल-विद्युत शक्ति के विकास के बारे में अपनी नीति कीघोषणा की ताकि देश में उपलब्ध जल-विद्युत क्षमता का तेज़ी से दोहन किया जा सके। सन् 2004-05 तक केन्द्रीय क्षेत्र में 8ए800 मेगावाट जल-विद्युत क्षमता बढ़ाने का लक्ष्य रखा गया।

तापीय पावर (Thermal Power) जिसका जनन कोयले और तेल से किया जाता है, विद्युत-शक्ति का भारत में प्रमुख स्रोत है। कुल रूप में, तापीय पावर की स्थापित क्षमता (Installed capacity) जो 1950-51 में, 1,150 मेगावाट थी बढ़कर 2005-06 में 88,600 मेगावाट हो गयी परन्तु सापेक्ष रूप में तापीय पावर के भाग में 67 प्रतिशत से 71 प्रतिशत तक की ही वृद्धि हुई। इसका अधिकतर भाग कोयले से प्राप्त किया गया और बहुत थोड़ा भाग तेल से। कोयला और तेल दोनों गैर- नवीकरणीय और क्षयशील संसाधन हैं। तेल की अन्तर्राष्ट्रीय कीमत में वृद्धि और परिणामत: तेल की देशीय

कीमत में वृद्धि के कारण तेल से पावर-जनन की लागत में वृद्धि हुई। इस बात को देखते हुए ईंधन नीति समिति (Fuel Policy Committee) ने तेल की अपेक्षा कोयला-आधारित तकनालाजी के प्रतिस्थापन की सिफारिश की। चाहे पावर-जनन के लिए, तेल के प्रयोग को निरुत्साहित किया जा रहा है, परन्तु इसके कोयले से प्रतिस्थापन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि देश कोयले के उत्पादन को किस हद तक बढ़ा सकता है।

नोट

न्यैष्टिक पावर का विकास हाल ही के वर्षों में हुआ है और यह कुल बिजली की स्थापित क्षमता का केवल 2 प्रतिशत जुटाता है। रूस और अन्य देशों में न्यैष्टिक पावर की विफलता को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि न्यैष्टिक ऊर्जा द्वारा देश के पावर-जनन में महत्त्वपूर्ण योगदान की कोई संभावना नहीं है।

राज्य बिजली बोर्ड : पावर क्षेत्र में समस्या उत्पन्न करने वाले संस्थान पावर क्षेत्र के घटिया निष्पादन की समस्या की मुख्य जिम्मेदारी राज्य बिजली बोर्डों पर है जो पावर का जनन एवं वितरण करते हैं, पावर-टैरिफ़ (Power tariff) तय करते हैं और प्रयोक्ताओं से राजस्व एकत्र करते हैं। प्रत्येक राज्य बिजली बोर्ड एक राज्य-एकाधिकार (State monopoly) के रूप में कार्य करता है और पावर के जनन, संचारण एवं वितरण के तीनों कार्य करता है। पिछले 5 दशकों से इनकी मुख्य समस्या पावर-जनन में क्षमता-उपयोग का अनुकूलतम से कम रहना और संचारण एवं वितरण (Transmission and Distribution) में भारीघाटा रहा है। तापीय पावर प्लान्टों ने निम्न क्षमता-उपयोग (Capacity utilisation) के परिणामस्वरूप काफी नुकसान उठाया है जिसके कारण परिचालन एवं रखरखाव के दोष, जनन-उपकरण में कमियां और पावर प्लान्टों द्वारा कोयले कीघटिया क्वालिटी आदि रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप देश में भंयकर पावर अभाव की स्थिति कायम हो गयी है।

संचारण एवं वितरण मेंघाटे के मुख्य कारण हैं: एक बड़े क्षेत्र पर वितरित भार का बिखराव, विशेषकर ग्राम क्षेत्र में, संचारण प्रणाली में अल्प-निवेश, पावर की बड़े पैमाने पर चोरी। संचारण एवं वितरणघाटे 20 से 22 प्रतिशत हैं जबकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ये औसतन 9 प्रतिशत हैं।

राज्य बिजली बोर्डों की सबसे गंभीर कमज़ोरी आर्थिक टैरिफ़ (Economic tariff) निश्चित न कर पाना और इन्हें लागू न कर पाना रही है। 1981–82 के पश्चात् इनमें मामूली परिवर्तन किया गया और ये अब दीर्घकालीन सीमान्त लागत (Longrun marginal cost) का केवल 50 प्रतिशत ही हैं। सशक्त कृषिलाबी के सभी राज्यों में विद्यमान होने के परिणामस्वरूप, राज्य बिजली बोर्ड पावर-टैरिफ को बढ़ा नहीं पाए। कुछ राज्यों में पावर टैरिफ कृषि क्षेत्र में शून्य या लगभग शून्य है। कृषि क्षेत्र एवं परिवार क्षेत्र दोनों भारी साहाय्यिता पावर टैरिफ़ (Subsidized power tariff) पर चल रहे हैं। 1991–92 में इन्हें 7,450 करोड़ रुपये का अर्थसाहाय्य (Subsidy) प्राप्त हुआ जो बढ़कर 2002–03 में 30,560 करोड़ रुपये हो गया। इसका मुख्य कारण यह है उपभोक्ताओं को बिजली 18 पैसे प्रति इकाई दर से उपलब्ध करायी जाती है जबकि इसके विरुद्ध इसकी लागत 1.53 रुपये प्रति इकाई है। कुछ हद तक इसघाटे को कम करने के लिए निम्न उपाय किए जाते हैं–

(क) औद्योगिक, वाणिज्यिक एवं अन्य क्षेत्रों को ऊंची दर पर बिजली बेच कर राजस्व अतिरेक (Revenue Surplus) प्राप्त किया जाता है। इस अतिरेक को कृषि एवं परिवार क्षेत्र में सस्ती दरों के कारण हुएघाटे कोघटाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। परन्तु इस तरह अतिरेक प्राप्त करने की भी सीमाएं हैं यदि हमें देश मे औद्योगीकरण की गति को निरुत्साहित नहीं करना है।

(ख) राज्यीय सरकारें कुछ हद तक इस अर्थसाहाय्य का सहभाजन करने के लिए अनुदान (subvention) के रूप में ग्राम विद्युतीकरण के लिए सहायता देती हैं।

नोट

फिर भी, राज्य बिजली बोर्डों को भारी अपूरितघाटा सहन करना पड़ता है जो हर साल बढ़ता जा रहा है। उदाहरणार्थ, अपूरितघाटा 1991–92 में 3,230 करोड़ रुपये था जो बढ़ते-बढ़ते 2004–05 में 19,320 करोड़ रुपये हो गया।

तालिका 3.1: राज्यीय पावर क्षेत्र का वित्तीय निष्पादन

करोड़ रुपये

	1991-92	2004-05
(क) कुल अन्तर्निहित अर्थसाहाय्य		
(i) बिजली के विक्रय के लिए		
1. कृषि	5,940	25,240
2. परिवार क्षेत्र	1,310	10,430
3. अन्त: राज्यीय विक्रय	200	520
उप-योग	7,450	36,190
(ii) राज्य सरकारों से प्राप्त अनुदान	2,050	10,480
(iii) शुद्ध अर्थसाहाय्य	5,400	10,480
(iv) अन्य क्षेत्रों को विक्रय से प्राप्त अतिरेक	2,170	10,480
(v) अपूरित अर्थसाहाय्य	3,230	19,320
(ख) वाणिज्यिक घाटे	**4,120**	**23,560**
(ग) अतिरिक्त राजस्व गतिमान करना		
(i) कृषि/सिंचाई के लिए 50 पैसे प्रति इकाई की वसूली	2,180	1,040
(ii) 3 प्रतिशत प्रत्याय-दर	4,960	26,510

मोटे तौर पर यह अपूरित अर्थसाहाय्य राज्य बिजली बोर्डों के वार्षिकघाटे की व्याख्या करते हैं। इस सीमा तक राज्य बिजली बोर्डों केघाटे इनकी वित्तीय स्थिति के लिए असहनीय हैं। इस सम्बन्ध में, यह अनुमान लगाया गया है कि

(क) यदि 1991 में हुए पावर मंत्रीय सम्मेलन में स्वीकृत 50 पैसे प्रति इकाई के पावर-टैरिफ़ को देश भर में लागू किया जाए, तो इससे 540 करोड़ रुपये के अतिरिक्त राजस्व की प्राप्ति होगी।

(ख) विकल्प के रूप में, यदि राज्य बिजली बोर्ड निश्चित 3 प्रतिशत प्रत्याय दर (Rate of Return) अर्जित करें, तो इससे 26,510 करोड़ रुपये का अतिरिक्त राजस्व प्राप्त हो सकेगा।

व्यवहार में, इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं किया गया जिससे राज्य बिजली बोर्डों को अतिरिक्त राजस्व प्राप्त हो सके।

इसका नतीजा यह हुआ कि सभी राज्य बिजली बोर्डों में भारीघाटे एकत्र हो गए और वे दीवालिया हो गए। मौलिक रूप में, सभी राज्य बिजली बोर्डों की कल्पना स्वायत्त संस्थाओं (Autonomous organisations) के रूप में की गयी थी जिन्हें व्यावसायिक विशेषज्ञों द्वारा चलाया जाए परन्तु वास्तव में वे राज्य सरकार के विभाग ही बन कर रह गए हैं जो राजनैतिक हस्तक्षेप और नियंत्रण के शिकार

बन गए हैं। स्वतन्त्रता के समय, बहुत से राज्य बिजली बोर्डों के प्रमुख पावर प्लान्ट विशेषज्ञ एवं इंजीनियर थे परन्तु पिछले कुछ वर्षों में अधिकतर बिजली बोर्डों के प्रमुख भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS) के अधिकारी बना दिए गए जिन्हें पावर उद्योग का कोई अनुभव नहीं है और जो राजनैतिक नेतृत्व के आदेशों का पालन करते हैं। परिणाम यह है कि बहुत से ठेकेघटिया पार्टियों को दिए जाते हैं, पावर के जनन एवं वितरण में चोरी की मात्रा बढ़ गयी है, बिल पहुंचाने और वसूली में ढील के कारणघाटे बदस्तूर बढ़ते चले जा रहे हैं। बहुत से आयोगों एवं समितियों ने इनकी समस्याओं को अध्ययन कर सुझाव दिए हैं परन्तु अभी सुधार की दिशा में सफलता प्राप्त नहीं हुई।

उड़ीसा की सरकार ने सबसे पहले राज्य पावर क्षेत्र में सुधार करने के लिए राज्य बिजली बोर्ड का पुनर्गठन किया ताकि इस क्षेत्र को कुशल और सक्षम बनाया जा सके। उड़ीसा बिजली सुधार कानून (1995) के अनुसार, उड़ीसा के बिजली बोर्ड को तीन पृथक निगमों से विस्थापित कर दिया–उड़ीसा ग्रिड निगम, उड़ीसा जल विद्युत शक्ति निगम और उड़ीसा पावर जनन निगम। उड़ीसा में यह प्रयास किया गया है कि बिजली के वितरण को निजी कम्पनियों (Private companies) को सौंप दिया जाए और निजीकरण प्रतिस्पृद्धी बोली के आधार पर किया जाए। आंध्र प्रदेश सरकार ने भी 1999 में बिजली सुधार कानून पास कर दिया। कुछ और राज्य भी पावर क्षेत्र में सुधार करना चाहते हैं परन्तु मज़दूर संघों द्वारा पुनर्गठन और निजीकरण (Privatisation) का विरोध किया जा रहा है।

पावर क्षेत्र में सुधार

भारत में, सभी विकासशील देशों की भांति पावर जनन एवं वितरण एक राजकीय एकाधिकार (State monopoly) ही रहे हैं। अस्सी के दशक में बहुत से विकासशील देशों ने बिजली के जनन एवं वितरण को निजी क्षेत्र के लिए खोल दिया। इसका मुख्य कारण वित्तीय साधनों का अभाव था। इसके अतिरिक्त विश्व बैंक एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों को जब राशि देने के लिए अनुरोध किया गया, तो उन्होंने भी विकासशील देशों की सरकारों को मजबूर किया कि वे पावर क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा लाने के लिए निजी उत्पादकों को पावर जनन के लिए आमंत्रित करें। इस पृष्ठभूमि में, भारत ने भी अन्य विकासशील देशों की भांति पावर क्षेत्र में निजी निवेश–भारतीय और विदेशी दोनों को लाने का मन बना लिया और 1992 में नयी पावर नीति कीघोषणा की गयी और पावर क्षेत्र में स्वतन्त्र पावर उत्पादकों (Independent Power Producers) की धारणा शामिल की गयी। सरकार ने बिजली पूर्ति कानून 1910 और 1948 में उचित संशोधन कर निजी पावर उत्पादकों के लिए प्रोत्साहनों का एक पैकेज तैयार कर लिया। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि नयी पावर नीति का उद्देश्य सार्वजनिक क्षेत्र को समाप्त करना नहीं था बल्कि इसे सीमान्त रूप में सहारा देना था। उदाहरणार्थ, पावर पर कार्यदल (Working Group) ने आठवीं योजना के दौरान निजी क्षेत्र द्वारा 3,000 मेगावाट क्षमता और नौवीं योजना के दौरान 10,500 मेघावाट क्षमता जनन का लक्ष्य रखा।

नयी पावर नीति कीघोषणा के पश्चात् देश में एक अत्यन्त तीक्ष्ण बहस छिड़ गयी और नीति के विभिन्न पहलुओं पर सरकार से स्पष्ट नीति तय करने की मांग की गयी। उदाहरणार्थ, हिस्सा पूंजी पर प्रत्यायदर (Rate of Return), सरकार द्वारा निजी क्षेत्र को कौन-कौन सी गारंटी दी जाए और प्रोजैक्ट चयन की प्रक्रिया क्या हो, आदि। इस कारण इस नीति को लागू करने में देरी हुई। भारत के उच्च्व अधिकारियों की अयोग्यता और बहुत से गैर-सरकारी संगठनों के विरोध के कारण इस नीति पर कार्यान्वियन में विलम्ब हुआ।

नोट

भारत में पावर क्षेत्र के निजीकरण (Privatisation) की नीति अभी तक विफल ही समझी जा सकती है। इसका यह कारण नहीं कि यह नीति बुरी एवं अव्यवहार्य है, बल्कि इसका मुख्य कारण मजदूर संघों और राजनैतिक दलों का बड़ा विरोध है और इस कारण सरकारी अधिकारी और सत्तासीन राजनीतिज्ञ इसको कार्यान्वित करने में ढुलमुल रूख अपनाए हुए है। दिल्ली में केवल पावर के वितरण का निजीकरण किया गया है और इससे बिजली की चोरी कम हुई है। परन्तु निजी कम्पनियां पावर की दर बढ़ाने में अधिक दिलचस्पी रखती है जिसका समय-समय पर विरोध होता रहता है। चाहे बिजली की निरन्तर पूर्ति में सुधार हुआ है परन्तु अभी निजी क्षेत्र के प्रयोग से स्थिति पूर्णतया सफल नहीं कही जा सकती।

बिजली के जनन को एक समय एनरान (Enron) के हवाले किया गया परन्तु इस प्रयोग के परिणाम बहुत ही निराशाजनक हुए और इस कारण यह विश्वास फिर बल पकड़ गया कि विदेशी बहुराष्ट्रीय निगमों को ठेके देने की अपेक्षा सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों का प्रयोग होना चाहिए।

प्लान्ट-लोड फैक्टर

प्लान्ट लोड फैक्टर तापीय पावर प्लान्टों की संचालन-कुशलता (Operational efficiency) का प्रमुख कारणत्व है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत में प्लान्ट लोड भार कारणत्व (Plant load factor) है। इसका अर्थ पावर प्लान्टों की जननक्षमता के प्रयोग से है। इसके मुख्य कारण हैं–प्रबन्ध और कार्य-प्रचालन में कमियां, इसके रखरखाव का अभाव और उचित किस्म के कोयले की अनुपलब्धता। हाल ही के वर्षों में प्लान्ट लोड फैक्टर में उन्नति हुई है और यह 1998–99 में 64.6 प्रतिशत से बढ़कर 2003–04 में 72.7 प्रतिशत हो गया है। निजी क्षेत्र में प्लान्ट लोड फैक्टर 80.4 प्रतिशत है। अत: सार्वजनिक क्षेत्र को अपनी कुशलता और बढ़ानी होगी क्योंकि इस क्षेत्र द्वारा 85 प्रतिशत पावर जनन किया जाता है।

बिजली कानून

भारत सरकार ने 2003 में एक नया बिजली कानून पास कर दिया जिसका मुख्य उद्देश्य पावर क्षेत्र के विभिन्न अंगों अर्थात् बिजली के जनन, व्यापार एवं वितरण में प्रतिस्पर्द्धा कायम करना था। कानून के अनुसार निजी क्षेत्र पर लगे हुए सभी प्रतिबन्ध समाप्त कर दिए गए। इस कानून के अनुसार राज्य बिजली बोर्डों का पुनर्गठन करने का निर्णय किया गया जिसमें केन्द्र सरकार को राज्यीय सरकार की रज़ामन्दी लेनी होगी। दिल्ली सरकार ने जुलाई 2002 में बिजली के वितरण का निजीकरण कर दिया और पावर संचारण एवं वितरण केघाटों (Transmission and Distribution Losses) को जो 50.7 प्रतिशत के स्तर पर पहुंच चुके थेघटा कर अगले पांच वर्षों में 33 प्रतिशत तक लाने का लक्ष्य रखा।

संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की सरकार के न्यूनतम साझा कार्यक्रम में इस नीति की समीक्षा करने का उल्लेख किया गया है क्योंकि कई राज्यों ने इस सम्बन्ध में अपनी चिन्ताएं व्यक्त की हैं। परिणामस्वरूप, राज्य बिजली बोर्डों के पुनर्गठन की कानून द्वारा निश्चित तिथि आगे बढ़ा दी गयी हैं।

इस कानून के अतिरिक्त, भारत सरकार ने बिजली विनियमन कानून (Electricity Regulation Act). (1998) पारित किया जिसके आधीन सरकार ने केन्द्रीय बिजली विनियामक आयोग (State Electricity Regulatory Commis- sion) स्थापित किया है। 19 राज्यों ने भी अपने स्तर पर बिजली विनियामक आयोग स्थापित किए हैं।

नोट

ग्रामीण बिजलीकरण की प्रगति

देश में लघु स्तर उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित करने और एक अधिक संतुलित एवं विविध अर्थव्यवस्था की प्रोन्नति के लिए ग्राम बिजलीकरण (Rural Electrification) को अनिवार्य समझा गया और केन्द्रीय एवं राज्यीय दोनों स्तरों पर इसे बढ़ावा दिया गया। तालिका 11 में ग्राम बिजलीकरण की प्रगति दी गयी है।

1950 और 2003–04 के दौरान, बिजलीकृत ग्रामों की संख्या 3,000 से बढ़कर 5,19ए000 हो गयी। उर्जित पम्पसैटों (Energized Pumpsets) की संख्या भी 21,000 से बढ़कर 140 लाख हो गयी।

तालिका 3.2: ग्राम बिजलीकरण की प्रगति

	बिजलीकृत किए गए गांव (हजारों में)	उर्जित पम्पसैट (लाखों में)
1950–51	3	0.2
1960–61	22	1.9
1979–80	250	39.0
1984–85	370	57.0
2003–04	490	140.0

आरम्भिक अवस्था में, ग्राम विद्युतीकरण पर बल था परन्तु 1965 और 1966 के सूखे के पश्चात कृषि को स्थिरता बनाने के लिए भूमिगत जल (Ground Water) के उपयोग को बढ़ावा दिया गया। इस उद्देश्य के लिए पम्पसैटों को उर्जित करना महत्त्वपूर्ण समझा गया और इसलिए नीति का झुकाव ग्रामों के बिजलीकरण की अपेक्षा पम्पसैटों के उर्जायन (Energisation of pumpsets) की ओर हो गया। ग्राम विद्युतीकरण निगम (Rural Electrification Corporation) की स्थापना से ग्राम क्षेत्रों में बिजलीकरण की प्रक्रिया त्वरित हो गयी है।

2003–04 में, भारत सरकार ने "बिजलीकृत गांव" की परिभाषा का संशोधन किया और इसमें गांव के कम-से-कम 10 प्रतिशत गांवों के बिजलीकरण से जोड़ दिया और भी शर्त लगा दी कि इसके साथ स्कूलों, पंचायतघरों, स्वास्थ्य केन्द्रों को भी बिजली उपलब्ध करायी जाए।

ग्राम विद्युतीकरण के लाभों के बारे में जो भी दावे किए जाएं, इनसे कमज़ोर वर्गों को कोई विशेष लाभ प्राप्त नहीं हुआ। हाल ही की योजनाओं में, जनजातीय एवं हरिजन बस्तियों के बिजलीकरण की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। मार्च 31, 2004 तक लगभग 83 हज़ार जनजातीय ग्रामों (Tribal villages) और 3 लाख हरिजन बस्तियों का बिजलीकरण किया गया।

3.9 भारत के आर्थिक विकास में परिवहन प्रणाली

यदि कृषि और उद्योग को अर्थव्यवस्था की काया समझा जाता है, तो परिवहन और संचार उसकी नसें हैं जो व्यक्तियों एवं वस्तुओं की गतिविधि में सहायता करती हैं। परिवहन प्रणाली वस्तुओं एवं सेवाओं के बाज़ार का विस्तार करती है -विभाजन (Division of Labour) द्वारा संभव हो सकता है। यह कच्चे माल, ईंधन, मशीनरी आदि को उत्पादन के स्थानों तक पहुंचाने के लिए अनिवार्य है। किसी भी क्रिया में जितना विस्तरित और अविरत उत्पादन होगा, उतनी ही अधिक परिवहन सुविधाओं की आवश्यकता होगी। परिवहन विकास से दूरदराज़ के इलाके और संसाधन उत्पादन के लिए खुल

नोट

जाते हैं। किसी क्षेत्र में कृषि, वन और खनिज संसाधन अधिक मात्रा में उपलब्ध हो सकते हैं, परन्तु उनका विकास तब तक नहीं हो सकता जब तक वे सुदूर और पहुंच के बाहर रहेंगे। पिछड़े क्षेत्रों को अधिक विकसित क्षेत्रों के साथ जोड़कर परिवहन प्रणाली संसाधनों का बेहतर और पूर्ण प्रयोग करने में सहायता देती है। अन्तिम, परिवहन सुविधाओं के विस्तार से प्रत्यक्षत: औद्योगीकरण को सहायता मिलती है।

इंजनों और मोटर गाड़ियों, जहाज़ों आदि की मांग से ऐसे उद्योग स्थापित हो जाते हैं जो इन वस्तुओं के उत्पादन में विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते हैं। अत: भारत जैसे विकासमान देश में परिवहन का विस्तार मूलत: महत्त्वपूर्ण है।

परिवहन और पंचवर्षीय योजनाएँ

भारतीय आयोजकों ने परिवहन के विकास को उच्च प्राथमिकता दी क्योंकि उनके विचार में "एक कुशल और सुविकसित परिवहन एवं संचार प्रणाली ऐसे आर्थिक विकास की कामयाबी के लिए अनिवार्य है जो द्रुत औद्योगीकरण पर बल देता है।" इसी कारण पहली तीन योजनाओं में, परिवहन क्षेत्र को आवण्टन काफी अधिक था अर्थात् 25 से 28 प्रतिशत के बीच। इसके पश्चात् उत्तोरोत्तर योजनाओं में परिवहन क्षेत्र पर आवंटन (Allocation) धीरे-धीरेघटता गया। आठवीं योजना में, उदाहरणार्थ, यह कुल परिव्यय का केवल 13 प्रतिशत था। परन्तु पिछली तीन योजनाओं में परिवहन क्षेत्र पर कम आवंटन का यह अभिप्राय नहीं कि परिवहन क्षेत्र का पूर्ण विकास हो चुका है।

इसका एक कारण संसाधनों की कमी है और दूसरी ओर ऊर्जा तथा अन्य औद्योगिक क्षेत्रों का बढ़ता हुआ महत्त्व है। भारतीय रेलवे का विकास–. भारत में रेलवे का आरम्भ 1853 में हुआ जबकि पहली रेलगाड़ी द्वारा मुम्बई से थाना तक 22 मील की यात्रा की गई। अगले वर्ष कलकत्ता में एक रेलवे लाइन खोली गई। भारत में रेलवे-विकास का विशिष्ट लक्षण यह है कि बहुत से इलाकों में औद्योगिक प्रगति के साथ-साथ रेलों का विकास हुआ। मुम्बई में सूती वस्त्र उद्योग, कलकत्ता में पटसन उद्योग, असम तथा बंगाल में चाय के बाग और असम में तेल उद्योग का विकास रेलों के विस्तार का ही परिणाम है। 1853 में आरम्भ होने के पश्चात् रेलों ने तेजी से विकास किया और सन् 1900 तक लगभग 40 कि.मी. अतिरिक्त रेल-मार्ग तैयार किया गया। अगले पचास वर्षों में रेलों का विकास धीमा पड़ गया और केवल 16,000 कि.मी. अतिरिक्त रेल-मार्ग तैयार किया गया। इस प्रकार भारत में 1950 तक कुल मिलाकर 54,400 किलोमीटर से कुछ अधिक रेलमार्ग तैयार हो चुका था।

आरम्भ में, रेलवे का स्वामित्व एवं प्रबन्ध निजी कम्पनियों के आधीन था, जिनके मालिक अँग्रेज व्यापारी थे। सरकार ने इन्हें मुफ्त भूमि, पूँजी पर निम्नतम प्रत्याय (Minimum return) के आश्वासन आदि के रूप में कुछ रियायतें दीं। रेलों पर निजी कम्पनियों के स्वामित्व एवं प्रबन्ध की कुछ आलोचना और शिकायतें की गईं। 1925 में भारत सरकार ने पहली रेलवे कम्पनी अपने स्वामित्वाधीन की। धीरे-धीरे अन्य कम्पनियाँ भी सरकार के आधीन लाई गई। 1944 तक सभी निजी कम्पनियों को हटाकर रेलों का स्वामित्व एवं प्रबन्ध सरकार के आधीन हो गया। 1950 में महाराजाओं के आधीन रियासतों की रेलों को भी भारत सरकार के स्वामित्वाधीन लाया गया। आज रेलें एक एकीकृत राजकीय उद्यम (State enterprise) हैं। रेलें देश का सबसे बड़ा राष्ट्रीयकृत उद्यम है और इनमें सभी निजी संयुक्त पूँजी कम्पनियों की तुलना में अधिक विनियोग किया गया है। आज भारतीय रेलवे में 16 लाख से अधिक व्यक्ति काम करते हैं। भारतीय रेलवे के पास 7,900 डीजल

नोट

और बिजली चालित इंजन, 42,000 सवारी-डिब्बे और लगभग 2,22,000 वैग्न है। रेलें 1.1 करोड़ सवारियों और 11.2 लाख टन माल का लम्बी दूरी के लिए परिवहन करती हैं। भारत में अब कुल रेल-मार्ग की लम्बाई 63,500 किलोमीटर हो गइ है। इस प्रकार रेलें देश का सबसे बड़ राष्ट्रीयकृत उद्यम हैं। यह एशिया का सबसे बड़ा और विश्व में दूसरा सबसे बड़ा उद्यम है।

(i) रेलवे विकास की पंचवर्षीय योजनाएँ राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास के साथ गहरा सम्बन्ध रखने वाले अभिकरणों में रेलवे सबसे बड़ा परिवहन अभिकरण (Transport agency) है। इस कारण भारत सरकार ने इसके विकास पर सबसे अधिक बल दिया है। रेलों ने पुन:स्थापन की बहुत-सी योजनाएँ लागू कीं और बाद में परिवहन क्षमता (Transport capacity) और परिचालन कुशलता (Operational efficiency) को बढ़ाने के लिए निर्माण का महाभियान चलाया। सरकारी क्षेत्र में किए गए कुल व्यय का 21 प्रतिशत पहली तीन योजनाओं में रेलवे विकास पर खर्च किया गया। पहली सात योजनाओं में कुल व्यय के रूप में रेलों पर 24.000 करोड़ रुपए व्यय किए गए। एक कुशल रेल परिवहन व्यवस्था कायम करने के अतिरिक्त, प्रत्येक योजना में रेलवे विकास का विशेष उद्देश्य था।

(i) **प्रथम योजना**–जीर्ण परिसम्पत् (Overaged assets) का प्रतिस्थापन;

(ii) **दूसरी योजना**–नए इस्पात कारखानों और कोयले के बढ़ते हुए उत्पादन के कारण जनित माल परिवहन के ढोने के लिए रेलों को विशेष रूप में तैयार करना;

(iii) **तीसरी योजना**–अतिरिक्त क्षमता का निर्माण करना ताकि यह परिवहन की माँग से अधिक हो सके जिसके द्वारा परिवहन सम्बन्धी रुकावटें दूर की जा सकें;

(iv) **चौथी से सातवीं योजना**–रेल व्यवस्था का आधुनिकीकरण ताकि इसकी क्रियाओं की कुशलता बढ़ाई जा सके।

माल भाड़े के टर्मिनलों के विकास को उच्च प्राथमिकता देना ताकि माल के डिब्बों की गति स्वतन्त्र एवं सुविधाजनक रूप में हो सके। इसके साथ-साथ वाष्प इंजनों को डीज़ल और बिजली के इंजनों में परिवर्तित करना।

आठवीं और नौवीं योजना–मुख्य बल सामर्थ्यजनन (Capacity generation) पर था। इसके अतिरिक्त पुनर्वास एवं आधुनिकीकरण, ऊर्जा-संरक्षण (Energy Conservation), सुरक्षा, वित्तीय सक्षमता और ग्राहक तुष्टि के लिए विश्वसनीय एवं बेहतर सेवाएं उपलब्ध कराने की ओर ध्यान दिया गया।

(ii) दसवीं पंचवर्षीय योजना और रेलवे विकास दसवीं योजना का मुख्य बल रेलवे-प्रणाली की क्षमता को मजबूत बनाना है ताकि वह लम्बी दूरी वाले भारी माल एवं सवारी यातायात की प्रधान वाहक बन सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए रेलवे को बहुविध-विकास और अधिक यातायात वाले मार्गों के बिजलीकरण, परिचालन में विश्वसनीयता को उन्नत करने की ओर ध्यान देना होगा। इसके अतिरिक्त, डिब्बों में माल यातायात के परिवहन और समग्र रेल-प्रणाली के प्रयोग को अनुकूलतम बनाना होगा। चूँकि अर्थव्यवस्था के कुल यातायात में रेलवे के भाग में गत वर्षों में कमी होती जा रही है, दसवीं योजना में रेलवे की सामर्थ्य को उन्नत करने और रेलवे प्रणाली की उत्पादिता (Productivity) को बढ़ाने पर विशेष बल दिया जाएगा।

नोट

तालिका 3.3: रेलों की प्रगति

	1950–51	1960–61	1970–71	2005–06
1. रेलमार्ग की लम्बाई (किलोमीटर)	53,600	56,200	59,790	63,370
जिसमें बिजलीकृत	388	748	3,706	17,900
2. सवारियों की संख्या (लाख)	12,840	15,940	24,310	58,300
3. माल-परिवहन (लाख टन)	930	1,562	1,965	6,660
4. रेल इंजनों की संख्या	8,200	10,624	11,158	8,025
जिसमें से डीज़ल चालित	17	181	1,169	4,900
बिजली चालित	72	131	602	3,080
5. माल डिब्बों की संख्या (हजार)	206	308	384	207

दसवीं योजना के पहले तीन वर्षों के दौरान, भारतीय रेलवे की हालत बहुत ख़राब थी। परन्तु दसवीं योजना के अन्तिम दो वर्षों में रेलवे ने उत्पादिता बढ़ाने में आश्चर्यजनक वृद्धि प्राप्त की, इसके साथ-साथ क्षमता में भारी विस्तार किया गया। रेलवे राजस्व प्राप्तियों में वृद्धि और व्यय में नियंत्रण द्वारा रेलवे ने भारी अतिरेक प्राप्त किए।

(iii) ग्यारहवीं योजना (2007.12) के आधीन रेलवे दसवीं योजना के अन्तिम दो वर्षों में रेलवे की महत्त्वपूर्ण प्रगति के बावजूद, ग्यारहवीं योजना ने क्षमता-प्रयोग में अड़चनों के बने रहने, डिब्बों में माल लगातार अम्बार बढ़ते चले जाने, बन्दरगाहों पर अत्यधिक भीड़-भाड़ आदि पर बल दिया। ग्यारहवीं योजना में महत्त्वपूर्ण मार्गों जैसे दिल्ली-मुम्बई और दिल्ली-हावड़ा की क्षमता-विस्तार करने पर विशेष बल दिया गया है।

रेलवे सार्वजनिक-निजी-साझीदारी (Public-Private-Partnership) की ओर परिवर्तित होने की मुख्य पहल कर रही हैं ताकि रेलवे आधारसंरचना (Railway Infrastructure) का निर्माण और कार्यसंचालन बढ़ाया जाए। इससे रेलवे के क्षमता-विस्तार में कहीं अधिक वृद्धि होगी, इसकी अपेक्षा रेलवे केवल सार्वजनिक वित्त पर निर्भर रहें।

11वीं योजना में यह प्रत्याशा की गयी है कि रेलवे विश्व-स्तरीय सेवाएं उपलब्ध कराए–विभिन्न अन्तिम स्टेशनों (Terminals) पर स्वारियों को उच्च गुणवत्ता सेवाएं, आधुनिक सवारी एवं माल डिब्बों का निर्माण और समग्र रूप में सफाई। जहां तक माल-भाड़े का सम्बन्ध है, रेलवे माल-डिब्बों के डिज़ाइन में परिवर्तन, कम्पनियों को माल-डिब्बों के निर्माण और रख-रखाव करने की जिम्मेदारी आदि देना चाहते है। इस प्रकार बहुत सी क्रियाएं बाहरी स्रोतों से प्राप्त करने पर बल दिया जाएगा।

(iv) रेलों का आधुनिकीकरण तालिका 13 में दिए गए आँकड़े रेलवे-आधुनिकीकरण की प्रगति को व्यक्त करते हैं। वाष्प इंजनों को धीरे-धीरे डीज़ल तथा बिजली चालित इंजनों द्वारा प्रतिस्थापित किया जा रहा है। वाष्प इंजनों की संख्या 1950–51 में 8,120 थी जो 1965ख्र66 तक बढ़कर 10,600 हो गई। तत्पश्चात् 2004–05 में इनकी संख्या धीरे-धीरे कम होकर केवल 45 रह गई। इसके विरुद्ध बिजली चालित इंजनों की संख्या 1950–51 में 72 की अपेक्षा 2005–06 में बढ़कर 3ए080 हो गई। साथ ही बिजलीकृत रेलमार्ग की लम्बाई 390 कि.मी. से बढ़कर 2005–06 के दौरान 17,900 कि.मी. हो गई। डीज़ल इंजनों की संख्या

1950–51 में 71 से बढ़कर 2005–06 में 4,900 हो गई। डीजल और बिजली चालित इंजन कुल माल परिवहन के 99 प्रतिशत से भी अधिक यातायात करते हैं।

नोट

पंचवर्षीय योजनाओं में सड़क-विकास

प्रथम योजना के आरम्भ के समय 1951 में भारत में पक्की सड़कों की कुल लम्बाई 1,60,000 किलोमीटर और कच्ची सड़कों की कुल लम्बाई 2,40,000 किलोमीटर थी।

तालिका 3.4: सड़क निर्माण की प्रगति (हजार कि.मी.)

प्रकार	1950–51	1960–61	1970–71	2001–02
पक्की सड़कें	157	231	421	1,420
कच्ची सड़कें	243	448	543	2,480
कुल	**400**	**679**	**964**	**3,900**

1950–51 के पश्चात् सड़कों को लम्बाई 4 लाक्ष किमी. से बढ़कर 2001–02 में 39.0 लाख कि.मी. हो गई। भारतीय सड़कें तीन वर्गों में बाँटी जाती हैं–राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग (National Highways), राज्यीय प्रमुख मार्ग (State Highways) और ग्रामीण सड़कें। राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों की लम्बाई 65,600 किलोमीटर है, कुल सड़क मार्ग की लम्बाई का 2 प्रतिशत परन्तु इन पर कुल यातायात के 40 प्रतिशत का वहन होता है। राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग प्रणाली प्राथमिक सड़क ग्रिड (Grid) है और यह केन्द्र सरकार का दायित्व है। राज्यीय प्रमुख मार्ग और मुख्य जिला सड़कें द्वितीयक सड़क प्रणाली का भाग हैं। राज्यीय प्रमुख मार्गों और मुख्य या जिला-सड़कों की लम्बाई लगभग 6,00,000 किलो मीटर है। इनके निर्माण और रखरखाव का दायित्व राज्यीय सरकारों (State Governmetns) पर होता है। इसके अतिरिक्त बहुत से ग्राम विकास कार्यक्रमों के आधीन ग्राम भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम, राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम और कमान क्षेत्र विकास कार्यक्रम। इन सबका उद्देश्य सड़क निर्माण द्वारा ग्रामों को जोड़ना है।

सड़क विकास कार्यक्रम का बल निम्नलिखित क्षेत्रों पर होगा–

(i) महत्त्वपूर्ण प्रमुख मार्गों के नेटवर्क की कमियाँ दूर करके इसे उन्नत एवं मजबूत बनाना और अधिकघनत्व वाले मार्गों में बहुत सी लेन बनाना;

(ii) दूरदराज के इलाकों जैसे उत्तर-पूर्व में सड़क परिवहन को उन्नत करना; और

(iii) शेष ग्रामों को सभी मौसमों में सम्पर्क के लिए सड़क परिवहन का विकास करना और ऊर्जा-संरक्षण

(Energy conservation) और पर्यावरण सुरक्षा के लिए सड़क-निर्माण करना।

सड़क प्रणाली को उन्नत करने के लिए अभी बहुत कुछ करना बाकी है। देश में कुल सड़क मार्ग का केवल 50 प्रतिशत अच्छी सतह वाला है। राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों में भी 30 प्रतिशत लम्बाई में एक ही लेन (Lane) है। देश के 36 प्रतिशत गाँव सड़कों से जुड़े हुए नहीं हैं और 65 प्रतिशत ग्रामों में सभी मौसमों वाली सड़कें नहीं हैं। अत: कुल सड़क प्रणाली क्षमता-सीमाबन्धनों में जकड़ी हुई है, इस पर वाहनों की भीड़ बढ़ रही है और ईंधन का अपव्यय होता है। राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों की कुल 58,110 किलोमीटर लम्बाई में से लगभग 25,000 किलोमीटर अधिक यातायात के कारण भारी दबाव में है। राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों में सभी कमियों को दूर करने की लागत 1,64,345 करोड़

रुपये (चालू कीमतोंपर) आंकी गयी है। यह परिव्यय एक लेन वाली सड़कों को दो लेन वाली, दो लेन वाले मार्गों को उन्नत करने, एक्सप्रैस मार्गों के निर्माण, बाईपास और पुल बनाने और पुलों की मरम्मत के लिए करना होगा।

नोट

राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग विकास प्रोजैक्ट

स्वतन्त्र भारत में सबसे अधिक महत्त्वाकांक्षी प्रोजैक्ट है जिसमें 5,846 किलोमीटर सुनहरी चतुर्भुज (Golden Quadrilateral) और 7,300 किलोमीटर लम्बे उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम पथ (Corridors) शामिल हैं। सुनहरी चतुर्भुज दिल्ली, मुम्बई एवं कोलकाता को और उत्तर-दक्षिण मार्ग कश्मीर से कन्याकुमारी और पूर्व-पश्चिम पथ सिलचर से पोरबन्दर को जोड़ते हैं। यह प्रोजैक्ट भारतीय राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग प्राधिकार द्वारा कार्यान्वित किया जा रहा है और इसकी लागत 54,000 करोड़ रुपये है। चाहे इसके लिए निजी सहयोग आमंत्रित किया गया परन्तु यह आरम्भिक प्रत्याशा के अनुकूल प्राप्त नहीं हुआ। सुनहरी चतुर्भुज के 2003 के अन्त तक और उत्तर-दक्षिण एवं पूर्व-पश्चिम पथ के 2007 तक पूरा होने की उम्मीद है। राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग विकास प्रोजैक्ट से देश के आर्थिक विकास में भारी प्रोन्नति की प्रत्याशा है और इस प्रकार देश के दूरदराज़ के इलाके मुख्य धारा के साथ समन्वित हो जाएंगे।

प्रमुख मार्गों (Highway) के विकास के लिए किए गए प्रधान उपाय

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् सड़क परिवहन सवारियों एवं माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का प्रधान साधन बन गया है। सवारियों का लगभग 80 प्रतिशत और माल यातायात का लगभग 60 प्रतिशत सड़क परिवहन पर आधारित है और यह अनुपात वर्ष 2000 तक क्रमश: 87 प्रतिशत और 65 प्रतिशत हो जाएगा। इस कारण आवश्यक है कि देश के समग्र आर्थिक विकास और यातायात के विस्तार के साथ-साथ राष्ट्रीय एवं राज्यीय प्रमुख मार्गों के सामर्थ्य एवं गुणवत्ता को उन्नत किया जाए। चूँकि राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों (National Highways) के 15 प्रतिशत और राज्यीय प्रमुख मार्गों के 75 प्रतिशत में अभी भी एक-लेन (Single lane) है, इस कारण यातायात को तेज रफ्तार से चलाना संभव नहीं। इसके अतिरिक्त, पटरियों की अपर्याप्तता, रेलवे-क्रासिंग के विद्यमान होने, सड़कों के मार्गों पर कम एवं असंतोषजनक सुविधाएँ होने और सुरक्षा उपायों की अपर्याप्तता कुछ अन्य समस्याएँ हैं। अत: इन समस्याओं के समाधान के लिए एक सरकारी अनुमान के अनुसार–

राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों के 20 प्रतिशत को दो-लेन वाले मार्गों में परिवर्तित करना अनिवार्य है।

दो-लेन वाली 50 प्रतिशत सड़कों को और मजबूत बनाना होगा।

30 प्रतिशत दो-लेन वाली सड़कों को चार-लेन वाली सड़कों में तब्दील करना आवश्यक है। कुछ चुने हुए मार्गों को एक्सप्रैस मार्गों (Express ways) में परिवर्तित करने की जरूरत है।

गत वर्षों में सड़क निर्माण का वित्त-प्रबन्ध सामान्यतया बजटीय स्रोतों (Budgetary Sources) द्वारा किया गया और इस कार्य के लिए या तो केन्द्र या राज्य सरकारों के विभागों का प्रयोग किया गया। इस प्रोग्राम के आकार को दृष्टि में रखते हुए यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह सार्वजनिक क्षेत्र की क्षमता से परे है। चूँकि सड़क निर्माण एवं विकास की फौरी आवश्यकताओं के लिए बजटीय-आवंटन (Budgetary allocation) पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं, इस कारण भारत सरकार ने राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग अधिनियम (National Highway Act) को 1995 में संशोधित कर दिया ताकि निजी क्षेत्र निर्माण, संचालन एवं परिवर्तन (Build, Operate and Transfer–BOT) के आधार पर सहयोग दे सके। सरकार ने निजी क्षेत्र को आकर्षित करने के लिए निम्नलिखित उपाय किए हैं–

नोट

(1) राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों के निर्माण के लिए भूमि-अधिग्रहण के लिए एक पृथक अध्यादेश जारी किया गया।

इसके आधीन केन्द्र सरकार भूमि अधिग्रहण कर सकती है और इसके लिए क्षतिपूर्ति तय कर सकती है।

(2) सरकार ने वर्तमान राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों के प्रोजैक्टों को पर्यावरण एवं वन-हटाने से छूट दे दी है।

(3) सरकार ने सड़क-निर्माण एवं विकास सम्बन्धी बहुत से नियमों को सरल बना दिया है। उदाहरणार्थ, 100 करोड़ रुपये के प्रोजैक्टों को सड़क निर्माण मंत्रालय द्वारा स्वीकृति दी जा सकती है।

(4) सरकार ने 4–लेन वाली सड़कों के क्षेत्र में प्रयोक्ता-शुल्क (User fee) लगाने का निर्णय किया है और यह शुल्क ऐसी सड़कों पर भी लगेगा जो बजट–राशि से बनायी गयी हैं। इससे प्राप्त राजस्व का प्रयोग भावी सड़क विकास के लिए किया जाएगा।

(5) सरकार ने कुछ ऐसे प्रोजैक्ट अपने हाथ में लेने का निर्णय किया है जो अधिक आर्थिक क्षमता रखते हों परन्तु जो वाणिज्यिक दृष्टि से सक्षम न हों। कोई वाणिज्यिक उद्यम उनमें आरम्भिक पूँजी लगा सकता है और इसे समय-उपरान्त एक संधि के अनुसार वार्षिक राशि के रूप में अदा कर सकता है।

(6) निजी क्षेत्र के विनियोग को प्रोत्साहित (National Highway Authority) को यह इजाज़त दी है कि वह किसी निजी अथवा सार्वजनिक्र क्षेत्र की कम्पनी की हिस्सा-पूँजी में भाग ले सकता है।

(7) भारत सरकार ने सड़क–क्षेत्र में विदेशी विनियोग सम्बन्धी प्रावधानों को और उदार बना दिया है। उदाहरणार्थ, सड़कों एवं पुलों के निर्माण के लिए 74 प्रतिशत तक हिस्सा-पूँजी के सहयोग की स्वत: स्वीकृति (Automatic approval) देने का निर्णय किया गया है। इसके अतिरिक्त, भू-परिवहन सेवाओं (Land transport services) में अधिसंख्य विदेशी हिस्सा-पूँजी (Equity) की 51 प्रतिशत तक स्वीकृति दी गयी है, ताकि ऊँचे पुलों, पथकर सड़कों (Toll Roads) और गाड़ियों को सहायता दी जा सके।

(8) सरकार ने राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों को उन्नत करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सियों से विदेशी सहायता प्राप्त की है। इनमें विश्व बैंक, एशियाई विकास बैंक और ओवरसीज बैंक (जापान) शामिल हैं। राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग प्राधिकार एक स्वायत्त संस्था है जिसे संसद के अधिनियम के आधीन स्थापित किया गया और इसे एशियाई विकास बैंक (Asian Development Bank) का 800 करोड़ रुपये का प्रोजैक्ट सौंपा गया जिससे 5 राज्यों अर्थात् हरियाणा, राजस्थान, बिहार, पश्चिम बंगाल और आंध्र प्रदेश को लाभ प्राप्त होगा।

1995 के राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग अधिनियम के पास होने के पश्चात् निजी क्षेत्र में तीन राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग प्रोजैक्ट आरम्भ कर दिये गये हैं। दो प्रोजैक्ट थाने-भविण्डी (महाराष्ट्र) और उदयपुर (राजस्थान) में स्थित हैं और सड़क पर पुल बनाने का तीसरा प्रोजैक्ट चालटन (गुजरात) में है।

सड़क विकास का महत्त्वाकांक्षी प्रोग्राम

नोट

राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग विकास कार्यक्रम के दूसरे चरण में निम्नलिखित लक्ष्य रखे गए है–

(i) उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम पथ के 7,300 कि.मी. सड़क मार्ग का निर्माण करना ताकि सपुर से सलेम से कोची और सिलचर को पूर्व से पोरबन्दर के पश्चिम से जोड़ा जा सके।

(ii) बन्दरगाहों को जोड़ने और प्रोजैक्टों से 1,157 कि.मी. सड़क-मार्ग कायम करना; और

(iii) राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग विकास कार्यक्रम के तीसरे चरण में 4,015 कि.मी. सड़क का निर्माण करना जिसमें से 4,000 कि.मी. चार लेन वाले मार्ग को 2005 तक 22ए000 करोड़ रुपये की लागत से पूरा किया जाने का लक्ष्य है।

2005–06 के अन्त तक राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग प्रोग्राम के आधीन 6ए300 कि.मी. सड़क का निर्माण करना जिसका अधिकतर भाग सुनहरी चतुर्भुज - अर्थात् 5,100 कि.मी. पूरा हो गया है और 6,200 कि.मी. और निर्माण–आधीन है। सरकार यह उम्मीद रखती है कि दिसम्बर 2008 तक उत्तर–दक्षिण और पूर्व–पश्चिम के पथ पूरे कर लिए जाएंगे। तीसरा चरण दिसम्बर 2009 तक पूरा हो गया।

भारत सरकार के महत्त्वाकांक्षा लक्ष्य में निम्नलिखित शामिल हैं–

(क) उत्तर-पूर्वीय क्षेत्र में विशेष त्वरित सड़क विकास प्रोग्राम द्वारा उत्तर-पूर्व में सड़कों द्वारा सदूर इलाकों को जोड़ना। इसके अतिरिक्त 2/4 लेन द्वारा उत्तर-पूर्व के आठ राज्यों में राजनीतिक महत्त्व के राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों को उन्नत करना।

(ख) राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों का उन्नयन (Upgrading) धीरे-धीरे, 2 लेन, 4 लेन और 6 लेन में करना। इसके लिए रिंग रोड, उपमार्गों (Bypasses), सेवा सड़कों का निर्माण करना।

यह प्रोग्राम भारतीय राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग प्राधिकार द्वारा कार्यान्वित किया जा रहा है। इसके वित्त के प्रबन्ध के लिए पेट्रोल और डीज़ल पर 2 रुपये प्रति लिटर का उपकर (Cess) लगाया गया है। इसके अतिरिक्त प्राधिकार विश्व बैंक, एशियाई विकास बैंक और अन्य वित्तीय संस्थानों के माध्यम से वित्त प्राप्त करता है। राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग प्राधिकार इस प्रोग्राम को निजी-सार्वजनिक सहयोग (Public-private partnership) के आधार पर लागू करना चाहता है।

भारत में सड़क परिवहन

जबकि 1950–51 में मोटर गाड़ियों (बसों, ट्रकों एवं छोटी गाड़ियों) की संख्या 3 लाख थी, यह 1999–2000 तक तेजी से बढ़कर 480 लाख हो गई। इसी अवधि के दौरान, बसों की संख्या 34,000 से बढ़कर 5.59 लाख हो गयी और ट्रकों की संख्या 82,000 से बढ़कर 27 लाख से भी अधिक हो गयी। मोटर गाड़ियों की संख्या में प्रति वर्ष 11.2 प्रतिशत की वृद्धि होने के कारण सड़कों पर दबाव बढ़ रहा है।

रेल-सड़क समन्वय

रेलें और सड़कें परिवहन के अन्य साधनों की अपेक्षा एक-दूसरे की पूरक हैं और इस प्रकार उक-दूसरे की सहायक हैं। सड़क परिवहन द्वारा किसी स्थानीय मण्डी एवं निकटतम रेलवे-स्टेशन से सम्पर्क स्थापित करते हैं। इसके विरुद्ध रेलों द्वारा उत्पादन के दूर-दूर केन्द्रों और उपभोक्ताओं से सम्पर्क स्थापित किया जाता है। किन्तु रेलें अच्छी और पर्याप्त सड़कों के बिना काफी उत्पादन

नोट

एकत्र नहीं करा सकतीं। साथ ही यह भी सत्य है कि अच्छी अच्छी सड़कें भी फसलों, लौह तथा इस्पात, सीमेंट, कोयले और अन्य भारी वस्तुओं को उत्पादकों से अन्तिम उपभोक्ताओं तक नहीं पहुँचा सकतीं। इस प्रकार रेलें और सड़कें पूरक हैं। किन्तु वे सभी स्थानों पर प्रतिस्पर्द्धा (Competitive) बन गई हैं। पिछले 40 वर्षों से यह प्रयास किया गया कि स्पर्द्धा को कम करके रेलों एवं सड़कों से समन्वय कायम किया जाए।

भारत में जल-परिवहन

जल परिवहन दो प्रकार का है—अंतर्देशीय जल परिवहन और समुद्रतटीय जल-परिवहन।

अन्तर्देशीय जल परिवहन

देश की परिवहन व्यवस्था में नदी तथा नहरों के परिवहन ने काफी योगदान किया है परन्तु पिछली शताब्दी के मध्य के पश्चात्, रेल-परिवहन पर अधिक बल देने और नदियों के पानी का प्रयोग सिंचाई के लिए करने के परिणामस्वरूप जल-परिवहन की क्षति हुई है। आज भी असम, पश्चिमी बंगाल और बिहार में अन्तर्देशीय जल-परिवहन का विशेष महत्त्व है। असम और कोलकाता के बीच कुल 25 लाख टन यातायात (Traffic) में से लगभग आधा भाग जल-परिवहन द्वारा और शेष भाग रेल और सड़क-परिवहन द्वारा ले जाया जाता है। अन्र्देशीय जल परिवहन का केरल में बहुत महत्त्व है। यह परिवहन उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश और तमिलनाडु में भी कुछ महत्त्व रखता है। भारत में विभिन्न प्रकार की नदियों, नहरों आदि के आधार पर कुल जल-परिवहन 12,500 किलोमीटर पर हो सकता है जिसका केवल 5,200 किलोमीटर मुख्य नदियों और 485 किलोमीटर मार्ग ऐसा है जो कि यन्त्रीकृत वाहनों के लिए उचित माना जा सकता है। पर जहाँ कहीं जल-मार्ग उपलब्ध भी है, वहाँ भी विभिन्न सीमाबन्धनों के कारण इनकी सामर्थ्य का पूर्ण प्रयोग नहीं किया जा रहा है।

पहला; कम गहरे और छोटी चौड़ाई के जल मार्गों पर खुश्क मौसम, किनारों के टूट-फूट जाने और नौगम्य सहायक उपायों के अभाव के परिणामस्वरूप नौपरिवहन की मुक्त गतिविधि पर प्रभाव पड़ता है।

दूसरे; नौगम्य जलयानों के आधुनिकीकरण का कोई प्रयास नहीं किया गया और इस प्रकार यह बहुत पुराना एवं अकुशल हो गया है।

अन्तिम, जल-पावर (Hydel Power) बाढ़ नियंत्रण नौपरिवहन और सिंचाई परियोजनाओं में अपर्याप्त समन्वय ही रहा है।

छठी योजना तक अन्तर्देशीय जल परिवहन की उपेक्षा की गयी। केवल छठी योजना में अन्तर्देशीय जल परिवहन को उच्च प्राथमिकता दी गयी। छठी योजना ने प्रस्ताव किया—

(i) अन्तर्देशीय जल परिवहन पर पुनः बल दिया जाए और इसे विकसित किया जाए। योजना का समग्र दृष्टिकोण यह था कि विकास के लिए राष्ट्रीय एवं अन्तःराज्यीय महत्त्व की सुपरिभाषित योजनाओं पर कार्य किया जाए।

(ii) कुछ जलमार्गों को राष्ट्रीय जल मार्गघोषित किया जाए, जहाजों एवं नौकाओं का प्रतिस्थापन किया जाए और नावांगनों (Dockyards) आदि का आधुनिकीकरण किया जाए।

(iii) अन्तर्देशीय जल परिवहन को साहाय्य (Subsidy) देने की योजना चालू की जाए और उद्यमकर्ताओं को यंत्रीकृत नौयान प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। इसके अतिरिक्त वर्तमान नौयानों जिनमें ग्रामीण कश्तियां भी शामिल हैं, का आधुनिकीकरण किया जाए।

दसवीं योजना में जल परिवहन सम्बन्धी रणनीति एवं प्रहार-क्षेत्र

(i) ऐसे क्षेत्रों में अन्तर्देशीय जल परिवहन का विकास करना जिनमें इसे प्राकृतिक लाभ प्राप्त हैं।

नोट

(ii) आधुनिकीकरण एवं तकनालाजी के उन्नयन द्वारा जल-परिसम्पतों की उत्पादिता को बढ़ाना।

(iii) अन्तर्देशीय जल परिवहन के लिए प्रशिक्षित एवं कुशल मानव शक्ति का निर्माण करना।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नौवीं योजना में निम्नलिखित उपाय किए गए–

(क) दो राष्ट्रीय जलमार्गों-गंगा और ब्रह्मपुत्र का विकास किया जा रहा है। इनका मुख्य उद्देश्य इन जलमार्गों की पर्याप्त गहरायी एवं चौड़ाई को कायम रखना है। इसके अतिरिक्त पर्याप्त मात्रा में नौगम्य सहायक यंत्र उपलब्ध कराने होंगे और समन्वित टर्मिनल स्थापित करने होंगे ताकि कुछ चुने हुए जलमार्गों पर पूरे वर्ष के दौरान और 24घंटे नौपरिवहन हो सके।

(ख) अन्तर्देशीय नौयानों का आधुनिकीकरण किया जाएगा और बहुत पुराने नौयानों का प्रतिस्थापन किया जाएगा। भिन्न-भिन्न जलमार्गों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विशिष्ट नौयान (Vessels) विकसित करने होंगे ताकि विभिन्न प्रकार के माल की ढुलाई की जा सके।

(ग) निजी उद्यमकर्ताओं को बेहतर डिजाइन के नौयान और उन्नत नौगम्य जलयानों के लिए साहाय्य जारी रखे जाएंगे। टर्मिनलों की स्थापना में निजी सहयोग को प्रोत्साहन दिया जाएगा।

भारतीय जहाजरानी

भारतीय जहाजरानी अभी अपनी शैशव अवस्था में है। कारण यह है कि जहाजरानी का जो कुछ भी विकास हुआ है वह केवल स्वतन्त्रता के बाद के काल में हुआ है। स्वतन्त्रता के पूर्व भारतीय जहाजरानी कम्पनियाँ सफल न हो सकीं क्योंकि इनके विरुद्ध विदेशी जहाजरानी कम्पनियाँघोर प्रतिस्पर्द्धा करती थीं और भारत के विदेशी शासक इनका संरक्षण नहीं करते थे। भारत के स्वतन्त्रता के समय केवल 42 जहाज थे जिनकी कुल सामर्थ्य 1 लाख टन (कुल पंजीकृत भार) थी। भारतीय जहाज अपने समुद्र-पार व्यापार (Overseas trade) का केवल 2 प्रतिशत ले जाते थे।

जहाजरानी के विकास में सरकारी सहयोग

भारत सरकार ने जहाजरानी के विस्तार को उच्च प्राथमिकता दी क्योंकि इससे विदेशी मुद्रा की बचत होती है। सरकार ने दो जहाजरानी कम्पनियाँ स्थापित कीं–पूर्वी जहाजरानी निगम (Eastern Shipping Corporation) जो आस्ट्रेलिया और सुदूर-पूर्व में कार्य करती है और पश्चिमी जहाजरानी कम्पनी (Western Shipping Corporation) जो इंडो-पर्शियन गल्फ, इंडियन रेडसी और भारत-पोलैण्ड के मार्गों पर कार्य करता है। 1961 में इन दोनों निगमों का विलयन किया गया और भारतीय जहाजरानी निगम (Shipping Corporation of India) की स्थापना की गयी। मार्च 1994 के अन्त पर इस निगम के पास 160 जहाज थे जिनकी कुल भार-क्षमता 40 लाख टन थी। यह निगम विश्व के सबसे बड़े निगमों में गिनी जाती है। यह अब विश्व के सभी महत्त्वपूर्ण समुद्री-व्यापार के मार्गों पर कार्य करती है।

भारत के पास चार प्रमुख जहाज-निर्माण स्थन हैं–वे विशाखापट्टनम, कोलकाता, मुम्बई और कोची में स्थित हैं।

जहाजरानी उद्योग के विकास के एकीकृत अंग के रूप में बन्दरगाहों, छोटे पत्तनी एवं प्रकाश स्तम्भों (Light houses) का विकास भी किया जा रहा है।

नोट

जहाजरानी क्षेत्र में सुधार

भारतीय जहाजरानी के विकास को प्रोन्नत करने के लिए, भारत सरकार ने 1990-91 में एक नयी जहाजरानी नीति कीघोषणा की जो कि भारतीय अर्थव्यवस्था में उदारीकरण के अनुकूल है। इसमें निम्नलिखित मुख्य उपाय शामिल हैं–

(1) निजी कम्पनियों को कुछ वर्गों को छोड़ अन्य सभी प्रकार के जहाजों को प्राप्त करने में स्वत: स्वीकृति (Automatic approval) दी गयी। निजी क्षेत्र को जिन वर्गों में वर्जित किया गया, वे हैं–रूक्ष तेल टैंकर, भार-क्षमता के प्रतिस्थापन के लिए प्राप्ति और भारतीय शिपयार्ड से जहाजों की प्राप्ति।

(2) जहाजों के विक्रय पर स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं।

(3) जहाजरानी कम्पनियों को इस इजाजत दी गयी कि वे भारतीय जहाजों से प्राप्त विक्रय-राशि विदेशों में ही रख लें जिससे नये जहाजों को प्राप्त किया जा सके।

(4) जहाजरानी कम्पनियों को भाड़े और पट्टान्तरण (Charter and demise method) के अनुसार जहाज प्राप्त करने की इजाजत दी गयी।

(5) भारतीय जहाजों को विदेशी कम्पनियों को अन्तर्राष्ट्रीय क्रास-व्यापार (Cross trade) के लिए इस्तेमाल करने के लिए कुछ समय के लिए किराए पर देने की इजाजत दी गयी।

(6) व्यापारी जहाजरानी कानून (Merchant Shipping Act), 1958 में संशोधन किया गया है ताकि भारतीय कम्पनियां अपने जहाजों को गिरवी रख कर विदेशी मुद्रा ऋण प्राप्त कर सकें।

भारतीय जहाजरानी की समस्याएँ–भारतीय ज़हाजरानी की पहली समस्या भार-सामर्थ्य (Tonnage capacity) का अपर्याप्त होना है। दूसरे, विदेशी मुद्रा (Foreign exchange) की कमी के कारण जहाजरानी के विकास में गम्भीर कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं क्योंकि जहाजरानी के विकास में विदेशी मुद्रा की भारी आवश्यकता पड़ती है। तीसरे, भारतीय जहाजरानी उद्योग की परिचालन लागत (Operating cost) काफी अधिक है। चौथे, भारतीय जहाजरानी कम्पनियों को अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों से प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। भारत सरकार जहाजरानी कम्पनियों की कठिनाइयों के बारे में सजग है और इन्हें दूर करने के प्रयास कर रही है। चाहे काफी प्रगति हुई है परन्तु यह स्थिति संतोषजनक नहीं।

बन्दरगाहों का विकास और निजी सहयोग

भारत में 12 प्रमुख बन्दरगाहें हैं जिनका प्रबन्ध भारतीय पोर्ट ट्रस्ट (Port Trust of India) द्वारा केन्द्र सरकार के आधीन लाया गया और 185 छोटी बन्दरगाहें राज्य सरकारों के आधीन कर दी गयीं। प्रमुख बन्दरगाहों द्वारा कुल यातायात के 75 प्रतिशत का प्रबन्ध किया जाता है जो कि मार्च 2005 के अन्त तक 50 करोड़ टन बढ़ जाएगा जबकि इन बन्दरगाहों की कुल सामर्थ्य (Capacity) 20.4

नोट

करोड़ टन का यातायात संभालने की है। अत: प्रमुख बन्दरगाहों की वर्तमान सामर्थ्य को जबरदस्ती खींचा जा रहा है और इस कारण माल की ढुलाई में विलम्ब और जहाज की वापसी का समय भी बढ़ जाता है। अत: वर्तमान बन्दरगाहों की आधारसंरचना (Infrastructure) बढ़ते हुए यातायात के भार का संभालने के लिए नाकाफी है। इस कारण बन्दरगाहों की सामर्थ्य बढ़ाने के लिए भारी विनियोग की जरूरत है।

चूँकि भारत सरकार बन्दरगाहों की सामर्थ्य की माँग और पूर्ति में अन्तर को पाटने के लिए उचित मात्रा में विनियोग जुटा नहीं पा रही है, इसलिए इस क्षेत्र में निजी क्षेत्र के विनियोग को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। भारत सरकार ने नयी मुम्बई में जवाहरलाल नेहरू पोर्ट की सामर्थ्य का विकास करने के लिए आस्ट्रेलिया के नेतृत्व आधीन कन्सौरटियम (Consortium) के प्रोजैक्ट को चालू करने की स्वीकृति दे दी है। अन्य बन्दरगाहें भी निजी क्षेत्र के सहयोग द्वारा सामर्थ्य विस्तार के लिए प्रोजैक्ट तैयार कर रही हैं।

वर्तमान प्रवृत्तियों के आधार पर 11वीं योजना के अन्त पर (2012), 80 करोड़ टन का माल ढोना होगा। इसके लिए क्षमता में महत्त्वपूर्ण विस्तार की आवश्यकता है और यह बड़ी छोटी बन्दरगाहों पर करना होगा। योजना ने ग़हरी समुद्रीय बन्दरगाह का विकास करने का प्रस्ताव किया है। क्षमता-विस्तार का अधिकतर भाग सार्वजनिक-निजी साझीदारी द्वारा किया जाएगा।

बन्दरगाहों को दूर-दराज के पहाड़ी इलाकों से जोड़ने के लिए पर्याप्त रेल-सड़क जुड़ाव का विशेष महत्त्व है। 11वीं योजना इसे उच्च प्राथमिकता के आधार पर प्रोन्नत करना चाहती है। इसके अतिरिक्त, सरकार बन्दरगाह-न्यासों और मुख्य प्रयोक्ताओं के साथ साझी प्रयोक्ता सुविधाएँ विकसित करेगी।

नागरिक विमान परिवहन

नागरिक विमान परिवहन की वास्तविक प्रगति 1920 में चालू हुई जब सरकार ने कुछ हवाई अड्डे बनाए। नागरिक विमान-परिवहन विभाग 1927 में स्थापित किया गया और बहुत से उड्डयन क्लब (Flying Club) कायम किए गए किन्तु प्रगति बहुत धीमी थी। दूसरे विश्व युद्ध के काल में और इसके बाद काफी प्रगति हुई। बहुत-से हवाई जहाज खरीदे गए, नई सेवाएँ चालू की गई और उनकी उड़ानें बढ़ाई गईं। 1948 में सरकार ने अपनी विमान परिवहन नीति (Aviation Policy) कीघोषणा की जिसके अनुसार आन्तरिक और बाहरी सेवाओं को कुछ निजी वाणिज्यिक कम्पनियों (Private Commercial Concerns) की सहायता देने का विश्वास दिलाना था। 1946 में, सरकार ने वायु-परिवहन लाइसेंस बोर्ड स्थापित किया। इस कारण 11 वायु परिवहन कम्पनियाँ कायम हो गईं जिससे कम्पनियों को भारी नुकसान हुए।

1950 में वायु परिवहन जाँच समिति (राजाध्यक्ष समिति) नियुक्त की गई। इस समिति ने यह सिफारिश की कि सभी कम्पनियों का समन्वय कर चार कम्पनियाँ बना देनी चाहिएँ ताकि संघाती प्रतियोगिता को समाप्त किया जा सके और प्रदेशानुसार कार्य बाँटा जा सके। चूँकि निजी कम्पनियाँ स्वेच्छापूर्वक विलयन के लिए तैयार नहीं थीं, भारत सरकार को नागरिक विमान परिवहन का राष्ट्रीयकरण करना पड़ा। इसके तीन मुख्य कारण थे–(1) राष्ट्रीयकरण से परिचालन कुशलता (Operational efficiency) बढ़ जाएगी। (2) इससे नागरिक विमान परिवहन की अच्छी व्यवस्था हो सकेगी और इस प्रकार सरकार को प्रशिक्षित तकनीशियन, पायलट आदि मिल सकेंगे; और (3) इससे नेताओं का दोहरापन कम हो सकेगा और इस प्रकार कम हो जाने से हानिघटाई जा सकेगी।

1953 में सरकार ने वायु-परिवहन निगम अधिनियम (Air Transport Corporation Act) पास किया। जिसके आधीन इण्डियन एयरलाइन्स कारपोरेशन आन्तरिक वायु सेवा के लिए एयर इण्डिया इण्टरनेशनल विदेशी वायु सेवा के लिए स्थापित की गई। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् सभी दिशाओं में प्रगति हो रही है। नए हवाई अड्डे बनाए गए। इन सब प्रयासों के परिणामस्वरूप 2002-03 में, अन्तर्देशीय (Domestic) नागरिक विमान-परिवहन के आधीन 1,640 लाख किलोमीटर उड़ान की गई, इसमें 139 लाख यात्रियों ने सफर किया और 1,462 लाख टन-किलोमीटर माल का परिवहन किया गया। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय (International) विमान परिवहन द्वारा 2002-03 में 842 लाख किलोमीटर उड़ान की गयी और इसमें 42 लाख यात्रियों ने सफर किया और 4,030 लाख टन-किलोमीटर माल का परिवहन किया गया।

जब से भारत सरकार ने इण्डियन एयरलाइन्स और एयर इण्डिया की स्थापना की, सरकार का उद्देश्य आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय वायुसेना पर एकाधिकार-नियन्त्रण (Monopoly control) कायम रखना था। इण्डियन एयरलाइन्स में औद्योगिक सम्बन्ध बहुत खराब रहे। अनेक हड़तालों ने इण्डियन एयरलाइन्स की संचालन-कुशलता (Operational efficiency) और वित्तीय निष्पादन पर दुष्प्रभाव डाला। वायुदूत जिसे स्थापित करने का उद्देश्य पोषक लाइन्स (Feeder lines) चलाना था, भीघाटे में चल रही है। 1990 के पश्चात् सरकार ने निजी क्षेत्र द्वारा एयर टैक्सी (Air Taxi) चलाने की योजना चालू की। इस योजना के आधीन भारतीय, अनिवासी भारतीयों या सार्वजनिक उद्यमों द्वारा भी परमिट के लिए आवेदन दिए जा सकते हैं। एयर-टैक्सियों को सभी अधिकृत हवाई अड्डों पर टैक्सियाँ चलाने की इजाजत है और वे अपने किराये एवं भाड़े स्वयं तय कर सकते हैं।

प्राय: नागरिक विमान परिवहन के सम्बन्ध में नीतियों में परिवर्तन हुए हैं और इण्डियन एयरलाइन्स के एकाधिकार को चुनौती दी जा रही है ताकि वायुसेना को प्रतियोगी और परिणामत: अधिक कुशल बनाया जा सके। भारत सरकार ने देशीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विनियोक्ताओं के नये अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डों के विकास और उन्हें देशीय हवाई अड्डों पर आधार संरचना सहायता के विस्तार के लिए आमंत्रित किया है।

नागरिक विमान परिवहन के क्षेत्र में भी नीति-परिवर्तन किया गया और इण्डियन एयर लाइन्स के एकाधिकार को समाप्त कर नयीं निजी एयर लाइन्स को इजाजत दी गयी। इस प्रकार भारत में विमान सेवाएं प्रतिस्पर्द्धी बन गयीं और परिणामत: अधिक कुशल भी हो गयीं। पिछले कुछ वर्षों से भारत सरकार एयर इण्डिया के निजीकरण का प्रयास कर रही है। 1992-93 तक, एयर इण्डिया लाभ कमाने वाला उद्यम था। इसके पश्चात् इसकी स्थिति बिगड़ती गयी और इसमें भारीघाटा होने लगा।

भारत सरकार ने इंडियन एयर लाइंस और एयर इंडिया के निजीकरण की नीति छोड़ दी है। इसकी अपेक्षा, वह इन का बड़े पैमाने पर विस्तार करेगी और इनकी कुशलता को प्रोन्नत करेगी। भारत सरकार ने ऐसी निजी कम्पनियों को जिन्होंने देशीय परिचालन में 5 वर्ष पूरे कर लिए हैं, विश्व में किसी गंतव्य स्थान के लिए उड़ान भरने की इजाजत दे सकती है। इसमें खाड़ी के देश और पश्चिम एशिया के देश शामिल नहीं।

भारत सरकार ने दिल्ली और मुम्बई के हवाई अड्डों के आधुनिकीकरण, उन्नयन एवं परिचालन के लिए दो संयुक्त जोखिम कम्पनियों (Joint Venture Companies) का चयन किया है। यह अनुमान लगाया गया है कि दिल्ली और मुम्बई के हवाई अड्डों के लिए क्रमश: 7,960 करोड़ रुपये और 6,130 करोड़ रुपये की पूंजी की आवश्यकता होगी। सरकार ने यह निर्णय भी सिद्धान्त रूप में किया है कि चैन्नई एयरपोर्ट का भी आधुनिकीकरण किया जाए।

नोट -

यहां इस बात का उल्लेख करना भी उचित होगा कि सरकार ने बंगलूर एवं हैदराबाद के दो हवाई अड्डों की अंतर्राष्ट्रीय स्तर के बनाने के लिए निर्माण-कार्य आरम्भ कर दिया है। ये दो एयरपोर्ट 2008 तक संकार्य हो जाएंगे। सिद्धान्त रूप में गोवा, अहमदाबाद और त्रिवेन्द्रम (Trivandrum) के एयरपोर्ट भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का कायम करने का निर्णय लिया गया है।

निजी एयरलायनों (Private Airlines) के प्रवेश और विशेषकर निम्न लागत कैरियर (:Low cost carriers) के आने के पश्चात्, देशीय ट्रैफिक (Domestic Traffic) में 25 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई है। प्राइवेट एयरलाइन अब 70 प्रतिशत देशीय टैरिफ के लिए जिम्मेदार हैं। हवाई जहाजों में सफ़र करने वाली सवारियों के रूप में भी परिवर्तन हुआ है। भारत को सूचना तकनालाजी के क्षेत्र और विनिर्माण केन्द्र के रूप में नया अन्तर्राष्ट्रीय दर्जा मिलने के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय एयर ट्रैफिक में वृद्धि हुई है। चीन के बाद, विश्व में देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय एयर ट्रैफिक की वृद्धि में वस्तुत: भारत का स्थान है।

3.10 भारत में संचार प्रणाली

संचार प्रणाली में डाक एवं तार, टेली-संचार व्यवस्था, प्रसारण, दूरवीक्षण और सूचना उपलब्ध कराकर और आवश्यक प्रेरणा देकर भी, संचार प्रणाली क्रेताओं एवं विक्रेताओं को प्रभावी रूप में जोड़ती है और इस प्रकार अर्थव्यवस्था को त्वरित करती है।

भारत में डाक प्रणाली

1950-51 के पश्चात् डाक प्रणाली का देश भर में लगातार विस्तार किया गया और हाल ही के वर्षों में, विशेष बल ग्रामीण, पहाड़ी और दूरदराज के जनजातीय क्षेत्रों पर दिया गया। देश में 31 मार्च, 2003 पर 1.56 डाकघर हैं और इस प्रकार भारत की डाक व्यवस्था विश्व में सबसे बड़ी है। भारत सरकार के डाक व्यवस्था विश्व में सबसे बड़ी है। भारत सरकार के डाक सेवा विभाग का दीर्घकालीन लक्ष्य प्रत्येक गांव से 3 किलोमीटर के अन्दर एक डाकघर उपलब्ध कराना है। आज यह अनुमान लगाया गया है कि 1,10,000 ग्राम पंचायत गांव ऐसे हैं जिनमें डाकघर नहीं है। डाक विभाग ठेके के आधार पर इन गांवों में पंचायतों के आधार पर संरचना का प्रयोग करके डाक सेवाएं उपलब्ध कराता है। इसे पंचायत संचार सेवा योजना भी कहते हैं। हाल ही में चालू की गयी इस योजना के दो लाभ हैं-(क) जरूरतमंद क्षेत्रों को कम सरकारी खर्च करके डाक सेवा उपलब्ध कराना और (ख) इन क्षेत्रों में रोजगार के अवसरों को बढ़ावा देना।

डाक विभाग ने अपने आधुनिकीकरण के प्रोग्राम द्वारा ग्राहकों को नयी मूल्य वृद्धि सेवाएं (Value added services) मुहय्या कराने पर बल देना आरम्भ किया है। इनमें शामिल हैं-

(क) डाक क्रियाओं जैसे डाक विधायण (Mail processing)] बचत बैंकों एवं सामग्री प्रबन्ध का कम्प्यूटरीकरण;

(ख) मैट्रो चैनल सेवा द्वारा छ: मैट्रो को परस्पर जोड़ना;

(ग) राज़धानी चैनल आरम्भ कर दिल्ली को सभी राज्यीय राजधानियों (State capitals) से जोड़ना; और

(घ) एक व्यापारिक चैनल द्वारा पिनकोड वाली व्यापारिक डाक को अलग से भेजना।

हाल ही के वर्षों में डाक क्रिया की बहुत-सी दिशाओं में स्वस्थ वृद्धि हुई है जैसे द्रुत गति डाकघर (Speed Post Office), डाक बीमा योजना जोकि अब 20 लाख बीमा पालिसियों द्वारा

लगभग 5,000 करोड़ रुपये का बीमा करती है और डाक योजना और डाक बचत बैंकों द्वारा ग्राम क्षेत्रों तक सेवा फैलाना, आदि।

निजीकरण और उदारीकरण की सामान्य प्रवृत्ति के अनुरूप, भारत सरकार ने डाक सेवा पर अपना एकाधिकार कम करने के लिए गैर-सरकारी कोरियर सेवा (Courier Service) को औपचारिक स्थान दे दिया है।

नोट

पोस्टल विभाग के बारे में चिन्ता का विषय यह है कि यह लगातारघाटे में चल रहा है। 2002-03 के दौरान इसकाघाटा 1,364 करोड़ रुपये था। 2004-05 में यह 1,457 करोड़ रुपये हो गया।

भारतीय तार विभाग

भारतीय तार विभाग विश्व की सबसे पुरानी सरकारी सार्वजनिक उपयोगिता (Public utility) है। भारत में तारघरों की संख्या जो 1951 में 8,200 थी बढ़ अब 30,000 हो गयी है। फोनोग्राम सेवा (Phonogram Service) जिसके द्वारा टेलीफोन से तार भेजे और प्राप्त किए जा सकते हैं, टेलैक्स सेवा (Telex Service) जिससे छपे हुए सन्देश भेजे या प्राप्त किया जा सकते हैं, टेलीफोन सेवा के भारी विस्तार और प्रत्यक्ष ट्रंक डायलिंग (Direct Trunk Dialing) ये सब सुविधाएँ अब सामान्य जनता को उपलब्ध हैं।

दूरसंचार

वैश्विक प्रतिस्पर्द्धा के लिए दूरसंचार अब एक महत्वपूर्ण आदान (Input) है और इससे ही भारत अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में सफलता प्राप्त कर सकता है। इसके द्वारा देश के कोने-कोने में संचार के लाभ पहुंचाए जा सकते हैं और यह प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को आकर्षित करने में भी लाभदायक हो सकती है।

टेली संचार नीति (1999)

टेली संचार आधारसंरचना (Telecom Infrastructure) को उपलब्ध कराने और उसके प्रबन्ध के बारे में काफी अस्पष्टता थी। टेलीसंचार सेवा विभाग (Department of Telecom Services) और टेली संचार क्रियाओं का विभाग दो सेवाएं उपलब्ध कराने वाले विभाग थे। महानगर टेलीफोन निगम लिमिटेड (MTNL) और भारत संचार निगम लि. दो सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियां थीं जो दिल्ली और मुम्बई में बुनियादी टेलीफोन सेवाएं उपलब्ध कराती थी (एम.एन.टी.एल.) और देश के शेष भागों में भारत संचार निगम लि. सेवाएं उपलब्ध कराती थी। 1999 की नयी टेली संचार नीति (Telecom Policy) के आधीन भारत संचार निगम लि. अक्टूबर 2000 में स्थापित किया गया ताकि यह सभी प्रकार की सेवाएं उपलब्ध कराए।

नयी टेली संचार नीति के अधीन

1. टेली संचार विभाग अपना सारा ध्यान नीति निर्माण, लाइसेंस देने और टेलीकाम क्षेत्र के सामने अन्य मुद्दों पर केंद्रित करेगा।
2. एम.टी.एन.एल. और बी.एस.एन.एल. को दिल्ली एवं मुम्बई और देश के अन्य भागों में बुनियादी टेलीफोन सेवाएं (Basic Telephone Services) उपलब्ध कराने की इजाजत होगी ओर वे सेल्युलर मोबाइल टेलीफोन सेवाएं भी चलाएंगे।

नोट

3. दो सार्वजनिक सेवाएं उपलब्ध कराने वाली कम्पनियों अर्थात् डज्छस और ठैछस की सहायता के लिए और बुनियादी टेलीफोन सेवा में प्रतिस्पर्द्धा सुनिश्चित करने के लिए, निजी कम्पनियों को भी बुनियादी सेवाएं प्रदान करने के लाइसेंस जारी किए जाएंगे। अभी तक सात निजी कम्पनियों ने सरकार के साथ लाइसेंस संधियां की हैं। ये सेवाएं अब आंध्र प्रदेश, पंजाब, तमिलनाडु और दिल्ली में उपलब्ध करायी जा रही है।

   2001-03 के दो वर्षों के दौरान, 25 और नयी बुनियादी लाइसेंस संधियाँ निजी चालकों के साथ की गयी है।
4. अन्तर्राष्ट्रीय लम्बे फासले की सेवा को निजी चालकों के लिए अप्रतिबन्धात्मक रूप में खोल दिया गया है और विदेश संचार निगम लि. का एकाधिकार समाप्त कर दिया गया है। अब इस निगम का निजीकरण कर दिया है। नीति सम्बन्धी इन उपायों से लम्बे फासले के टैरिफ (राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों) में प्रतिस्पर्द्धी दबाव के परिणामस्वरूप महत्त्वपूर्ण कमी हुई है।
5. भारत सरकार ने भारतीय टेली संचार विनियामक प्राधिकार (Telecom Regulatory Authority of India—IRAI) की स्थापना की है जो टेली संचार टैरिफ निर्धारित एवं विनियमित करेगी। इस प्राधिकार के पास सिफारिश करने और विनिमय करने के दोनों कार्य हैं। इसने टेली संचार टैरिफ के मुक्तिकरण की क्रिया आरम्भ की हैं इसके मासिक किराया बढ़ा दिया है परन्तु एस.टी.डी. और आई.एस.डी. टैरिफघटा दिए हैं।
6. भारतीय टेली संचार विनियामक प्राधिकार के निर्णय से सम्बन्धित विवादों को सुलझाने के लिए भारत सरकार ने विवाद समाधान एवं अपीलीय न्यायाधिकरण (Dispute Settlement and Appellate Tribu- nal) स्थापित किया है।

टेली संचार क्षेत्र में हाल ही में हुई प्रगति

टेली संचार क्षेत्र में हाल ही के वर्षों में जो परिवर्तन हुआ है, वह इस प्रकार है–

1. बहुत से गांवों में अब वायरलैस में स्थानीय लूप (Wireless in local loop—WLL) पहुंच चुका है।
2. राष्ट्रीय इंटरनेट रीढ़ (National Internet Backbone) अब आरम्भ हो गया है।
3. चूँकि लम्बी दूरी के टेली संचार (राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों) को प्रतिस्पर्द्धा के लिए खोल दिया गया है, इस कारण लम्बी दूरी के टैरिफ अब कम हो गए हैं। इससे बुनियादी सेवाएं उपलब्ध कराने वाले (MTNL vkSj BSNL) टेलीकाम चालकों के लाभ-लागत अन्तर (Margin) कम हो गए हैं। टेलीकाम विनियामक प्राधिकार (TRAI) ने अन्तःकनेक्शन के प्रयोग की दरें अभिसूचित कर दी हैं।
4. भारत के गांवों में टेलीकाम सेवाएं अपर्याप्त हैं। ग्रामों एवं दूरदराज के इलाकों में टेलीकाम सेवाएं बढ़ाने के लिए, टेलीकाम विभाग ने सर्वव्यापक सेवा दायित्व (Universal Service Obligation—USO) को लागू करने के लिए मार्गदर्शी सिद्धान्त जारी कर दिए हैं। सभी टेलीकाम चालकों को अपने कुल राजस्व पर 5 प्रतिशत सर्वव्यापक उपकर (Universal levy) देना होगा जिससे प्राप्त राजस्व सर्वव्यापक सेवा निधि में डाला जाएगा और इसका प्रयोग एक प्रशासक द्वारा किया जाएगा। सर्वव्यापक सेवा निधि में प्राप्त राशि का प्रयोग ग्रामों में सार्वजनिक या सामुदायिक टेलीफोन लगाने के लिए किया जाएगा।

5. नयी टेलीकाम नीति (1999) के अनुसार, प्रत्येक गांव में दिसम्बर 2002 तक एक सार्वजनिक टेलीफोन उपलब्ध कराना था। यह दायित्व भारत संचार निगम एवं लाइसेंस-प्राप्त निजी चालकों को दिया गया था। जहां भारत संचार निगम ने 5,03,610 ग्रामों में दिसम्बर 2002 तक ग्राम सार्वजनिक टेलीफोन उपलब्ध करा दिए हैं, निजी चालकों ने 97,800 टेलीफोन लगाने थे परन्तु उन्होंने केवल 7,120 ग्राम सार्वजनिक फोन लगाए हैं।

1995 के पश्चात् दूर-संचार क्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। सार्वजनिक क्षेत्र का दूरसंचार नेटवर्क एशिया में सबसे बड़ा है और इसके लिए भारत संचार निगम लि. और महानगर निगम लि. को 500 लाख लाइन स्थापित करने की क्षमता है।

भारत में 2001-02 में कुल 450 लाख टेलीफोन, थे जिनमें 85.5 प्रतिशत अचल लाइन (Fixed line) थे और 14.5 प्रतिशत मोबाईल टेलीफोन थे परन्तु 2005-06 के दौरान टेलीफोनों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई और ये 1.258 लाख तक पहुंच गए। जहां तक अचल लाइन फोनों का सम्बन्ध है, इनकी संख्या 2001-02 में 384 लाख से बढ़कर 2005-06 में 477 लाख हो गयी अर्थात् इसमें 24.2 प्रतिशत की वृद्धि हुई परन्तु मोबाइल टेलीफोनों की संख्या 2001-02 में 65 लाख से बढ़कर 2005-06 में 781 लाख हो गयी अर्थात् 1,094 प्रतिशत की वृद्धि। जाहिर है कि अधिक सुविधाजनक होने के कारण लोग मोबाइल टेलीफोनों को तरजीह देते हैं। अचल लाइन टेलीफोनों में सार्वजनिक क्षेत्र का प्रभुत्व है। 2005-06 में टेलीफोनों में सार्वजनिक टेलीफोनों का भाग 407 लाख है अर्थात् कुल का 85.3 प्रतिशत परन्तु मोबाइल टेलीफोनों में सार्वजनिक क्षेत्र पीछे रह गया है और निजी क्षेत्र का विस्तार बहुत तेजी से हो रहा है और 2005-06 में कुल 781 लाख मोबाइल टेलीफोनों में निजी क्षेत्र का भाग 616 लाख अर्थात् 77.6 प्रतिशत था और सार्वजनिक क्षेत्र का 165 लाख टेलीफोन अर्थात् 22.4 प्रतिशत। हाल ही में मोबाइल टेलीफोनों की टैरिफ दरों में तेजी से गिरावट के कारण भी इस क्षेत्र का तीव्र-विस्तार हुआ है।

3.11 भारतीय वित्तीय प्रणाली

मोटे तौर पर, वित्त या मौद्रिक संसाधनों (Monetary Resources) की आवश्यकता व्यक्तियों, व्यापारिकघरानों और सरकार को पड़ती है। व्यक्तियों और परिवारों को अपने दैनिक जीवन की जरूरतों के लिए या पूंजी वस्तुएं खरीदने (जिन्हें आम भाषा में निवेश कहा जाता है) के लिए वित्त की जरूरत पड़ती है। एक व्यापारिक इकाई–फैक्टरी या वर्कशाप को वेतन देने, नयी मशीनरी खरीदने या पुरानी मशीनरी के प्रतिस्थापन आदि के लिए वित्त की जरूरत पड़ती है। किसानों को 12 से 15 महीनों की छोटी-सी अवधि के लिए वित्त जुटाने की आवश्यकता होती है ताकि वे कृषि कार्य के लिए बीज, खाद, पशुओं के लिए चारा आदि खरीद सकें। ऐसे अल्पकालीन ऋणों को किसान प्रायः फसल कटने के बाद अदा कर देते हैं। किसानों को मध्यम और दीर्घकाल-अर्थात् 5 या 10 वर्षों के लिए, वित्त की आवश्यकता पड़ती है ताकि वे पशु, कृषि-मशीनरी और औजार खरीद सकें, उन्हें कुएं खोदने या भूमि पर स्थायी उन्नति करने के लिए भी वित्त की जरूरत पड़ती है। अन्तिम, सरकार को वस्तुओं और सेवाओं के लिए, राजस्व-व्यय (Revenue Expenditure) के लिए और विकास प्रोग्रामों अर्थात् पूँजी व्यय (Capital expenditure) के लिए वित्त की जरूरत पड़ती है।

भारतीय वित्तीय प्रणाली का अभिप्राय राशियों को उधार पर लेना और उन्हें उधार पर देना है, अथवा सभी व्यक्तियों, संस्थानों, कम्पनियों और सरकारों द्वारा धन-राशियों की माँग और पूर्ति की जाती है। आम तौर पर वित्तीय प्रणाली को इस प्रकार वर्गीकृत किया जाता है—

(i) **औद्योगिक वित्त** (Industrial Finance)–उद्योग एवं व्यापार के लिए आवश्यक धन-राशि;

(ii) **कृषि-वित्त**–कृषि तथा सम्बन्धित क्रियाओं को चलाने के लिए आवश्यक वित्त और इसकी पूर्ति;

नोट

(iii) **विकास-वित्त** (Development Finance)–विकास के लिए आवश्यक वित्त; वास्तव में; इसमें औद्योगिक वित्त एवं कृषि वित्त दोनों ही शामिल किए जाते हैं; और

(iv) **राजकीय वित्त** (Government Finance)–का सम्बन्ध सरकारी व्यय की पूर्ति के लिए वित्त की माँग एवं पूर्ति से है।

मोटे तौर पर भारतीय वित्तीय प्रणाली के निम्नलिखित मुख्य अंग हैं–

(क) बैंक-प्रणाली, बीमा कम्पनियाँ, पारस्परिक निधियाँ (Mutual fund), विनियोग निधियाँ और अन्य संस्थान हैं जो जनता में बचत को प्रोन्नत करते हैं, उनकी बचत एकत्र करते हैं और उसे वास्तविक विनियोक्ताओं को हस्तांतरित करते हैं।

(ख) देश के विनियोक्ताओं में वैयक्तिक विनियोक्ता, औद्योगिक एवं व्यापारिक कम्पनियाँ और सरकार शामिल हैं–वे वित्तीय प्रणाली में उधार लेने वालों के रूप में प्रवेश करते हैं।

इन संस्थानों के अतिरिक्त, भारतीय वित्तीय प्रणाली में कुछ अनिवार्य संस्थान भी शामिल हो जाते हैं, वे वस्तुत: सुविधाजनकों (Facilitators) का कार्य करते हैं। उदाहरणार्थ, नये हिस्सा-पूँजी बाजार (New Issue Market) द्वारा स्टॉक एवं शेयर के नये निर्गमों (New Issues) द्वारा अतिरिक्त बचत प्रवाहित की जाती है। इस प्रकार, भारत के स्टाक एक्सचेंज (Stock exchanges) कम्पनियों के हिस्सों एवं ऋण पत्रों (Debentures) के क्रय-विक्रय द्वारा बचतकर्त्ताओं को अपनी बचत को एक प्रकार के विनियोग से दूसरे प्रकार के विनियोग में परिवर्तित करने में सहायता देते हैं।

भारतीय वित्तीय प्रणाली के कार्य : पूँजी निर्माण को बढ़ावा देना आर्थिक विकास के लिए पूँजी निर्माण की ऊँची दर ज़रूरी है। पूँजी निर्माण की क्रिया निम्नलिखित अवस्थाओं पर निर्भर करती है–

(क) **बचत में वृद्धि**–जिसका अभिप्राय संसाधनों के उपयोग को उपभोक्ता उद्देश्यों से हटाकर अन्य उद्देश्यों के लिए मुक्त करना है।

(ख) **बचत को गतिमान करना**–देशीय बचत बैंक एवं वित्तीय संस्थानों द्वारा एकत्र की जाती हैं और वास्तविक विनियोक्ताओं को उपलब्ध करायी जाती है।

(ग) **विनियोग-विशेष** (Investment proper)–का अर्थ पूँजी वस्तुओं का उत्पादन है।

तीसरी अवस्था अर्थात् वास्तविक पूँजी निर्माण की प्रक्रिया तब तक चालू नहीं हो सकती जब तक कि पहली दो प्रक्रियाएँ पूरी न हो जाएँ। बैंकिंग एवं वित्तीय संस्थानों का पूँजी निर्माण की प्रक्रिया में महत्त्व इस बात में है कि भारत में जो व्यक्ति या संस्थान बचत करते हैं, वे सामान्यतया विनियोग नहीं करते। वित्तीय संस्थान और बैंक अन्तर्वार्तियों (Intermediaries) का कार्य करते हैं जो बचतकर्त्ताओं और विनियोक्ताओं को एक-दूसरे से जोड़ते हैं।

भारतीय वित्तीय प्रणाली की संरचना

भारतीय वित्तीय प्रणाली के दो अंग हैं–भारतीय मुद्रा बाजार (Indian Money Market) और भारतीय पूँजी बाजार (Indian Capital Market)। भारतीय मुद्रा बाजार वह बाजार हैं जिसमें अल्पकालीन

राशियों (Short-term funds) के रूप में उधार लिया जाता और उधार दिया जाता है। इसके विरुद्ध, भारतीय पूँजी बाजार मध्यमकालीन एवं दीर्घकालीन राशियों के लिए होता है।

आमतौर पर भारतीय मुद्रा बाजार को संगठित क्षेत्र और असंगठित क्षेत्र में वर्गीकृत किया जाता है। मुद्रा बाजार के संगठित क्षेत्र (Organised sector) में वाणिज्य बैंक, जिनमें निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक और विदेशी बैंक भी हैं, शामिल किए जाते हैं। असंगठित क्षेत्र (Unorganised sector) में देशी बैंकर जिनमें गैर-बैंकिंग वित्तीय कम्पनियाँ (Non-banking financial companies-NBFCs) भी हैं, शामिल की जाती है।

3.12 मुद्रा बाजार

सुव्यवस्थित मुद्रा बाजार प्रभावी मौद्रिक नीति का आधार होता है। मुद्रा बाजार (Money market) की परिभाषा अल्पकाल के लिए उधार लेने और उधार देने वाले बाजार के रूप में की जा सकती है। इससे उधार लेने वालों को अल्पकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। मुद्रा बाजार वह स्थान है जहाँ वित्तीय तथा अन्य संस्थानों और व्यक्तियों के पास उपलब्ध विनियोज्य निधियाँ (Investible funds) उधार प्राप्त करने वालों द्वारा अल्पकाल के लिए उधार ली जाती हैं। उधार लेने वालों में संस्थान, व्यक्ति या स्वयं सरकार भी हो सकती है। मुद्रा बाजार में रिज़र्व बैंक को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है और वह बाजार में करेन्सी तथा उधार के प्रवाह को नियन्त्रित करता है। सामान्यतया भारतीय मुद्रा बाजार को दो भागों में बाँट लिया जाता है: असंगठित और संगठित क्षेत्र। इन दोनों क्षेत्रों में विद्यमान ब्याज की दरों में काफी अन्तर रहता है। असंगठित मुद्रा क्षेत्र (Unorganised monetary sector) में देशी बैंक समाविष्ट किए जाते हैं जे अपना बैंक-व्यापार पारम्परिक ढंग से करते हैं। संगठित मुद्र क्षेत्र (Organised monetary sector) में रिज़र्व बैंक, स्टेट बैंक ऑफ इंडिया और इसके अनुषंगी बैंक, 20 राष्ट्रीयकृत बैंक और गैर-सरकारी क्षेत्र के अन्य बैंक-भारतीय और विदेशी दोनों शामिल किए जाते हैं। भारतीय मुद्रा-बाजार के संगठन में बड़ी ढील पाई जाती है और 1935 में रिज़र्व बैंक के आरम्भ से पूर्व इसमें बहुत-सी कमियाँ विद्यमान थीं। कुछ कमियाँ तो अब तक भी पायी जाती हैं। अब हम उनमें से कुछ का विवेचन करेंगे।

भारतीय मुद्रा बाजार के दोष

1. **एकीकरण का अभाव** (Lack of Integration)—भारतीय मुद्रा-बाजार का एक महत्त्वपूर्ण दोष मुद्रा-बाजार का बहुत से खण्डों या क्षेत्रों में विभक्त होना था। ये खण्ड या क्षेत्र एक-दूसरे से बहुत ही ढीले रूप में सम्बन्धित थे। एक समय था जब प्रत्येक खण्ड अर्थात् इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया (जो अब स्टेट बैंक कहलाता है), विनिमय बैंक, भारतीयों के स्वामित्वाधीन संयुक्त स्कन्ध बैंक, सहकारी बैंक और देशी बैंक-सभी बैंक व्यापार के किसी एक अंग का कार्य ही करते थे और इस प्रकार अपने व्यापार-क्षेत्र में उक-दूसरे से स्वतन्त्र थे। इसके अतिरिक्त मुद्रा-बाजार के विभिन्न खण्डों के सम्बन्ध स्नेहपूर्ण न थे। उदाहरणार्थ, संयुक्त स्कन्ध-बैंक (Joint stock banks) इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया तथा विदेशी बैंकों से ईर्ष्या करते थे क्योंकि भारत में ब्रिटिश शासन इनका संरक्षण अपना दायित्व समझता था। 1949 के बैंकिंग विनिमयन अधि नियम के पास होने के पश्चात् रिज़र्व बैंक द्वारा सभी बैंकों को लाइसेंस देने, शाखाएँ खोलने, हिस्सा पूँजी प्राप्त करने, दिए गए ऋण तथा अग्रिम के प्रकार आदि के बारे में एक-सा बर्ताव दिया जाने लगा।

नोट

रिज़र्व बैंक ने अब मुद्रा बाजार के संगठित क्षेत्र को अपने प्रभावाधीन कर लिया है क्योंकि यह अब संगठित क्षेत्र की क्रियाओं पर नियन्त्रण करने की स्थिति में है। इसी प्रकार अधिक काम-काज के मौसम में वाणिज्य एवं सरकारी बैंक बट्टा तथा उधार सुविधाओं के लिए अधिकाधिक सीमा तक रिज़र्व बैंक पर निर्भर हो गए हैं। इसके अतिरिक्त, रिज़र्व बैंक इनकी उधार नीतियों (Lending policies) का मार्गदर्शन करता है और नियमित रूप में वाणिज्य बैंकों के हिसाब-किताब का परीक्षण भी करता है।

2. **असंगठित मुद्रा बाजार का विद्यमान होना**—इस सम्बन्ध में मुख्य दोष संगठित मुद्रा बाजार का देशी बैंकरों से पृथक होना है। असंगठित बाजार में, अल्पकालीन और दीर्घकालीन वित्त में कोई स्पष्ट भेद नहीं होता, और न ही वित्त के विभिन्न उद्देश्यों में ही कोई भेद होता है। रिज़र्व बैंक ने देशी बैंकरों को अपने प्रत्यक्ष प्रभावाधीन लाने के लिए कई प्रयास किए परन्तु ये सफल न हुए, क्योंकि जो शर्तें रिज़र्व बैंक द्वारा देशी बैंकरों पर लगाई गयीं, उन्हें देशी बैंकरों ने स्वीकार न किया। जिस हद तक देशी बैंकर संगठित मुद्रा बाजार के प्रभाव-क्षेत्र के बाहर रहेंगे, उस हद तक रिज़र्व बैंक का समग्र मुद्रा बाजार पर नियन्त्रण सीमित होगा। किंतु देशी बैंकर संगठित बैंक-व्यवस्था के आधीन इसलिए आ रहे थे क्योंकि इन्हें उपरोक्त से बट्टा सुविधाएँ (Rediscounting facilities) प्राप्त हो रही थीं।

3. **ब्याज की मौद्रिक दर में भिन्नता**—मुद्रा बाजार का एक और महत्त्वपूर्ण दोष बहुत-सी ब्याज की मौद्रिक दरों का विद्यमान होना है। भारतीय मुद्रा बाजार के बहुत से खण्डों एवं क्षेत्रों में विभक्त होने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक था। इनमें सरकार की उधार प्राप्त करने की दर, वाणिज्य बैंकों की जमा एवं उधार दरें, सहकारी बैंकों की दरें, प्रत्यक्ष वित्तीय संस्थानों की दरें, आदि हैं। इतनी अधिक ब्याज दरों के एक साथ विद्यमान होने का मूल कारण मुद्रा-बाजार के विभिन्न क्षेत्रों में पूँजी की गतिहीनता (Immobility of capital) है। यह दोष अब दूर किया जा चुका है। हाल ही के वर्षों में विभिन्न मौद्रिक दरें केन्द्रीय बैंक दर में परिवर्तन के साथ शीघ्र ही सामंजस्य कायम कर लेती है।

4. विभिन्न केन्द्रों में ब्याज-दर की असमानता—एक और लक्षण दो मुख्य केन्द्रों अर्थात् मुम्बई और कोलकाता में मौद्रिक दरों में काफी असमानता का विद्यमान होना हैं। इसके कारण प्रतिभूतियों की कीमतों में उच्चावचन और व्यापार की गतिविधि पर कई प्रतिक्रियाएँ होती हैं। चाहे रिज़र्व बैंक को स्थापित हुए लगभग 70 वर्ष हो गए हैं, फिर भी मौद्रिक दरों में अन्तर आज भी विद्यमान है। किन्तु रिज़र्व बैंक ने देश के विभिन्न भागों में राशियों के प्रेषण (Remittance of funds) को सस्ता एवं विधिवत् बना दिया है और इस प्रकार देशभर में मौद्रिक दरों को समान करने में सहायता दी है।

5. **मुद्रा की मौसमी तंगी**—भारतीय मुद्रा बाजार का एक और प्रकट लक्षण मुद्रा की मौसमी तंगी (Seasonal stringency) है और वर्ष के एक भाग में अर्थात् नवम्बर से जून के बीच व्यक्त मौसम में जब फसलों को ग्रामों एवं जिलों से नगरों तथा बन्दरगाहों तक ले जाना पड़ता है—मुद्रा की ऊँची दरें विद्यमान होना है। वर्ष के एक भाग और दूसरे भाग के बीच भी मौद्रिक दरों में काफी भिन्नता पाई जाती है। 1935 से पूर्व याचना-मुद्रा दर (Call-money rate) कभी-कभी व्यस्त मौसम में 7 से 8 प्रतिशत होती, परन्तु कम काम-काज के मौसम (Slack season) में गिरकर 1 प्रतिशत और कई बार 0.5 प्रतिशत भी हो जाती है।

आरम्भ से ही रिज़र्व बैंक ने यह चेष्टा की है कि मुद्रा-बाजार में अल्पकालीन दरों में मौसमी उच्चावचन को कम करने में सहायता दे। रिज़र्व बैंक अधिक काम-काज के मौसम में मुद्रा बाजार में मुद्रा डाल देता है और इसे कम काम-काज के मौसम में वापस ले लेता है। अत: इसके फलस्वरूप भारतीय मुद्रा-बाजार में न अधिक बाहुल्य हो सकता है और न न्यूनता। साथ ही याचना मुद्रा दरों में भिन्नता समाप्त कर दी गई है।

6. **विनिमय-पत्र बाजार (Bill Market) का विकसित न होना**—मुद्रा बाजार का एक और मुख्य दोष विनिमय-पत्र बाजार का विकसित न होना है। किसी भी देश में कुशल मुद्रा बाजार की स्थापना के लिए आवश्यक है कि एक सुसंगठित विनिमय-पत्र बाजार कायम किया जाए ताकि उधार पद्धति निर्बाध्न रूप से कार्य कर सके। देश के विभिन्न उधार संस्थानों को अन्तत: और प्रभावी रूप में केन्द्रीय बैंक के साथ सम्बन्धित करने की दृष्टि से भी पत्र बाजार का विकास आवश्यक है। कुछ एक ऐतिहासिक कारणों के फलस्वरूप भारत में विनिमय-पत्र बाजार का विकास नहीं हो सका। इन कारणों में तरलता प्रयोजनों (Liquidity purposes) के लिए नकदी की अधिक मात्रा की आवश्यकता; विनिमय-पत्रों का बट्टा करवाने की अपेक्षा उधार प्राप्त करने में प्राथमिकता, नकद-साख प्रणाली, आदि शामिल किए जाते हैं। परन्तु विनियम-पत्रों के बाजार का विकास न होने का मुख्य कारण विदेशियों के स्वामित्वाधीन विनिमय बैंकों का विदेशी व्यापार में विनिमय करना और लन्दन मुद्रा बाजार में विनिमय पत्रों का बट्टा करना या उन्हें परिपक्व होने तक अपने पास रखना है। 1952 में रिज़र्व बैंक ने विनिमय-पत्र बाजार योजना बनाई, जो वास्तव में विनिमय-पत्रों का बाजार नहीं था परन्तु वाणिज्य बैंकों के लिए रिज़र्व बैंक से उधार लेने का एक उपाय था।

7. **सुसंगठित बैंक प्रणाली की अनुपस्थिति**—भारतीय मुद्रा बाजार का एक और दोष सुसंगठित बैंक प्रणाली का विकास न होना है। बैंकों का शाखा विस्तार भी मन्द गति से हुआ है। देश में बड़े बैंकों की संख्या बहुत थोड़ी है और वास्तविक दृष्टि से बहुत बड़े बैंक तो कुछ एक ही हैं। ये बैंक अधिकतर बड़े नगरों तथा मण्डियों में स्थित हैं। पूँजी की गतिशीलता में अत्यधिक मन्दता और विभिन्न ब्याज दरों का विद्यमान होना देश में शाखा विस्तार की मन्द गति के लिए उत्तरदायी हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् और विशेषकर बैंक विनियमन अधिनियम, 1949 के पारित होने के बाद, बैंक प्रणाली पर रिज़र्व बैंक बहुत गहरा प्रभाव और नियन्त्रण रखने लगा है। विलयन और समामेलनों द्वारा बैंकों की संख्या बहुत कम कर दी गई हैं।

भारतीय मुद्रा बाजार-एक अल्पविकसित मुद्रा बाजार

मुद्रा बाजार के ऊपर दिए गए लक्षणों से यह विदित होता है कि भारतीय मुद्रा बाजार बहुत ही अविकसित है और इसकी तुलना लन्दन मुद्रा बाजार जैसे उन्नत मुद्रा बाजारों से नहीं की जा सकती। यह एक ऐसा मुद्रा बाजार है जिसे बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थान (Financial institution) अल्पकाल के लिए उधार देते या इससे उधार प्राप्त करते हैं।

प्रथम, भारतीय मुद्रा बाजार के पास इसके कार्यकलाप की सफलता के लिए एक संगठित बैंक व्यवस्था उपलब्ध नहीं है। दूसरे, इसके पास अल्पकालीन परिसम्पतों (अर्थात् विनिमय पत्रों, राजकोषीय पत्रों (Treasury bills) या अल्पकालीन सरकारी बाण्डों) का पर्याप्त एवं निरन्तर संभरण प्राप्त नहीं है। तीसरे, भारत में अल्पकालीन परिसम्पतों (Short-term assets) के कोई व्यापारी नहीं

है जो सरकार एवं बैंकिंग प्रणाली के बीच मध्यवर्तियों (Intermedi- aries) का कार्य कर सकें। इस सम्बन्ध में हमें लन्दन मुद्रा बाजार में बट्टाघरों (Discount houses) और विनिमय पत्रों के दलालों के महत्त्वपूर्ण भाग को दृष्टि में रखना होगा। चौथे, भारतीय मुद्रा बाजार में कुछ बहुत ही आवश्यक उप-बाजार (Sub-market) जैसे याचना-मुद्रा बाजार, विदेशी विनियम-पत्र स्वीकृति बाजार (Acceptance markets) या वाणिज्यिक विनिमय पत्र बाजार विद्यमान नहीं हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अब एक संगठित याचना मुद्रा बाजार (Call money market) काफी विकसित हो गया है परन्तु अन्य तो विद्यमान ही नहीं हैं। पाँचवें, मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगों में तालमेल नहीं है। मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगों में आपसी सम्बन्ध बड़े ढीले और असमन्वित हैं।

नोट

अन्तिम; भारतीय मुद्रा बाजार लन्दन मुद्रा बाजार की भांति विदेशी मुद्रा को आकर्षित नहीं कर पाता। भारतीय रिज़र्व बैंक ने इन दोषों को दूर करने के लिए कुछ उपाय किए हैं। मुद्रा बाजार के विभिन्न वर्गों में जो अन्तर विद्यमान थे, वे रिज़र्व बैंक द्वारा काफी कम कर दिए गए हैं। विदेशी बैंकों और भारतीय संयुक्त स्कंध बैंकों के बीच भेद की नीति अपनायी नहीं जाती। भारतीय मुद्रा बाजार अब अधिक व्यवस्थित होता जा रहा है। विभिन्न क्षेत्रों एवं विभिन्न समयों पर ब्याज की दरों में जो अन्तर विद्यमान होते थे; वे भी रिज़र्व बैंक द्वारा काफी कम कर दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त, खुले बाजार की क्रियाओं और बिल बाजार योजना द्वारा मुद्रा की तंगी को भी काफी हद तक कम करने में रिज़र्व बैंक सफल हुआ है।

इस सम्बन्ध में, भारतीय मुद्रा बाजार को नियन्त्रित करने में रिज़र्व बैंक की कुछ कठिनाइयों का उल्लेख करना उचित होगा।

प्रथम, विनिमय-पत्र बाजार (Bill market) की अनुपस्थिति में रिज़र्व बैंक के लिए यह संभव नहीं कि मुद्रा बाजार में अतिरिक्त निधि (Surplus funds) प्राप्त करने के लिए अपने विनिमय पत्रों का विक्रय कर सके।

दूसरे; याचना मुद्रा बाजार (Call money market) के अपर्याप्त विकास के कारण रिज़र्व बैंक का कार्य और कठिन हो जाता है क्योंकि अधिकांश बैंक अपने नकद प्रारक्षण (Cash reserve) और जमा में निश्चित अनुपात नहीं रखते और इस प्रकार वाणिज्य बैंकों की नीति को प्रभावित करने के लिए रिज़र्व बैंक को खुले बाजार की क्रियाओं (Open market operations) का प्रयोग करना पड़ता है।

तीसरे, देशी बैंकरों को मुद्रा बाजार में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है और उनका भी एकीकरण किया जा रहा है। रिज़र्व बैंक की क्रियाओं का अधिकतर प्रभाव तो मुद्रा बाजार के संगठित क्षेत्र पर पड़ता है और यह प्रभाव असंगठित क्षेत्र (जो मुख्यत: देशी बैंकरों से बना हुआ है) पर नहीं पड़ता। असंगठित क्षेत्र का विद्यमान होना, रिज़र्व बैंक की एक समस्या है।

3.13 मौद्रिक नीति

रिजर्व बैंक जो कि भारत का केन्द्रीय बैंक है, देश की मुद्रा व सम्पूर्ण साख कलेवर को नियन्त्रित करता है। रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य प्रारम्भ से ही नियन्त्रित मौद्रिक विस्तार (Controlled Monetary Expansion) की नीति को अपनाना रहा है। नियन्त्रित मौद्रिक विस्तार की नीति का अर्थ है--एक तरफ आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त वित्त का प्रबन्ध रकना और दूसरी ओर, देश में मूल्य-स्थिरता (Price Stability) को बनाये रखना।

रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति का अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते है–

(1) वित्तीय संस्थाओं का विस्तार एवं निर्माण (Financial Institution)—रिजर्व बैंक ने वित्तीय संस्थाओं के विस्तार एवं निर्माण में एक सराहनीय भूमिका अदा की है। कृषि एवं औद्योगिक वित्त हेतु अनेक संस्थाओं, जैसे–औद्योगिक वित्त निगम (IFCI), राज्य वित्त निगम (SFCs), औद्योगिक विकास बैंक ऑफ इण्डिया (IDBI), औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम (ICICI), राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (NABARD), निर्यात-आयात बैंक (मग्ध्ड) इत्यादि की स्थापना की जा चुकी है। बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार की दृष्टि से शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बड़ी संख्या में बैंकों की शाखाओं का विस्तार किया गया है।

(2) साख सुविधाओं का विस्तार (Expansion of Credit Facilities)—साख सुविधाओं के विस्तार की दृष्टि से रिजर्व बैंक द्वारा कई उपायों को काम में लाया गया है, जैसे–

(i) सन् 1957 में खुले बाजार की क्रियाओं में संशोधन किया गया है और बिल बाजार को उदार बनाया गया।

(ii) सन् 1963 में निर्यात-विनिमय प्रपन्न साख योजना चालू की गयी जिसके अन्तर्गत व्यापारिक बैंकों को रिजर्व बैंक से अग्रिम साख (Advance Credit) प्राप्त करने की सुविधा प्रदान की गयी।

(iii) प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों, जैसे–छोटे किसान, लघु उद्योग, छोटे व्यापारियों आदि के लिए सस्ता ऋण उपलब्ध कराया है।

(iv) सन् 1972 से विभेदक ब्याज-दर योजना (Differential Rate of Interest Scheme) चालू की गयी है जिसके अन्तर्गत आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से कमजोर वर्गों को रियायती ब्याज-दर पर ऋण उपलब्ध कराया जाता है।

(3) उपयुक्त ब्याज-दर नीति (A Suitable Interest Rate Policy)—रिजर्व बैंक ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर स्फीतिकारी दबावों के दौरान 'महँगी मुद्रा नीति' और मन्दी काल में **'सस्ती मुद्रा नीति'** का अनुसरण किया है। इस दृष्टि से बैंक-दर (Bank Rate), अग्रिम-दर (Advancing Rate) तथा जमा-दरों (Deposit Rates) में समय-समय पर आवश्यक परिवर्तन किया गया है।

(4) मुद्रा की माँग-पूर्ति में सन्तुलन (Demand and Supply Equilibrium)—रिजर्व बैंक का सदैव यह प्रयास रहा है कि मुद्रा की माँग एवं पूर्ति (सम्भरण) में सन्तुलन बना रहे, ताकि इसकी कमी से आर्थिक विकास में बाधा न आये और इसकी अधिकता, स्फीतिकारी दबावों को उत्पन्न न होने दे किन्तु वास्तविकता यह है कि पहली योजना को छोड़कर रिजर्व बैंक मुद्रा की माँग एवं पूर्ति में सन्तुलन बनाये रखने में असफल रहा है।

(5) साख नियन्त्रण (Credit Control)—केन्द्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक को देश में मौद्रिक नियमन का अधिकार प्राप्त है। रिजर्व बैंक को यह अधिकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम, 1934 तथा बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949 के अन्तर्गत दिया गया। रिजर्व बैंक द्वारा अपनाये गये साख नियन्त्रण के तरीकों का अध्ययन दो भागों में किया जायेगा–

(i) परिमाणात्मक साख नियन्त्रण (Quantitative Credit Control) एवं

(ii) चयनात्मक या गुणात्मक साख नियन्त्रण (Qualitative or Selective Credit Control)।

नोट

(i) परिमाणात्मक साख नियन्त्रण (Quantitative Credit Control)—रिजर्व बैंक निम्नलिखित उपकरणों द्वारा साख की कुल मात्रा पर नियन्त्रण रखता है–

(1) **बैंक-दर** (Bank Rate)—बैंक-दर वह ब्याज की दर है जिस पर रिजर्व बैंक अन्य सदस्य बैंकों को मान्य प्रतिभूतियों की जमानत पर अल्पकालीन ऋण देता है या जिस पर सदस्य बैंकों के बिलों को पुनः भुनाता है। बैंक-दर साख नियन्त्रण का सबसे महत्वपूर्ण मौद्रिक साधन है।

रिजर्व बैंक के स्थापना काल से ही भारत में बैंक-दर 3 प्रतिशत निश्चित की गयी और 14 नवम्बर, 1951 तक उसी स्तर पर रखी गयी।

पहली बार नवम्बर 1951 को बैंक-दर 3.5 प्रतिशत की गयी। फिर मई 1957 में इसे बढ़ाकर 4 प्रतिशत, जनवरी 1963 में 4.5 प्रतिशत, सितम्बर 1964 में 5 प्रतिशत, जनवरी 1971 में 6 प्रतिशत तथा मई 1973 में 7 प्रतिशत कर दी गयी। कीमतों में असीमित वृद्धि होने पर रिजर्व बैंक ने जुलाई 1974 में महँगी मुद्रा की नीति को अपनाया तथा बैंक-दर को बढ़ाकर 9 प्रतिशत, जुलाई 1981 में 10 प्रतिशत, जुलाई 1991 में 11 प्रतिशत तथा अक्टूबर 1991 में 12 प्रतिशत कर दिया। मार्च 1999 में बैंक-दर को कम करके 8% और 1 अप्रैल, 2000 को बैंक-दर कोघटाकर 7: वार्षिक कर दिया गया है। वर्तमान में बैंक दर 6.5% है।

संक्षेप में, 1951 से लेकर अब तक बैंक-दर में वृद्धि का प्रमुख उद्देश्य मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित एवं नियमित करना रहा है परन्तु इसमें रिजर्व बैंक को सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है।

(2) **खुले बाजार की क्रियाएँ** (Open Market Operations)—देश में साख नियन्त्रण करने के लिए रिजर्व बैंक खुले बाजार की क्रियाओं को भी कर सकता है। खुले बाजार की क्रियाओं से अभिप्राय साख की मात्रा को नियन्त्रित करने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों, प्रथम श्रेणी के बिलों एवं प्रतिज्ञा-पत्रों के क्रय-विक्रय से होता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त साख की मात्रा को नियमित करने हेतु रिजर्व बैंक के द्वारा व्यापक पैमाने पर इस नीति का सहारा लिया गया। वर्तमान में भी रिजर्व बैंक समय-समय पर मुद्रा-बाजार की परिस्थितियों के अनुसार प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करता है।

भारत में खुले बाजा की क्रियाओं को साख नियन्त्रण के प्रमुख शस्र के रूप में प्रयुक्त नहीं किया गया बल्कि इसका उपयोग निम्नलिखित उद्देश्यों के लिए किया गया है–

(v) रिजर्व बैंक ने सरकार को उधार की क्रियाओं में सहयोग देने के लिए तथा श्रेष्ठ प्रतिभूतियों के बाजार की हालत को सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए खुले बाजार की क्रियाओं को अपनाया है।

(ब) खुले बाजार की क्रियाओं का प्रयोग बैंकों को मौसमी वित्त प्रदान करने के लिए भी किया जाता है।

(3) **परिवर्तनशील नकद आरक्षण या कोष अनुपात** (Variable Cash Reserve Ratio, CRR)—रिजर्व बैंक अधिनियम, 1934 की धारा 42(1) के अनुसार प्रत्येक वाणिज्य बैंक को अपनी माँग जमाओं (Demand Deposits) का 5 प्रतिशत और सावधि जमाओं

नोट

(Time Deposits) का 2 प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास नकद कोषों के रूप में रखना होता है परन्तु 1962 में इसमें दो संशोधन किये गये। पहला, माँग और सावधि जमा, दोनों को मिला दिया गया। दूसरा; रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया कि वह ब्त्त को न्यूनतम 3 प्रतिशत और अधिकतम 15 प्रतिशत के बीच निर्धारित कर सकता है।

रिजर्व बैंक ने इस अधिकार का कई बार प्रयोग किया है। जून, 1973 में ब्त्त को 3 से बढ़ाकर 5 प्रतिशत, सितम्बर 1973 में 7 प्रतिशत, अगस्त 1983 में 8.5 प्रतिशत, अक्टूबर 1987 में 10 प्रतिशत और अप्रैल, 1991 में बढ़ाकर 15 प्रतिशत कर दिया गया। 1992-93 से देश में लगातार प्रतिसार या मन्दी (Recession) की स्थिति बनी हुई है। इस बात को अनुभव करते हुए मई 1977 में ब्त्त कोघटाकर 10 प्रतिशत और 28 अक्टूबर, 1991 को 9 प्रतिशत कर दिया गया। अप्रैल, 2000 को CRR कोघटाकर 8% कर दिया गया है। 29 दिसम्बर, 2001 से इसे पुन: कम करके 5.50 प्रतिशत कर दिया गया है।

(4) **वैधानिक तरलता अनुपात** (Statutory Liquidity Ratio, SLR)—बैंकिंग नियमन एक्ट की धारा 24 के अन्तर्गत अनुसूचित बैंकों के लिए यह अनिवार्य है कि वे अपनी कुल जमाओं का कम-से-कम 25 प्रतिशत नकदी, स्वर्ण या सरकारी प्रतिभूतियों आदि के रूप में अपने पास तरल रूप में रखें। इसी को वैधानिक तरलता अनुपात कहते हैं।

रिजर्व बैंक ने इस अधिकार का कई बार प्रयोग करते हुए SLR को 25 प्रतिशत से बढ़ाते हुए 1991 में 38.5 प्रतिशत तक कर दिया परन्तु नरसिम्हा समिति (1991) की सिफारिश के बाद SLR को कई चरणों मेंघटाते हुए अन्ततः अक्टूबर, 1997 में 25 प्रतिशत तक स्थिर कर दिया गया है।

SLR के दो उद्देश्य हैं-(i) अनुसूचित बैंकों की ऋण देने अर्थात् साख-विस्तार करने की क्षमता पर अंकुश लगाना और (ii) बैंक-राशियों का ऋण व आग्रिमों के बजाय सरकारी प्रतिभूतियों में निवेश करना। यहाँ उल्लेखनीय है कि CRR तथा SLR दोनों का उद्देश्य एक ही है अर्थात् बैंकों की साख-विस्तार की क्षमता को प्रभावित करना और इस दृष्टि से यह दोनों, स्फीति-विरोधी (Anti-inflationary) उपाय हैं।

(5) **नैतिक आग्रह** (Moral Suassion)—बैंक नैतिक आग्रह की नीति भी अपना रहा है। इसके अनुसार यह समझा-बुझाकर अनुरोध और सुझाव द्वारा व्यापारिक बैंकों को समय के अनुसार उसके द्वाराघोषित मौद्रिक नीति का का अनुसरण करने के लिए कहता है।

(6) **प्रत्यक्ष कार्यवाही** (Direct Action)—बैंकिंग कम्पनी एक्ट, 1949 भारतीय रिजर्व बैंक को यह शक्ति प्रदान करता है कि वह सामान्य तौर से बैंकों का या किसी एक विशेष बैंक को किसी विशेष लेन-देन या लेन-देनों की श्रेणियों में प्रवेश करने से चेतावनी दे या रोके। रिजर्व बैंक को किसी भी बैंक के खातों आदि के निरीक्षण की शक्ति भी प्राप्त है।

(ii) **चयनात्मक साख नियन्त्रण** (Selective Credit Control)—साख नियन्त्रण के सामान्य उपायों का प्रयोग करके केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा (Quantum of Credit) का नियमन करता है, जबकि चयनात्मक उपायों द्वारा साख की दिशा और मात्रा दोनों का नियमन करता है। चयनात्मक साख नियन्त्रण के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं-प्रथम, आवश्यक वस्तुएँ, जैसे-खाद्यान्न, तेल, तिलहन, दालें, कपास, जूट, चीनी इत्यादि के सट्टे, संग्रह व मुनाफाखोरी के लिए साख सुविधाओं पर रोक लगाना;

दूसरा, इन वस्तुओं की कीमतों को अनुचित रूप से बढ़ने से रोकना। रिजर्व बैंक द्वारा चयनात्मक साख नियन्त्रण सम्बन्धी उपायों का एक लम्बा इतिहास है और उसके द्वारा समय-समय पर सभी आवश्यक कदम उठाये जाते रहे हैं। रिजर्व बैंक द्वारा अपनाई गई चयनात्मक साख की प्रमुख तकनीकें निम्नलिखित हैं–

नोट

(i) कुछ विशिष्ट प्रतिभूतियों या धरोहर के आधार पर ऋणों के लिए न्यूनतम मूल्यान्तर (Margin) निध रित करना–पिछले 25 वर्षों में रिजर्व बैंक ने अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओं की जमाखोरी द्वारा इनके मूल्यों में वृद्धि करने की व्यापारियों की समाज विरोधी प्रवृत्ति को रोकने के लिए मूल्यान्तर निर्धारण की रीति का नियमित रूप से प्रयोग किया है। इस समय चयनात्मक साख नियन्त्रण के अन्तर्गत आने वाली वस्तुएँ हैं–खाद्यान्न, तिलहन, तेल, वनस्पतिघी, कपास, खांडसारी, गुड़, चीनी, सूती कपड़ा और सूती धागा। इन वस्तुओं की धरोहर पर ऋण के लिए ब्याज की दर अपेक्षाकृत ऊँची रहती है।

(ii) उच्चतम सीमा का निर्धारण–रिजर्व बैंक फसलों की प्रत्याशा, आपूर्ति, स्थिति तथा कीमतों की प्रवृत्तियों के आधार पर अग्रिमों की अलग-अलग उच्चतम सीमा का निर्धारण करता है। वाणिज्य बैंकों को नये उधारकर्ताओं को ऋण देने तथा विद्यमान उधारकर्ताओं की साख सीमाओं का विस्तार करने के लिए रिजर्व बैंक से अनुमति लेनी पड़ती है।

(iii) विभेदक ब्याज की दरें–विशेष प्रकार के अग्रिमों के लिए विभेदक ब्याज की दरें प्राप्त की जाती हैं। रिजर्व बैंक चयनात्मक साख से सम्बन्धित वस्तुओं के लिए ऊँची ब्याज-दर निर्धारित करता है।

निष्कर्ष (Conclusion)—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति को साख के 'नियन्त्रणात्मक विस्तार की नीति' कहा जाता है। इसका प्रमुख उद्देश्य एक ओर कीमतों को नियन्त्रण में रखना और दूसरी ओर, आवश्यक सुख-सुविधाओं का विकास करना है। इस प्रकार उसने 'स्थायित्व के साथ विकास' (Growth with Stability) से लक्ष्य को प्राप्त करने का यत्न किया है।

मौद्रिक नीति की असफलताएँ (Failures of Monetary Policy)

(i) **बैंकों के पास नकद कोषों की अधिकता** (Excess Cash Reserves with Banks)—वस्तुत: जब बैंकों के निक्षेपों में वृद्धि हो रही हो, अधिक बैंक-दर, अधिक शुद्ध तरलता अनुपात बैंकों की साख के विस्तार करने की क्षमता पर विशेष प्रभाव नहीं डालती है।

(ii) **गैर-बैंकिंग संस्थाओं पर नियन्त्रण न होना** (No Control Non-banking Institutions)—यह उल्लेखनीय तथ्य है कि रिजर्व बैंक का गैर-बैंकिंग संस्थाओं और देशी बैंकरों पर आज भी कोई नियन्त्रण नहीं है, जबकि ये देश के व्यापार एवं उद्योग में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। फलत: मौद्रिक नीति अपंग बनकर रह गयी है।

(iii) **वित्तीय अनुशासनहीनता** (Financial Indiscipline)—राष्ट्रीयकृत बैंकों द्वारा वित्तीय अनुशासन का पालन नहीं किया गया। आशा के विपरीत इन बैंकों ने बड़ी मात्रा में अनावश्यक साख का विस्तार किया है जिससे जमाखोरी और कीमत-प्रसार को बढ़ावा मिला है। 1992 का हर्षद मेहताघोटाला इसका जीता-जागता उदाहरण है।

(iv) **सीमित कार्य-क्षेत्र** (Limited Working-field)—रिजर्व बैंक के साथ नियन्त्रण के उपकरण व कार्य क्षेत्र केवल अनुसूचित बैंकों तक ही सीमित हैं। अतः जिस सीमा तक स्फीतिजनक परिस्थितियों का कारण हीनार्थ प्रबन्धन और वस्तुओं की कमी है जैसा कि वर्तमान में भारत में है तो रिजर्व बैंक के उपाय किसी भी प्रकार से प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सकते।

(v) **अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संकट** (International Monetary Crisis)—रिजर्व बैंक के प्रभाव को दबाने में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संकट का भी हाथ है। विश्वव्यापी मुद्रा-स्फीति का भारतीय अर्थव्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ता है। देश के आयात एवं निर्यात सबल राष्ट्रों की मुद्राओं की दर मुक्त होने व अरब तेल संकट ने भारत पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है।

(vi) **देश में पूँजी बाजार का होना** (Existence of Capital Markets)—देश में पूँजी बाजार का भी मौद्रिक नीति को विफल करने में हाथ है। बहुत-से सौदे भी जो पूँजी बाजार में उत्पन्न होते हैं, मूल्य-स्तर के ऊपर पूरा दबाव डालते हैं। उदाहरणार्थ, जीवन बीमा निगम द्वारा जो बीमा-धारकों को कर्ज दिया जाता है, वह मूल्य-स्तर को प्रभावित करता है।

(vii) **काले धन का व्यापक चलन** (Wide Circulation of Black Money)—मौद्रिक नीति को अपंग बनाने वाला एक प्रमुखघटक देश में 'समानान्तर अर्थव्यवस्था' का पाया जाना अर्थात् काले धन का व्यापक प्रचलन है। गैर-सरकारी अनुमानों के अनुसार काले धन की मात्रा सकल राष्ट्रीय उत्पाद (ळछच) के 30 से 40 प्रतिशत के बराबर है।

(viii) **मौद्रिक लक्ष्य-निश्चयन का अभाव** (Lack of Monetary Targeting)—मुद्रा-पूर्ति, उत्पादन एवं कीमतों के बीच एक गहरा सम्बन्ध होता है किन्तु खेद की बात यह है कि रिजर्व बैंक और सरकार दोनों ने इस समीकरण की सदैव उपेक्षा और उल्लंघन किया है। उदाहरण के तौर पर, पिछले दो दशकों के दौरान रिजर्व बैंक और मुद्रा-पूर्ति (M3) में जितनी वृद्धि हुई है, वह उत्पादन-वृद्धि के आधार पर न होकर सरकारी-उधार की माँग पर अधिक आश्रित रही है।

(ix) **मुद्रा बाजार का धीमा विकास** (Slow Growth of Money Market)—मौद्रिक नीति या मौद्रिक नियन्त्रणों की सफलता केवल एक सुसंगठित एवं कुशल मुद्रा बाजार पर निर्भर करती है। चूँकि भारत का मुद्रा बाजार एवं पूँजी बाजार आज भी असंगठित एवं अकार्य-कुशल हैं जिसके कारण मौद्रिक नीति अप्रभावी बनकर रह गयी है।

(x) **ई-मुद्रा का उपयोग** (Use of E-Money)—'ई-मुद्रा' का व्यापक प्रयोग केन्द्रीय बैंक की मुद्रा अर्थात् जनता के हाथ में मुद्रा नोटों का काफी सीमा तक स्थान ले सकता है। चूँकि किसी भी केन्द्रीय बैंक के बैलेन्स शीट (Balance-sheet) में करेन्सी नोट प्रमुख भाग होता है। अतः 'ई-मुद्रा' के प्रसार का अर्थ यह होगा कि बैलेन्स शीट का आकार सिकुड़ जायेगा जिससे प्रभावी खुला बाजार परिचालन करने की केन्द्रीय बैंक की क्षमता कम हो जायेगी। इस स्थिति में 'ई-मुद्रा' के व्यापक प्रयोग से बैंकिंग प्रणाली में जो विशाल अतिरिक्त आरक्षित निधि जमा हो जायेगी, उसे प्रभावहीन (स्टरलाइज) नहीं किया जा सकेगा और वह मौद्रिक नीति के लिए एक चुनौती बन सकती है।

भारत में मौद्रिक अधिकारियों को मौद्रिक नीति का इस प्रकार अपनाने की आवश्यकता है कि ये नियन्त्रण न तो बहुत कम हों और न अधिक और न ही उनको लागू करने में देरी होनी चाहिए। अतः भविष्य में विभिन्न उपायों में समायोजन करके एक प्रभावशाली मौद्रिक नीति का निर्माण करना चाहिए।

3.14 पूँजी बाजार एवं सेबी की कार्यविधि

पूँजी बाजार, मध्यम तथा दीर्घकालीन फंड का बाजार है जहाँ एक वर्ष से अधिक की अवधि के लिए लेन-देन की जाती है।

नोट

भारत में पूंजी बाजार को दो भागों में बांटा जाता है–

(क) सरकारी प्रतिभूति (Gilt Edge) बाजार। (ख) औद्योगिक प्रतिभूति बाजार।

सरकारी प्रतिभूति बाजार में केन्द्र, राज्य, स्थानीय सरकारों, स्वायत्त सार्वजनिक संस्थाओं जैसे राज्य विद्युत बोर्ड, सार्वजनिक निगम तथा अन्य सार्वजनिक वित्तीय संस्था जैसे आई.डी.बी.आई., नाबार्ड, आई.एफ.सी.आई. आदि द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियाँ बेची एवं खरीदी जाती है। ये प्रतिभूतियाँ अत्यन्त ही सुरक्षित होती हैं।

औद्योगिक प्रतिभूति बाजार में उद्योगों द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियाँ बेची एवं खरीदी जाती हैं। ये प्रतिभूतियाँ मुख्यत: समता अंशों तथा ऋण-पत्रों के रूप में होती है। औद्योगिक प्रतिभूति बाज़ार को भी दो भाग कर सकते हैं–

1. नयी निर्गमित प्रतिभूतियों का बाजार,
2. पुराना पंजी बाजार, जहाँ कम्पनियों की पहले से निर्गमित प्रतिभूतियाँ बेची एवं खरीदी जाती हैं। पहले प्रकार के बाजार को प्राथमिक बाजार तथा दूसरे प्रकार को स्टॉक बाजार या स्टॉक एक्सचेंज कहते हैं।

प्राथमिक बाजार

इक्विटी अंशों तथा ऋण-पत्रों के नये निर्गमन के द्वारा वित्त के दीर्घकालीन स्रोत प्राप्त किये जाते हैं प्राथमिक बाजार कहलाता है। प्राथमिक बाजार में निम्न प्रकार की पूंजी जारी की जाती है–

- **अधिकृत पूंजी** (Authorised Capital)–कम्पनी समामेलित होने के समय मेमोरेण्डम ऑफ एसोसिएशन में कंपनी के आकार के अनुसार जिस अधिकतम पूंजी के बाजार से उद्ग्रहण की मांग की जाती है उसे अधि कृत पूंजी कहते हैं। कम्पनी बिना इसमें परिवर्तन किए उल्लेखित राशि से अधिक पूंजी बाजार से नहीं उगाह सकती है।
- **निर्गमित पूंजी** (Issue Capital)–कम्पनी द्वारा अपनी अधिकृत पूंजी को, जो अंश जनता द्वारा प्रार्थित होने के लिए जारी किए जाते हैं उसे निर्गमित पूंजी कहते हैं।
- **प्रार्थित पूंजी/अभिदत्त पूंजी** (Subscribed Capital)–निर्गमित पूंजी का वह अंश जिसे जनता द्वारा आवेदन की जाती है उसे प्रार्थित पूंजी कहते हैं। प्रार्थित पूंजी निर्गमित पूंजी से कम या बराबर हो सकती है।
- **प्रदत्त पूंजी** (Paid up Capital)–अंश-पत्रों के मूल्य में से जितने मूल्य या भुगतान तत्काल जनता द्वारा कम्पनी को किया जाता है या जिस पूंजी से व्यापार शुरू किया जाएं, उसे प्रदत्त पूंजी (च्पक बंचपजंस) कहते हैं।
- **म्यूचुअल फण्ड**–ऐसे वित्तीय संस्था जो बचतकर्त्ताओं की छोटी-छोटी बचतों को एकत्रित कर विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों में विनियोजित कर कम जोखिम पर लाभांश व पूंजी के अधिमूल्यन का लाभ प्रदान करती है। म्यूचुअल फण्ड कहा जाता है।

सेंसेक्स

BSE ने 1986 में 30 ब्लूचिप कंपनियों के शेयरों पर आधारित सूचकांक आरम्भ किया, जिसमें उन बड़ी और प्रतिष्ठित कंपनियों को शामिल किया गया, जिनके शेयरों में उतार-चढ़ाव न्यूनतम, पूर्व में मुनाफा दे रही हों और भविष्य में देते रहने की प्रत्याशा हो। इसका आधार वर्ष 1978-79 और आधार सूचकांक 100 रखा गया था।

प्रतिभूति (Security)

कोई भी कानूनी दस्तावेज जो विनिमेय हो तथा निवेशकों की निवेश राशि को सुरक्षा प्रदान करती हो, प्रतिभूति कहलाती है। इसका उपयोग मुख्यतः धन/वित्त जुटाने के लिए किया जाता है। प्रतिभूति जारी कर्ता संस्था की प्रकृति के आधार पर यह दो प्रकार की होती है–

1. सरकारी प्रतिभूति–सरकार द्वारा जारी प्रतिभूति।
2. वाणिज्यिक प्रतिभूति–वाणिज्यिक संस्थाओं द्वारा जारी प्रतिभूति।

सरकारी प्रतिभूतियाँ, परिपक्वता अवधि के आधार पर दो प्रकार की होती हैं–

1. **अल्पकालिक परिपक्वता**–1 वर्ष से कम की परिपक्वता वाली सरकारी प्रतिभूतियाँ सरकारी खजाना (ट्रेजरी) बिल्स कहलाती हैं।
2. **दीर्घ कालिक परिपक्वता अवधिवाली सरकारी** (Gilt-Edged Securities) प्रतिभूति कहलाती हैं।

वाणिज्यिक प्रतिभूतियों को दो भागों में बांटा जाता है–

1. अंश प्रतिभूतियाँ 2. ऋण प्रतिभूतियाँ

अंश प्रतिभूति के क्रेता को जारीकर्ता संस्था स्वामित्वमंडल में अंश/हिस्सा प्राप्त होता है। जबकि ऋण प्रतिभूति के निवेशक को जारी कर्ता से एक निश्चित लाभ के प्रतिशत का आश्वासन मिलता है।

जारीकर्ता संस्था – ऋणी निवेशक – ऋणदाता

अंश प्रतिभूतियाँ दो प्रकार की होती हैं–

1. **अधिमान अंश**–अधिमान अंशधारी को कम्पनी के वार्षिक लाभ में प्राथमिक अधिकार तथा कंपनी केघाटे में जाने पर पूंजी वापसी में वरीयता प्राप्त होती है, परंतु बोर्ड आफ डाइरेक्टर का चुनाव न तो लड़ सकता है और न ही इसमें मतदान कर सकता है।
2. **इक्विटी अंश**–सामान्यतः इसे शेयर कहते हैं। इक्विटी शेयर धारक को कम्पनी के वार्षिक लाभ में अवशिष्ट अधिकार प्राप्त होता है इन्हें कम्पनी में जोखिम करना पड़ता है। शेयर धारक बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर बन सकते हैं और इसके चुनाव में मतदान भी कर सकते हैं। यही कम्पनी के वास्तविक स्वामी होते हैं।

बोनस शेयर

अंशधारियों को लाभांश नकद न देकर उसी मूल्य का अंश दे दिया जाए तो इसे बोनस शेयर कहते हैं।

राईट इश्यू शेयर

कार्यरत कम्पनियाँ क्षमता विस्तार हेतु अपने पुराने शेयर धारकों को अतिरिक्त शेयर बेचने की पेशकश करती है तो इसे राईट इश्यू शेयर कहते हैं।

इन्हें राईट इश्यू शेयर इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इन्हें खरीदने का सबसे पहला 'राईट' या अधिकार कम्पनी के पुराने शेयर होल्डरों को दिया जाता है। जिसे शेयर होल्डर के पास जितने शेयर होते हैं, उसी के हिसाब से उसे राईट इश्यू शेयर बेचे जाते हैं।

नोट

प्रेफरेन्स (Preference) और इक्विटी (Equity) शेयर

कई बार मुनाफा न होने पर कम्पनी प्रेफरेन्स शेयरहोल्डरों को लाभांश नहीं दे पाती। ऐसे हालात से बचने के लिए कम्पनियाँ क्युमुलेटिव प्रेफरेन्स शेयर जारी करती हैं। इन शेयरों पर बकाया लाभांश खत्म होने की बजाय इकट्ठा होता रहता है, और जब कम्पनी के पास पैसे होते हैं, तो पिछला सारा बकाया लाभांश चुका दिया जाता है। जब तक इक्विटी

शेयर पर कोई लाभांश नहीं दिया जाता है। अत: प्रेफरेन्स शेयर होल्डरों को कम्पनी केघाटे या मुनाफे की परवाह किये बिना अपने तय लाभांश का हमेशा लाभ मिलता रहता है।

जब तक कम्पनी चलती रहती है तब तक शेयर होल्डरों को उनका शेयर कैपिटल वापिस नहीं किया जाता। यह नियम केवल ए श्रेणी के शेयरों पर लागू नहीं होता–"रिडीमेबल प्रेफरेन्स शेयर"। इन शेयरों का मूलधन एक तय अवधि पूरी होने पर शेयर होल्डर को चुका दिया जाता है।

दूसरी ओर इक्विटी शेयरों पर तय लाभांश की गारंटी नहीं होती। इक्विटी शेयरहोल्डरों को कम्पनी का मालिक माना जाता है। अत: सभी लेनदारों और प्रेफरेन्स शेयरहोल्डरों की बकाया राशि चुकाने पर कम्पनी के पास जो मुनाफा और एकत्रित राशि बचती है, केवल उसी पर ही इक्विटी शेयर होल्डरों का अधिकार बनता है।

आमतौर पर इक्विटी शेयर होल्डर कम्पनी के कुल शेयर होल्डरों का एक बड़ा हिस्सा होते हैं। वे कम्पनी के सभी मामलों में सम्पूर्ण मत का अधिकार रखते हैं। कम्पनी को अच्छा मुनाफा होने पर उसका सबसे बड़ा भाग इन्हीं शेयर होल्डरों को जाता है। कम्पनी को नुकसान होने पर उसका भारत भी इन्हीं पर पड़ता है–और उन्हें कम या शून्य लाभांश मिलता है।

इक्विटी शेयरों का असली लाभ यह है कि कम्पनी की तरक्की और बढ़त का सबसे ज्यादा फायदा इन्हीं को मिलता है। प्रेफरेन्स शेयरों पर जहाँ लाभांश पहले से तय होता है, वहीं इक्विटी शेयरों पर मुनाफे के साथ लाभांश भी बढ़ता जाता है। साथ ही कम्पनी की बढ़त होने पर इक्विटी शेयर की कीमत शेयर बाजार में बढ़ जाती है लेकिन प्रेफरेन्स शेयर पर ऐसा नहीं होता। इक्विटी शेयर होल्डर को समय-समय पर कम्पनी से 'राईट' और 'बोनस' शेयर भी मिलते हैं। अत: इक्विटी शेयरों पर-ज्यादा खतरा, और उसी के हिसाब से ज्यादा फायदा या नुकसान बना रहता है। इसलिए शेयरों में निवेश करने का असली लाभ इक्विटी शेयरों में मिलता है।

स्टॉक एक्सचेंज

स्टॉक एक्सचेंज शेयरों और प्रतिभूतियों (Securities) की खरीद-फरोख्त के लिए बना एक बाज़ार है। किसी भी अन्य बाजार की तरह स्टॉक बाजार में भी प्रतिभूति खरीदने और बेचने के इच्छुक लोग आते हैं। प्रतिभूतियों में इक्विटी और प्रेफरेन्स शेयर, डिबेन्चर (Debenture) और सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थानों के बॉण्ड (Bond) शामिल होते हैं। भारत में दो प्रमुख स्टॉक एक्सचेंज है–बॉम्बे स्टॉक एक्सचेंज व नेशनल स्टॉक एक्सचेंज।

कोई व्यक्ति सीधे स्टॉक बाजार में जाकर शेयर खरीद या बेच नहीं सकते। इसलिए स्टॉक ब्रोकर या शेयर ब्रोकर की आवश्यकता पड़ती है, और इनके पास स्टॉक एक्सचेंज की सदस्यता का

लाइसेंस होता है। इसके लिए उन्हें दलाली (Brokerage/Commission) मिलती है, जो किए गए कारोबार के मूल्य का लगभग ढाई प्रतिशत होता है। भारतीय स्टॉक एक्सचेंजों पर केवल सूचीकृत, यानी लिस्टेड (स्पेज़मक) प्रतिभूतियों का ही कारोबार होता है। एक्सचेंज में अपनी प्रतिभूतियों का कारोबार कराने के लिए कम्पनियाँ उन्हें सूचीकृत कराती हैं। पब्लिक लिमिटेड कम्पनियों के लिए ऐसा करना कानूनन अनिवार्य नहीं है। सूचीकृत शेयरों को खरीदना और बेचना तो आसान होता ही है, साथ ही उनका कारोबार स्टॉक एक्सचेंज के नियमों से बंधे होने के कारण उनमें निवेशकों का ज्यादा भरोसा रहता है।

तेजड़िये और मन्दड़िये

अधिकतर सट्टेबाज या तो तेजड़िये (बुल) होते हैं या मंदड़िये (बिअर)। तेजड़िये बाजार के प्रति आशावादी होते हैं, और निकट भविष्य में शेयरों के दाम बढ़ने की उम्मीद रखते हैं। इसलिए ये लोग चलते भाव पर अपने पसंद के शेयर खरीद लेते हैं, ताकि दाम चढ़ने पर इन्हें मुनाफे पर बेच सकें। तेजड़ियों के अधिक कारोबार करने से बाजार में तेजी आ जाती है और अधिकतर शेयरों के दाम चढ़ने लगते हैं। ऐसे बाजार को तेजड़ियों का बाजार (Bull of Market) कहा जाता है। इससे ठीक विपरीत मंदड़िये, जो बाजार के प्रति निराशावादी होते हैं और प्रत्याशा करते हैं कि शेयरों के भाव निकट भविष्य में गिरेंगे। ये लोग चालू भाव पर शेयर बेच देते हैं, ताकि भाव गिरने पर उन्हें दोबारा खरीद सकें। मंदड़िये अक्सर वे शेयर बेचते हैं जो उनके पास नहीं होते, और बाद में उन्हें ग्राहक को देने की मंशा से खरीद लेते हैं। शेयर बाजार की भाषा में इसे 'शार्ट-सेलिंग' कहते हैं। मंदड़ियों के अधिक प्रभाव से बाजार में मंदी आ जाती है, और इसे मंदड़ियों का बाजार (Bear Market) कहा जाता है।

शेयरों में 'बाय-बैक' (Buy-Back) (1999 से लागू)

शेयरों में 'बाय-बैक' उस स्थिति को कहते हैं जब कम्पनी अपनी पूंजी से अपने ही शेयर वापस खरीदती है। इससे कम्पनी का इक्विटी कैपिटल कम हो जाता है, क्योंकि बाजार से वापस खरीदे गये शेयर खारिज हो जाते हैं। 1956 के कम्पनी एक्ट के नियमों के अनुसार इन शेयरों को दोबारा जारी नहीं किया जा सकता। अतः कम्पनी का इक्विटी कैपिटल कम होने के साथ बाजार में उपलब्ध कम्पनी के शेयर भी कम हो जाते हैं। इससे प्रति आमदनी (ई.पी.एस.) बढ़ जाती है, क्योंकि उतना ही शुद्ध लाभ अब पहले से कम इक्विटी पर कैपिटल विभाजित हो जाती है।

कई बार मैनेजमेन्ट अपनी कम्पनी में सार्वजनिक स्वामित्व कम करने हेतु भी शेयर वापस खरीदती है। यह स्टॉक एक्सचेंज से शेयर को डीलिस्ट करने, यानि एक्सचेंज की सूची से शेयर को हटाने की दिशा में एक कदम है।

स्टॉक स्प्लिट

स्टॉक स्प्लिट में केवल कम्पनी के मौजूदा शेयरों को कम मूल्य (फेस वेल्यू) के शेयरों में विभाजित कर दिया जाता है। इससे कम्पनी के इक्विटी कैपिटल पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

जैसे एक कम्पनी में स्टॉक स्प्लिट होने पर कम्पनी ने 10 रु. प्रति शेयर वेल्यू के शेयर को 2 रु. प्रति शेयर के पांच शेयरों में विभाजित कर दिए। अगर शेयर का दाम पहले 5,000 रु. था तो पांच नए शेयरों के हिसाब से प्रति शेयर दाम अब 1,000 रु. होना चाहिए। इससे कम्पनी के

इक्विटी कैपिटल या कुल सम्पत्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। स्टॉक स्प्लिट से निवेशक को लाभ होता है, क्योंकि शेयर पहले की अपेक्षा सस्ता हो जाता है। इससे शेयर में खरीदारों की रूचि बढ़ती है और बाजार में उसके भाव चढ़ने लगते हैं।

नोट

शेयरों का 'डीमैटीरियलाईजेशन'

'डीमैटीरियलाईजेशन' की प्रणाली से शेयरों को कागजी दस्तावेज (शेयर सर्टिफिकेट) से 'डीमैटिरियलाईज्ड' यानि कम्प्यूटरीकृत रूप में बदल दिया जाता है। यह परिवर्तन न्यासधारी या डिपॉजिटरी द्वारा किया जाता है, और निवेशकों के शेयर डीमैट रूप में डिपॉजिटरी के पास रहते हैं।

डिपॉजिटरी का काम-काज समझने के लिए उसे एक बैंक के रूप में देखा जा सकता है। जिस प्रकार बैंक में जमा पैसा आपकी पास बुक में दिखाया जाता है, उसी तरह डिपॉजिटरी भी एक प्रतिभूति बैंक के समान है जहाँ ग्राहक अपने शेयर व बॉण्ड कम्प्यूटरीकृत रूप में जमा कराते हैं। बैंक की तरह ही डिपॉजिटरी अपने ग्राहकों को उनके खातों का हिसाब-किताब

'अकाउन्ट होल्डिंग स्टेटमेंट व अकाउन्ट ट्रान्सैक्शन स्टेटमेंट के जरिये देता है। ग्राहकों के डिपॉजिटरी की सेवाएं जिस एजेन्ट के माध्यम से मिलती हैं, उन्हें डिपॉजिटरी पार्टिसिपेन्ट (डी.पी.) कहते हैं। डी.पी. का काम बैंक, वित्तीय संसाधन या ब्रोकर करते हैं, और उनके पास अपने डीमैट शेयर जमा कराना या निकालना बैंक खाते के संचालन जैसा ही होता है।

किसी डी.पी. के पास डीमैट अंकाउन्ट खोलने के बाद बस अपने शेयर सर्टिफिकेट रद्द करके डी.पी. को सौंप दिया जाता है और एक डीमैट रिक्वेस्ट फार्म (Demat Request Form) भर कर देना पड़ता है जिसमें शेयरों की फोलियो संख्या, सर्टिफिकेट नम्बर व अन्य विवरण दर्ज किया जाता है। इसके बाद इन शेयरों को डीमैट रूप में बदलने के लिए डी. पी. यह रिक्वेस्ट फार्म उस कम्पनी या उसके रजिस्ट्रार व हस्तांतरण एजेन्ट को भेज देता है। शेयरों के डीमैट रूप में परिवर्तित हो जाने पर ये डी.पी. के पास शेयर खाते में जमा हो जाते हैं।

'रीमैटीरियलाईजेशन'

रीमैटरियलाईजेशन शेयरों की डीमैट करने से ठीक विपरीत प्रणाली है। इससे शेयरों को डीमैट रूप से वापस कागजी शेयर सर्टिफिकेट में बदल दिया जाता है। डीमैट धारक को ऐसा करने की पूरी स्वतंत्रता है। इसके लिए केवल डी.पी. को अपने शेयरों के रीमैटीरियलाईजेशन के लिए आवेदन देना पड़ता है। डी.पी. यह आवेदन डिपॉजिटरी तक पहुंचाता है जो यह सूचना आगे कम्पनी या उसके रजिस्ट्रार व हस्तांतरण एजेन्ट को देगा। इसके बाद कम्पनी नई फोलियो संख्या व डिस्कनेक्टिव संख्या वाले शेयर सर्टिफिकेट ग्राहक को भेज देती है।

कम्प्यूटरीकृत कारोबार

बोल्ट (Bolt) एवं डोल्ट (Dolt) मुम्बई शेयर बाजार में 10 मई, 1995 से 'बोल्ट' प्रणाली को आरंभ किया गया। शेयरों के क्रय-विक्रय के लिए 120 वर्षों से प्रचलित 'खुली बोली प्रणाली (Open Cry out System)' का स्थान अब स्क्रीन बेस्ड 'बोल्ट' (BSE on line trading) प्रणाली ने ले लिया है। इसके अंतर्गत अब शेयर दलाल अपने चैम्बर्स में बैठे-बैठे ही कम्प्यूटरों की स्क्रीन पर मूल्यों के उतार-चढ़ाव को देखकर सौदे सम्पन्न कर सकते हैं।

नोट

स्टॉक एक्सचेंज में खड़े होकर बोली लगाने (Open Cry out System) की जगह अब बोल्ट (Bolt) व नीट (NEAT) प्रणालियों से शेयरों का कारोबार होता है। बोल्ट बी.एस.ई. की कम्प्यूटरीकृत कारोबार प्रणाली है और नीट एन.एस.ई. की। दिल्ली शेयर बाजार में भी कम्प्यूटरीकृत ऑन लाईन ट्रेडिंग प्रणाली (Delhi on line Trading System–Dolt)' को 29 जनवरी, 1996 से अपनाया गया। इन प्रणालियों की सहायता से अब शेयरों का कारोबार एक भारतव्यापी, स्वचालित, कम्प्यूटरीकृत नेटवर्क के माध्यम से तत्काल हो जाता है। ब्रोकर अब स्टॉक एक्सचेंज में जाने की जगह अपने कार्यालय में लगे कम्प्यूटर से अपने ग्राहकों के लिए शेयर खरीदते या बेचते हैं।

फ्यूचर्स

भारत में नकद बाजार को सट्टा (फ्यूचर्स) बाजार से अलग रखा गया है। नकद बाजार में जिस दिन सौदा किया जाता है, उसी दिन धन अदा कर शेयरों की डिलीवरी लेनी पड़ती है। इसी तरह अगर शेयर बेचा जाता है, तो उसी दिन शेयरों की डिलीवरी देकर पैसा प्राप्त करते हैं। परन्तु फ्यूचर्स बाजार में केवल सौदे में हुए लाभ या नुकसान का नकद भुगतान किया जाता है।

फ्यूचर्स बाजार में केवल कुछ चुनिंदा शेयरों का ही कारोबार किया जाता है। इन शेयरों का चयन एक्सचेंज द्वारा उनकी उपलब्ध मात्रा, मार्केट कैपिटलाईजेशन व खरीदे या बेचे गए शेयरों की संख्या के आधार पर किया जाता है। इन चुने हुए शेयरों की एक तय संख्या को मिलाकर एक 'कॉन्ट्रैक्ट' बनता है। फ्यूचर्स बाजार में खरीदे गए शेयरों के पैसे नहीं देने पड़ते। केवल 'मार्जिन मनी' अदा करना पड़ता है, जो खरीदे गए शेयरों के कुल मूल्य का 10-20 प्रतिशत हो सकता है। विभिन्न कॉन्ट्रैक्टों का मार्जिन मनी समय-समय पर एक्सचेंज द्वारा तय किया जाता है। फ्यूचर्स कारोबार शेयर व्यापारियों के लिए बहुत आकर्षक माना जाता है, क्योंकि आज के परिवेश में एक हजार अथवा एक लाख रुपये का मार्जिन मनी चुका कर व्यापारी उससे कई गुणा मूल्य के शेयर खरीद सकते हैं। पर यह दो धारी तलवार है, जिसमें अधिक लाभ के चक्कर में भारी नुकसान भी सहन करना पड़ सकता है।

ऑप्शन्स

ऑप्शन्स भी एक प्रकार का फ्यूचर्स कारोबार है। जब किसी कॉन्ट्रैक्ट पर ऑप्शन्स खरीद जाता है तो कान्ट्रैक्ट की अवधि समाप्त होने से पहले उसे किसी भी ऐसे दाम पर खरीदने या बेचने के अधिकार के लिए एक प्रीमियम चुकाना पड़ता है। जिस दाम से लाभ हो या नुकसान कम-से-कम हो। अगर कॉन्ट्रैक्ट को समाप्त करने के इस ऑप्शन, यांनि विकल्प का प्रयोग नहीं किया जाता तो ज्यादा-से-ज्यादा उस प्रीमियम का नुकसान होगा जो ऑप्शन खरीदने के लिए चुकाया था। अतः फ्यूचर्स की अपेक्षा ऑप्शन्स अधिक सुरक्षित है, क्योंकि फ्यूचर्स में नुकसान की कोई सीमा नहीं होती।

करेंसी फॉरवर्ड

फॉरवर्ड कांट्रैक्ट के अन्तर्गत भविष्य की एक तय तारीख को विदेशी मुद्रा बाजार में मुद्रा की कीमत तय कर लेते हैं, जिस पर उसे बेचा या खरीदा जा सकता है। इसको 'आउटराइट फॉरवर्ड करेंसी ट्रांजक्शन', 'करेंसी ट्रांजक्शन', 'फारवर्ड आउटराइट', या 'एफएक्स फॉरवर्ड' के नाम से भी जानते हैं। करेंसी फॉरवर्ड कांट्रैक्ट में जो कांट्रैक्ट होल्डर होता है, जो किसी खास तय हो चुकी कीमत पर, तय मात्रा और तय तारीख को ही उसे बेच या खरीद सकता है। इसकी खासियत यह है कि आप करेंसी फॉरवर्ड को करेंसी फ्यूचर के दूसरे अनुबंधों की तरह हस्तनांतरित नहीं कर सकते हैं।

नोट

करेंसी फ्यूचर

करेंसी फ्यूचर एक ऐसा हस्तानांतरणीय वादा अनुबंध है, जिसमें भविष्य के किसी भी तय की गई तारीख पर किसी तय कीमत पर करेंसी की खरीद-फरोख्त हो सकती है। भविष्य में करेंसी की खरीददारी या बिक्री किस कीमत पर होती है। करेंसी फ्यूचर कांट्रैक्ट के अन्तर्गत निवेशकों को विदेशी मुद्रा विनिमय के जोखिम से बचने के लिए हेजिंग करने की अनुमति दी जाती है। करेंसी फ्यूचर कांट्रैक्ट में हर रोज मार्केट में उतार-चढ़ाव को ध्यान में रखा जाता है। निवेशक को,अगर लगता है कि आगे उसे नुकसान उठाना पड़ेगा तब यह अनुबंध की डिलीवरी की तारीख से पहले भी मुद्रा को बेच या खरीद सकते हैं। यदि डिलीवरी की तारीख से पहले कांट्रैक्ट से बाहर निकलना चाहे तो उस तारीख में बाजार में जो मुद्रा की कीमत होती है, उसके हिसाब से उसका निपटान किया जाएगा न कि कांट्रैक्ट से बाहर निकल जाते हैं। इसलिए ज्यादातर समय कांट्रैक्ट कभी भी डिलीवरी की तारीख तक नहीं पहुंचती हैं।

शेयर का 'इंट्रिंसिक वैल्यू'

निवेशक शेयर खरीदने से पहले कम्पनी की बिक्री मुनाफा, लाभांश और अन्य आर्थिक मुद्दों को अध्ययन करते हैं। इन तथ्यों के आधार पर वे यह अनुमान लगाते हैं कि उस शेयर का वास्तविक मूल्य क्या होना चाहिए और इसी मूल्य को शेयर का मूलभूत मूल्य या 'इंट्रिंसिक वैल्यू' (Intrinsic Value) मानते हैं।

शेयर बाजार सूचकांक

शेयर बाजार सूचकांक का मुख्य उद्देश्य बाजार में शेयरों के भाव की समग्र स्थिति व झुकाव को आंकना। सूचकांक मूलत: उन चुनिंदा शेयरों का औसत होता है जो लगभग पूरे शेयर बाज़ार का प्रतिनिधित्व करते हैं।

म्यूचुअल फंड भी सूचकांक के ही माध्यम से अपने पोर्टफोलियो का मूल्यांकन करते हैं। कुछ म्युचुअल फंडों ने तो इन्डेक्स फंड भी शुरू किए हैं जिनमें सूचकांक में शामिल कम्पनियों में निवेश किया जाता है। इससे निवेशकों को सूचकांक के ही समान लाभ मिलता है। ये इन्डेक्स फंड तब शुरू किए गए जब अमरीका में पाया गया कि अधिकतर म्यूचुअल फंड सूचकांक से कम लाभ दे रहे थे। हर शेयर को बाजार में उसके पूंजीकरण (कुल शेयरों की संख्या ↄ शेयर का मूल्य) से आंका जाता है। इसलिए शेयरों के मूल्य में किसी भी बदलाव से सेन्सेक्स बहुत जल्दी प्रभावित होता है।

शेयर खरीदने व बेचने का तरीका

बीएसई व एनएसई पर केवल डीमैट प्रतिभूतियों का ही कारोबार होता है।

प्लाउबैक

प्लाउबैक बहुत महत्वपूर्ण होता है क्योंकि कम्पनी के विकास और विस्तार के लिए इसी धन का प्रयोग होता है। सभी विकासशील कम्पनियाँ अच्छा-खासा प्लॉउबैक जमा करके रखती हैं।

शेयर की 'बुक वैल्यु' सम्पत्ति के मूल्य में से देनदारी या कर्जों कोघटा दें तो जो बचा, उस पर शेयरहोल्डरों का अधिकार होता है और उसे 'शेयरहोल्डर फंड कहते हैं। इस रकम को कम्पनी द्वारा जारी किए गए इक्विटी शेयरों की संख्या से भाग करने पर जो अंक आएगा वही कम्पनी के शेयरों की बुक वैल्यु होती है।

प्रति शेयर बुक वैल्यु–शेयरहोल्डर फंड/इक्विटी शेयरों की कुल संख्या।

शेयर होल्डर फंड जानने के लिए आप कम्पनी के रिजर्व और इक्विटी कैपिटल को जोड़ भी सकते हैं। बुक वैल्यु एक ऐतिहासिक ब्यौरा है। इसका हिसाब उस मूल दाम से लगाया जाता है जिस दाम पर कम्पनी की सम्पत्ति को पहले खरीदा गया था। इससे कम्पनी की सम्पत्ति का वर्तमान मूल्य नहीं पता चलता। अत: मुनाफा कमाती कम्पनी के शेयर का बाजार में मूल्य आंकने के लिए 'बुक वैल्यु' ज्यादा भरोसेमंद नहीं होती। बाजार में शेयर का भाव बुक वैल्यु से आमतौर पर कहीं ज्यादा होता है।

नोट

प्रतिशेयर आमदनी (EPS)

प्रति शेयर आमदनी की अंग्रेजी में 'अर्निंग पर शेयर' या 'ई.पी.एस.' (EPS) भी कहा जाता है। प्रति शेयर आमदनी ¾ कर चुकाने के बाद बचा मुनाफा/इक्विटी शेयरों की कुल संख्या।

इन अनुमान से कम्पनी की कुल आमदनी का प्रति शेयर हिस्सा आंका जाता है। जैसे किसी कम्पनी के 100 शेयर हैं, जिन्हें 10 रुपये प्रति शेयर मूल्य पर जारी किया गया था। मान लीजिए कि इस कम्पनी में प्रति शेयर आमदनी 6 रुपये है, और कम्पनी ने 20 प्रतिशत, यानि 2 रुपये प्रति शेयर लाभांशघोषित किया है। इसका अर्थ है कि कम्पनी में प्रति शेयर आमदनी 6 रुपये है, और कम्पनी ने 20 प्रतिशत, यानि 2 रुपये प्रति शेयर लाभांशघोषित किया है। इसका अर्थ है कि कम्पनी हर शेयर पर सालाना 6 रुपये कमाती है। जिसमें से सिर्फ 2 रुपये आपको लाभांश मिलता है। बचे हुए 4 रुपये प्रति शेयर कम्पनी के प्लॉउबैक में चले जाते हैं। अगर यह शेयर 10 रुपये में ही ख़रीदा गया था, तो इस पर खरीददार को 60 प्रतिशत आमदनी हो रही है। जिसका 20 प्रतिशत लाभांश के रूप में मिला, और बाकी 40 प्रतिशत प्लॉउबैक में डाल दिया जाता है। प्लॉउबैक के बढ़ने से शेयर का मूल्य भी बढ़ेगा। आदर्श स्थिति में शेयर 40 प्रतिशत चढ़कर 10 रुपये का हो जायेगा।

अपने निवेश पर मिलने वाली आमदनी को लाभांश के आधार पर मापने की जगह प्रति शेयर आमदनी के आधार पर जांचा जाए। यही निवेश के लाभपूर्ण होने की सही पहचान है। यदि इसी कम्पनी के 10 रुपये में जारी किए गए इन शेयरों को 20 रुपये के भाव से खरीदा। तब 6 रुपये की प्रति शेयर आमदनी का अर्थ होगा कि निवेश पर 30% आमदनी हुई, जिसमें 10 प्रतिशत (2 रुपये प्रति शेयर) लाभांश है और 20% (4 रुपये प्रति शेयर) प्लॉउबैक। जब आदर्श स्थिति वह होगी जहां शेयर का भाव 20 प्रतिशत बढ़कर, 20 रुपये से 24 रुपये हो जाएगा। अत: चाहे किसी भी दाम पर शेयर खरीदे हों, प्रति शेयर आमदनी के आधार पर निवेश का स्टीक मूल्यांकन कर सकते हैं।

शेयरों के दाम और आमदनी का अनुपात (P/E Ratio)

शेयर के दाम और प्रति शेयर आमदनी के अनुपात की जानकारी भी निवेशक के लिए बहुत आवश्यक है। इस अंग्रेजी में 'प्राईस-अर्निंग रेशियो, या 'पी/ई" भी कहा जाता है।

पी/ई अनुपात = शेयर का दाम/प्रति शेयर आमदनी।

इस अनुपात से यह आंका जा सकता है कि शेयर पर होने वाली आमदनी उसके चलते भाव का कितना समर्थन करती है। अगर इस अनुपात का अंक 5 है, तो इसका अर्थ है कि शेयर का दाम आमदनी से 5 गुना ज्यादा है। अत: अगर शेयर का भाव इसी स्तर पर स्थिर रहे, तो लाभांश और प्लॉउबैक के जरिये होने वाली निवेश की वृद्धि को मिलाकर, इन शेयरों को खरीदने में लगाई गई रकम वसूलने में 5 साल लग जाएंगे। अनुपात जितना कम होगा, पैसा वसूलने में उतना कम समय लगेगा।

नोट

पी/ई अनुपात से यह भी आंका जा सकता है कि बाजार में कम्पनी की आमदनी और भविष्य के संकेतों के बारे में क्या आंकलन है। जिन कम्पनियों में निवेशकों और बाजार का विश्वास होता है उनका पी/ई ज्यादा होता है। कुछ ब्लू-चिप कम्पनियों का अनुपात तो 20-60 तक रहता है। परन्तु भारत में अधिकतर कम्पनियों का पी/ई अनुपात 5-20' के बीच में रहता है।

पब्लिक इश्यू मे निवेश

जब कम्पनी पैसा जुटाने के लिए नए शेयर या ऋण-पत्र जारी करती है, तो इसे कम्पनी का 'पब्लिक इश्यू' कहा जाता है। ऐसे नए शेयरों या ऋण-पत्रों को न्यू इश्यू कहते हैं। नई और पुरानी, दोनों तरह की कम्पनियाँ बाजार में नए इश्यू निकाल सकती हैं।

बोनस शेयर और राईट इश्यू शेयर भी नए इश्यू होते हैं। परन्तु ये शेयर सिर्फ कम्पनी के पुराने शेयर होल्डरों को दिये जाते हैं। अतः ये पब्लिक इश्यू नहीं कहलाते।

पब्लिक इश्यू के लाभ

अधिकतर पब्लिक इश्यू 'ओवर-सब्स्क्राइब्ड' होते हैं। यानि, जितने शेयर जारी किये जाने का प्रस्ताव हो, उससे ज्यादा शेयरों की मांग दर्ज की जाती है। ऐसे में कम्पनी को 'ड्रॉ ऑफ लॉट्स' का सहारा लेना पड़ता है। आवेदकों की पर्ची निकाल कर यह तय किया जाता है कि किस आवेदक को कितने शेयर बेचे जाएंगे। -

विश्व प्रसिद्ध शेयर सूचकांक

स्टॉक एक्सचेंज	**शेयर सूचकांक**
मुम्बई (भारत)	डालेक्स, सेंसेक्स, S - P CNX निफ्टी-फिफ्टी, जूनियर निफ्टी, एमसीएक्स, बीएसई-200
न्यूयार्क (अमेरिका)	डाउजोन्स, नेस्डेक, एपीपी-500
सिंगापुर एक्सचेंज	सिमेक्स, स्ट्रेट्स टाइम्स
टोकियो (जापान)	निक्की फ्रेंकफर्ट (जर्मनी) मिड्डेक्स हांगकांग हांगसेंग
लन्दन (ब्रिटेन)	एफटीएसई-100
दक्षिण कोरिया	कोस्पी (KOSPI) Korea Composite Stock Price Index
ब्राजील	बोवेसपा BM & F Bovespa
पाकिस्तान.	Karachi Stock Exchange 100 Index
स्पेन	मैड्रिड जनरल Madrid Stock Exchange General Index
स्टॉकहोम (स्वीडन)	स्टॉकहोम स्टॉक एक्सचेंज सिक्स स्विस (स्विटजरलैंड) स्विस मार्केट
थाईलैण्ड	**सेट इनडेक्स**

युरोनेक्सट पेरिस (फ्रांस) सी.ए.सी.-40 बोल्सा डी मैड्रिड (स्पेन)

आईबीईएक्स 35

शिकागो बोर्ड ऑप्शन इंडेक्स CBOE S & P 500 Buy Write Index

नोट

नॉसडाक (Nasdaq)

- पूरा नाम — National Association Securities Dealers Automated Quotation
- स्थापना — 4 फरवरी, 1971
- मुख्यालय — न्यूयार्क, अमेरिका
- मुख्य सूचकांक — Nasdaq-100, S & P-500, DJIA
- परिचय — नासडाक अमेरिका का सबसे बड़ा इलेक्ट्रानिक शेयर बाजार बन गया है। उसमें लगभग 3300 कम्पनियां नामित हैं।

न्यूयार्क स्टॉक एक्सचेंज (NYSE)

- मुख्य कार्यकारी अधिकारी डंकन एल-निलडेरौर
- कार्य प्रारंभ — 8 मार्च, 1817
- मुख्यालय — न्यूयार्क, अमेरिका
- मुख्य सूचकांक — NYSE-100, S & P-500
- परिचय — 1792 में न्यूयार्क शहर के 24 शेयरदलाल और व्यापारी ने ब्रिटेन वुड समझौते पर हस्ताक्षर किए। न्यूयार्क स्टॉक एक्सचेंज विश्व की उच्च तकनीकी आध ारित इक्विटी बाजार है।

बाम्बे स्टॉक एक्सचेंज (BSE)

- चेयरमैन — मधु कन्नन
- स्थापना — 09 जुलाई, 1875
- मुख्यालय — फिरोज जीजाबाई टावर, दलाल स्ट्रीट, मुम्बई
- आधार मूल्य — 1978–100
- परिचय — BSE एशिया का सबसे पुराना स्टॉक एक्सचेंज है। उसकी स्थापना के पूर्व नाम–The Native Share and Stock Brodmas Association था। विश्व का सबसे बड़ा सूचीबद्ध कंपनी है। एशिया का दूसरा सबसे बड़ा पुराना स्टॉक एक्सचेंज 1878 में स्थापित टोकियों स्टॉक एक्सचेंज (TSE) है।

राष्ट्रीय स्टॉक एक्सचेंज (NSE)

- चेयरमैन — विजय केलकर
- मैनेजिंग डायरेक्टर रवि नारायन
- स्थापना — 1993
- मुख्यालय — बर्ली, मुम्बई
- आधार वर्ष — 1983–84
- परिचय — एम.जे. फेरवानी समिति की अनुदेश पर NSE की स्थापना 1992 में एक कर देने वाली कम्पनी के रूप में हुई थी जिसे 26 अप्रैल 1993

को स्टॉक एक्सचेंज की मान्यता मिली। यह भारत का प्रथम देशव्यापी कम्प्यूटर स्क्रीन आधारित स्टॉक् बाजार है।

पब्लिक इश्यू के लिए अर्जी देना

नोट

कम्पनी को अपनी 'सब्सक्रिप्शन लिस्ट' कम-से-कम तीन दिन और अधिक से अधिक दस दिन तक खुली रखनी पड़ती है। चूंकि अधिकतर पब्लिक इश्यू में जारी किए गए शेयरों से कहीं अधिक आवेदन आते हैं, यह लिस्ट अक्सर तीन दिन पूरे होते ही बंद कर दी जाती है। आवेदन पत्र के पीछे उन बैंक शाखाओं का ब्यौरा दिया जाता है, जहां आवेदन पत्र और पैसे (एप्लेकेशन मनी) जमा करा सकते हैं। आवेदन पत्र या तो स्वयं जाकर या डाक से भिजवा कर जमा किया जा सकता है-पर कागजात बैंक के पास सब्सक्रिप्शन लिस्ट बंद होने से पहले पहुँच जाने चाहिये। पब्लिक इश्यू के शेयरों की पूरी रकम या तो एक बार में, या दा या उससे अधिक किश्तों में ली जाती है।

यदि ग्राहक को शेयर मिल जाते हैं तो कम्पनी उसे अलॉट किए गए शेयर उसके डीमैट खाते में पहुंचा देती हैं। आजकल 10 करोड़ रु. या उससे अधिक मूल्य के आई.पी.ओ. में शेयर केवल डीमैट रूप में ही जारी किए जाते हैं। 100 करोड़ रु. या उससे अधिक मूल्य के आई.पी.ओ. के लिए 'बुक बिल्डिंग प्रणाली' का ही उपयोग किया जाता है।

इस प्रणाली में क्यू.आई.बी. (क्वालिफाईड इन्स्टीट्यूशनल बार, यानि संस्थागत निवेशक), गैर-संस्थागत निवेशक (बड़े निवेशक) व 2 लाख रु. से कम मूल्य के शेयरों के लिए आवेदन करने वाले निवेशकों के लिए अलग-अलग आरक्षण रखा जाता है। 'बुक बिल्डिंग प्रणाली' में शेयर की मांग का जायजा लेकर उसका दाम अधिक-से-अधिक रखा जाता है। पब्लिक इश्यू खुलने से पहले लीड मैनेजर शेयर जारी करने के लिए एक प्राईस बैंड कीघोषणा करता है। इसमें वह अधिकतम व न्यूनतम मूल्यघोषित किया जाता है। जिस पर कम्पनी अपने शेयर जारी करना चाहती है, जिससे क्यू.आई.बी. व अन्य निवेशकों को सारे शेयर इस तय दाम या उससे अधिक पर बेचे जाएं। इस तरह कम्पनी अपने शेयरों का अधिक-से-अधिक दाम पा सकती है।

विभिन्न सूचकांकों के अंतर्गत कंपनियों के नाम

India's Important Index

1. BSESENSEX	2. BSE-100	3. BSE-200	4. BSE-500
5. DOLLEX-30	6. S&P CNX NIFTY	7. CNX NIFTY JUNIOR	
8. S&P CNX 500	9. S & P CNX Defty	10. BSE Midcap	11. CNX Midcap
12. NIFTY MIDCAP 50		13. BSE Smallcap	14. BSE PSU

BSE Sectoral Indices

1. OIL & GAS	2. CG	3. METAl	4. CD
5. POWER	6. IT	7. AUTO	8. HC
9. TECK	10. BANKEX	11. FMCG	12. REALTY
13. PSU			

NSE Sectoral Indices

1. CNXIT	2. S & P CNX DEFTY	3. S & P CNX NIFTY
4. CNX 100	5. S & P CNX 500	6. CNX NIFTY JUNIOR
7. NIFTY MIDCAP 50	8. CNX MIDCAP	9. BANK NIFTY

नोट

भारतीय प्रतिभूति विनिमय बोड

शेयर बाजर पर नियंत्रण रखने के लिए पूंजी निर्गमण (नियंत्रण) अधिनियम, 1947 जिसके अधीन कम्पनियों के द्वारा पूंजी निर्गमण को नियमितं किया जाता था तथा प्रतिभूति अनुबन्ध (नियमन) अधिनियम, 1956 जिसके अधीन शेयर बाजारों को मान्यता प्रदान की जाती है, साथ ही इनके संचालन को नियमित किया जाता है। भारत सरकार ने सेबी की स्थापना 12 अप्रैल 1988 को किया। इसका प्रमुख उद्देश्य स्टॉक निवेशकों को संरक्षण प्रदान करना तथा कानूनों का संग्रह करना।

1992 में उसे वैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। 5 जनवरी 1995 को सरकार द्वारा पारित एक अध्यादेश के द्वारा पूंजी के निर्गमन, प्रतिभूतियों के हस्तांतरण तथा अन्त: संबंधित मामले में सेबी को 'नियंत्रक शक्ति' प्रदान कर दिया गया है। सेबी एक स्वायत्त संस्था है, अत: सरकार से इन मामलों में सेबी को अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं है।

सेबी के नए चेयरमैन

सेबी के नौ सदस्यीय बोर्ड में चेयरमैन, तीन पूर्णकालिक सदस्य और दो स्वतंत्र निवेशकों के अलावा तीन नामित सदस्य होते हैं। ये तीन सदस्य रिजर्व बैंक, वित्त मंत्रालय और कंपनी मामलों के मंत्रालय से आते हैं। सेबी के तत्कालीन चेयरमैन सी.बी. भावे की सेवानिवृत्ति के बाद फरवरी में इस पद के लिए यू.के. सिन्हा की नियुक्ति की गई थी।

सेबी के कुछ फैसले निवेशकों के हित में हैं। अब ट्रेडिंग अकाउंट खुलवाना और आसान हो जाएगा। इसके लिए निवेशक को सिर्फ एक हस्ताक्षर करने की जरूरत पड़ेगी। साथ ही केवाईसी (अपने ग्राहक को जानिये) नियमों को भी आसान बनाया गया है। अब सिर्फ एक केवाईसी की जरूरत पड़ेगी। इसके लिए एक केवाईसी रजिस्ट्रेशन अथॉरिटी बनाई जाएगी। साथ ही इंटरमीडियरी के बीच निवेशकों से जुड़े डाटा के लेन-देन को भी आसान बनाया जाएगा। हर बार लेनदेन के लिए ग्राहक को किसी नई एजेंसी के पास नहीं जाना होगा। इसके लिए आधार को मानक बनाया जाएगा। इस तरह सेबी ने म्युचुअल फंड इंडस्ट्री को भी राहत देने की कोशिश की है। पिछले कुछ समय से एंट्री फीस खत्म कर देने से म्युचुअल फंड वितरक काफी निराश थे। अब वितरकों को हर सब्सक्रिप्शन पर 100 रुपये लेने का अधिकार होगा। पहली बार निवेश करने वाले म्युचुअल फंड निवेशक से 50 रुपये लिये जाएंगे। म्युचुअल फंड इंडस्ट्री की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। एंट्री लोड बंद कर दिए जाने के बाद वितरक म्युचुअल फंड बेचने में ज्यादा रुचि नहीं ले रहे थे। इससे इंडस्ट्री दबाव में थी। एक और सुधार आईपीओ आवेदन के मोर्चे पर किया गया है। आवेदन फार्म का आकार एक चौथाई कम कर दिया गया है। इससे निवेशकों को इसे भरने में सहूलियत होगी। अब अस्बा और गैर कस्बा के लिए एक ही फॉर्म होगा। फॉर्म के साथ आईपीओ के प्रमुख प्रबंधक का पिछला रिकॉर्ड और दूसरी वित्तीय जानकारियां भी मुहैया कराई जाएंगी। कुल मिलाकर यह छोटे निवेशकों को ज्यादा से ज्यादा बाजार की ओर आकर्षित करने की कवायद है। दरअसल देश में

अब भी पूंजी बाजार में छोटे निवेशकों की हिस्सेदारी काफी कम है। अगर यह हिस्सेदारी बढ़ती है तो अर्थव्यवस्था को एक बड़ा पूंजी आधार हासिल होगा और इससे कई सेक्टरों की जरूरत पूरी हो सकती है।

नोट

3.15 भारतीय विदेशी व्यापार की संरचना

भारत सरकार ने भारतीय विदेशी व्यापार के वस्तु-वर्गीकरण को 1987-88 से संशोधित कर दिया है, 1987-88 के बाद के आंकड़े इससे पहले के काल से तुलनीय नहीं हैं। हमने 1970-71 और 1980-81 के आंकड़ों को पुनवर्गीकृत करके कुछ हद तक तुलनीय बनाने का प्रयास किया है।

आयात का ढाँचा

आयात को अम्बारी आयात (Bulk imports) और गैर-अम्बारी आयात (Non-bulk imports) में वर्गीकृत किया जाता है। अम्बारी आयात के तीन अंग हैं–(i) पेट्रोलियम रूक्ष एवं उत्पाद, (ii) अम्बारी उपभोग वस्तुएँ जिनमें अनाज और दालें, खाद्य-तेल और चीनी शामिल किए जाते हैं और (iii) अन्य अम्बारी मदों में उर्वरक, अलौह धातुएँ, कागज एवं गत्ता, रबड़, गुंदा एवं रद्दी कागज, खनिज अयस्क लौह तथा इस्पात शामिल की जाती हैं।

गैर-अम्बारी आयात को भी तीन भागों में विभक्त किया जाता है–(i) पूंजी वस्तुएँ जिनमें धातुएँ, मशीनी औजार, इलैक्ट्रिक एवं गैर-इलेक्ट्रिक मशीनरी, परिवहन उपकरण और प्रोजैक्ट वस्तु शामिल की जाती है; (ii) मुख्यत: निर्यात-सम्बन्धित-मदों में हीरे तथा कीमती पत्थर, कार्बनिक एवं अकार्बनिक रसायन वस्त्र–सूत एवं फैब्रिक्स, काजू शामिल किए जाते हैं; (iii) अन्य में प्लास्टिक का सामान; व्यावसायिक एवं वैज्ञानिक उपकरण, कोयला एवं कोक, रसायन, गैर-धातुक खनिज उत्पाद आदि।

तालिका से पता चलता है कि आयात में लगातार वृद्धि की प्रवृत्ति विद्यमान रही है जिसके लिए आन्तरिक एवं बाहरी दोनों प्रकार के कारणतत्त्व उत्तरदायी रहे हैं। 1970-80 के दशक के दौरान, पेट्रोलियम निर्यात देशों के संगठन (Organisation of Petroleum Exportion Countries—OPEC) द्वारा पहली बार 1973-74 में और फिर दोबारा 1979-80 में कीमतों में तीव्र वृद्धि की गई। परिणामत: पेट्रोलियम पदार्थों के आयात में 1970-80 के दशक में तेज वृद्धि हुई परन्तु इसका प्रभाव 1980-90 के दशक में भी महसूस किया गया। 1979-80 में अर्थव्यवस्था में भारी सूखा पड़ा।

1980-90 के दशक के दौरान बहुत से कारणतत्वों ने आयात को बढ़ाने में संचयी प्रभाव डाला। इनमें उल्लेखनीय हैं–गत दशक के दौरान तेल की कीमतों में वृद्धि के परिणामस्वरूप विदेशी मुद्रा का भारी उत्प्रवाह, 1987 के सूखे के कारण देश में खाद्यान्न का गम्भीर रूप में अभाव; अर्थव्यवस्था की बढ़ती हुई वृद्धि दर के कारण माँग का दबाव और सरकार द्वारा अपनाई गई उदारीकरण (Liberalisation) की नीति। इन सब कारणतत्वों के परिणामस्वरूप एक ऐसी प्रक्रिया

गतिमान हो गई जिसने अर्थव्यवस्था की आयात पर निर्भरता बढ़ा दी। 1970-71 में जबकि कुल आयात 1,634 करोड़ रुपए थे, ये बढ़कर 1980-81 में 12,549 करोड़ रुपए हो गए। अत: इस दशक के दौरान आयात में 19.2 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई। 1980-90 के दशक दौरान और विशेषकर 1984-85 के पश्चात् जब प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने उदारीकरण की नीति का अनुसरण किया, आयात एकदम तेजी से बढ़कर 1990-91 में 43,190 करोड़ रुपए के स्तर पर पहुँच गए। 1980-81 और 1990-91 के दौरान आयात की वृद्धि दर 13.1 प्रतिशत के उच्च स्तर पर बनी रही।

2000-01 और 2005-2006 के दौरान आयात की वार्षिक औसत वृद्धि दर 22.3 प्रतिशत थी।

तालिका 3.5: भारतीय आयात का ढाँचा

	करोड़ रुपए				वार्षिक चक्रवृद्धि दर 1980-81 से	1990-91 से	2000-01 से
1980-81	1980-91	1990-91	2000-01	2005-06	1990-91	2000-01	2005-06
I. अम्बारी आयात	8,739 (69.6)	19,464 (45.1)	95,095 (41.2)	2,68,594 (42.6)	8.6	17.2	23.0
1. पैट्रोलियम-रूक्ष एवं उत्पाद	5,267 (42.0)	10,816 (25.0)	(71497) (31.0)	1,94,640 (30.7)	7.4	20.8	22.0
2. अम्बारी उपभोग वस्तुएँ	901 (7.2)	999 (2.2)	6,593 (2.8)	11,870 (1.9)	10.7	20.5	12.5
क. अनाज और दालें	100	673	586	2,501	29.3	– 1.4	33.7
ख. खाद्य-तेल	704	326	5,977	8,716	–	33.8	7.9
3. अन्य अम्बरी मदें	2,571 (20.5)	7,650 (17.7)	17,005 (7.4)	62,084 (9.8)	11.5	8.3	29.6
क. उर्वरक	818	1,766	3,435	9,159	8.0	6.9	21.7
ख. अलौह धातुएँ	477	1,102	2,439	8,157	8.7	8.3	18.8
ग. कागज एवं गत्ता	187	456	2,131	4,168	9.3	16.6	14.4
घ. खनिज अयस्क	116	1,528	3,537	16,693	29.4	7.9	36.4
ङ. लौह एवं इस्पात	852	2,113	3,554	19,622	9.5	5.3	40.7
II. गैर-अम्बारी आयात	3,472 (27.7)	23,729 (54.9)	1,35,778 (58.8)	3,61,933 (57.4)	21.2	19.1	21.7
4. पूँजी वस्तुएँ	1,910 (15.2)	10,471 (24.2)	40.847 (17.7)	1,40,245 (22.2)	18.5	14.6	28.0
क. मशीनरी	1,089	3,768	12,375	43,806	13.2	11.4	28.8
ख. इलैक्ट्रिक एवं इलैक्ट्रॉनिक्स वस्तुएँ	260 260	1,702 1,702	18,226 18,226	64,878 64,878	20.7 20.7	26.7 26.7	28.9 28.9
ग. परिवहन उपकरण	472	1,670	3,199	13,940	13.5	6.7	34.2
घ. प्रोजैक्ट वस्तुएँ	–	2,556	3,414	3,613	–	2.9	1.4
5. निर्यात सम्बन्धी वस्तुएँ	1,158 (9.2)	6,603 (15.3)	36,815 (15.9)	82,053 (13.0)	19.0	18.7	17.4
क. हीरे तथा कीमती पत्थर	417	3,738	21,964	40,469	24.5	19.4	13.0
ख. कार्बनिक तथा अकार्बनिक रसायन	673	2,289	11,165	30,501	13.0	17.2	22.2

नोट

ग. वस्त्र-सूत एवं निर्मित वस्तुएँ	59	443	2,726	8,994	21.5	19.9	27.0
घ. काजू	9	134	431	2,090	–	12.4	30.1
ङ. अन्य	404 (3.2)	6,655 (15.4)	58,116 (25.2)	1,39,635 (22.1)	–	24.2	23.7
कुल (I + II)	12,549 (100.0)	43,193 (100.0)	2,30,873 (100.0)	3,30,527 (100.0)	13.1	18.2	22.3

आमतौर पर आयात में वृद्धि के लिए पी.ओ.एल. की मदों को दोषी ठहराया जाता है। जबकि यह बात सत्तर के दशक के लिए सत्य है, अस्सी के दशक का अनुभव यह बताता है कि पी.ओ.एल. की मदों की वृद्धि-दर 1980-81 और 1990-91 के दशक के दौरान केवल 7.4 प्रतिशत थी, जबकि समग्र आयात की वृद्धि-दर 13.1 प्रतिशत थी। अतः आयात में वृद्धि की व्याख्या उदारीकरण की नीति के कारण ही की जा सकती है जिसे काँग्रेस सरकार ने तकनालाजीय उन्नयन (Technological upgradation) के नाम से बढ़ावा दिया। किन्तु तालिका 5 में दिए गए आंकड़ों से पता चलता है कि 1996-97 से 2005-06 के दौरान, पी.ओ.एल. के आयात में औसत वार्षिक वृद्धि 20.3 प्रतिशत थी, जबकि गैर-पी.ओ.एल. मदों की आयात में औसत 14.2 प्रतिशत वर्ष की वृद्धि हुई।

अम्बारी आयात (Bulk Imports) जिनमें कच्चे माल, अन्तर्वर्ती वस्तुएँ और खाद्यान्न शामिल हैं अर्थव्यवस्था की वृद्धि एवं स्थिरता से सम्बन्धित हैं और सत्तर के दशक में इनकी औसत वार्षिक वृद्धि-दर 23.2 प्रतिशत रही। परिणामतः कुल आयात में उनका भाग जो 1970-71 में 50.5 प्रतिशत था बढ़कर 1980-81 में 69.6 प्रतिशत हो गया। किन्तु इनकी वृद्धि-दर अस्सी के दशक में महत्त्वपूर्ण रूप में कम हो गई और यह बाद में भी बनी रही। गैर-पी.ओ.एल. मदों में उपभोग वस्तुओं जिनमें अनाज और अनाजों से तैयार वस्तुएँ, खाद्य-तेल, दालें और चीनी शामिल हैं, की वार्षिक वृद्धि जो 1980-81 और 1990-91 के दौरान 10.7 प्रतिशत थी, एकदम बढ़कर 1990-91 और 2000-01 के दौरान 20.8 प्रतिशत हो गयी। इसका मुख्य कारण खाद्य-तेलों के आयात में तीव्र वृद्धि थी जो 1990-91 में 326 करोड़ रुपये से बढ़कर 2004-05 में 10,576 करोड़ रुपये हो गए। किन्तु लौह और इस्पात के आयात की वृद्धि-दर 1985-86 से 1990-91 के दौरान 14.4 प्रतिशत के अपेक्षाकृत उच्चस्तर पर रहीं परन्तु इसके बाद 1991-2003 के दौरान इसमें गिरावट आयी।

मोटे तौर पर अम्बारी मदों के आयात की वृद्धि दर सातवीं योजना के दौरान गिरकर 7.2 प्रतिशत हो गई जबकि यह छठी योजना के दौरान 10.2 प्रतिशत थी। अतः अम्बारी मदों का कुल आयात में भाग जो 1980-81 में 69.6 प्रतिशत था कम होकर 2005-06 में 41 प्रतिशत रह गया। गैर-अम्बारी मदों में पूँजी वस्तुओं का भाग जो 1980-81 में गिरकर 15.2 प्रतिशत हो गया था, बढ़ना आरम्भ हो गया और 2005-06 के दौरान 22.2 प्रतिशत तक पहुँच गया। उपभोक्ता वस्तुएँ एवं खाद्यान्न–पहली योजना के काल के दौरान उपभोक्ता वस्तुओं एवं खाद्यान्नों का भाग कुल आयात में 40 प्रतिशत था। इससे जाहिर है कि भारत उस समय भारी अल्पविकास की स्थिति में था और अपनी बुनियादी जरूरत अर्थात् खाद्यान्न के लिए विदेशों पर निर्भर था। परन्तु इन वस्तुओं के आयात धीरे-धीरे समय के साथ-साथ कम होते चले गए हैं–दूसरी योजना और तीसरी योजना में 35 प्रतिशत, चौथी योजना में 27 प्रतिशत, पाँचवीं योजना में 24 प्रतिशत। ये आयात 1990-91 में कुल आयात का केवल 2.2 प्रतिशत थे, परन्तु इनका भाग बढ़कर 2003-04 में 4 प्रतिशत हो

गया। इसका मुख्य कारण खाद्य-तेलों (Edible oils) के आयात में तीव्र वृद्धि था, चाहे खाद्यान्नों (अनाज और दालों) का कुल आयात में भाग 2003-04 में नाममात्र था।

1957 के पश्चात् खाद्यान्न आयात काफी अधिक थे और इनका भरण यू.एस.ए. से प्राप्त पी.एल. 480 द्वारा उपलब्ध सहायता द्वारा किया जाता था। चौथी योजना के आरम्भ तक, कुल आयात के प्रतिशत के रूप में खाद्यान्न-आयात में वृद्धि का कारण सूखे की परिस्थितियाँ और देशीय संभरण द्वारा देशी माँग को पूरा न कर पाना था। केवल चौथी योजना के दौरान खाद्यान्न-आयात कम होकर 10 प्रतिशत हो गए। 1970-80 के दशक में खाद्यान्नों के भारी मात्रा में भण्डार इकट्ठे होने के परिणामस्वरूप इनका आयात कुछ वर्षों में बिल्कुल समाप्त हो गया और 1980-90 के दशक में इनका बहुत ही थोड़ा आयात किया गया। 1951 के पश्चात् आयात में निम्नलिखित संरचनात्मक परिवर्तन हुए हैं–

(i) औद्योगीकरण में तीव्र प्रगति के परिणामस्वरूप पूँजी वस्तुओं और कच्चे माल के आयात में वृद्धि हुई।

(ii) निर्यात प्रोत्साहन (Export Promotion) के लिए आयात के उदारीकरण के आधार पर कच्चेमाल के आयात में वृद्धि हुई; और

(iii) देश के खाद्यान्नों एवं अन्य उपभोक्ता वस्तुओं में कृषि तथा औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप आत्मनिर्भर हो जाने के कारण खाद्यान्नों एवं उपभोक्ता वस्तुओं के आयात में गिरावट आयी।

तालिका 3.6: मुख्य वस्तुओं के आयात की वार्षिक औसत

(करोड़ रुपए)

	1951-52 से 1960-61	1961-62 से 1965-66	1974-75 से 1979-80	1980-81 से 1984-85	1985-86 से 1989-89	1991-92 से 1999-2000	2000-01 से 2004-05
1. खाद्यान्न	141	241	548	374	516	624	2,170
2. मशीनरी (इंजनों समेत)	190	472	1,078	2,515	6,415	14,976	21,430
3. खनिज तेल	77	85	2,063	5,264	4,498	27,469	88,650
4. धातुएँ (लौह तथा अलौह)	93	172	647	1,448	2,450	7,003	9,825
5. रसायन और औषधियाँ	44	55	254	660	1,868	1,921	4,977
6. रासायनिक खाद	–	28	439	698	1,114	4,707	3,707
7. हीरे तथा कीमती पत्थर	–	–	244	730	2,405	9,993	26,690

मुख्य आयात की प्रवृत्ति

आयात के सम्बन्ध में कुछ चुनी हुई वस्तुओं के आयात की प्रवृत्ति तालिका 6 में दी गई है।

खाद्यान्न (Foodgrains)–भारत के विभाजन और इसकी बढ़ती हुई आबादी के कारण खाद्यान्नों के आयात की आवश्यकता अनुभव हुई। आयोजन के पहले दशक (1950-51 से 1960-61) के

दौरान खाद्यान्नों का औसत वार्षिक आयात 141 करोड़ रुपए था। तीसरी योजना के दौरान यह और बढ़कर 241 करोड़ रुपए प्रति-वर्ष हो गया।

नोट

1965-66 और 1966-67 में सूखा पड़ने के कारण स्थिति और बिगड़ गई। परिणामत: 1966-67 से 1968-69 के दौरान कुल रूप में 1,201 करोड़ रुपए का खाद्यान्न विदेशों से मंगवाया गया। चौथी योजना में खाद्य-आयात के गिरने की प्रवृत्ति व्यक्त हुई। खाद्य आयात जो 1969-70 में 184 करोड़ रुपए थे, गिरकर 1972-73 में केवल 48 करोड़ रुपए रह गए। परन्तु ये चार अच्छी फसलों के वर्ष थे। यह प्रवृत्ति 1973-74 में फिर उलट गई और 1974-75 और 1979-80 के दौरान खाद्यान्न का औसत वार्षिक आयात 548 करोड़ रुपए हो गया। खाद्यान्नों की भरपूर फसल होने और भारी मात्रा में बफर-स्टॉक उपलब्ध होने के कारण खाद्यान्न आयात में कमी व्यक्त हुई। 1980-81 से 1984-85 की 5 वर्षों की अवधि में खाद्यान्न का औसत वार्षिक आयात केवल 874 करोड़ रुपए था। 1985-86 और 1989-90 के दौरान खाद्यान्न आयात औसतन 516 करोड़ रुपए प्रति वर्ष था किन्तु 1992-93 में यह फिर बढ़कर 1,240 करोड़ रुपए हो गया। 2005-06 के दौरान केवल 2,501 करोड़ रुपये के खाद्यान्न का आयात किया गया जो नाममात्र था।

मशीनरी—जिस देश में औद्योगीकरण का प्रोग्राम आरम्भ किया गया हो, वहाँ मशीनों के आयात की वृद्धि अनिवार्य हो जाती है। 1950-51 और 1960-61 के दौरान मशीनरी का औसत वार्षिक आयात 190 करोड़ रुपए हो गया। चौथी योजना में इस आयात की औसत 484 करोड़ रुपए हो गई। 1974-75 और 1979-80 के दौरान 4,078 करोड़ रुपए की मशीनरी का आयात किया गया। सातवीं योजना (1985-86 से 1989-90) के दौरान आधुनिकीकरण के प्रोग्रामों के लिए मशीनरी का औसत वार्षिक आयात 6,415 करोड़ रुपए तक पहुँच गया। यह 2005-06 में और बढ़कर 43,806 करोड़ रुपए हो गया। मशीनरी का बढ़ता हुआ आयात एक ओर हमारे औद्योगीकरण का संकेत करता है परन्तु दूसरी ओर हमारी देशी तकनालाजी का विकास करने में विफलता और आयात नीति में अन्धाधुंध उदारीकरण को दर्शाता है।

खनिज तेल (Mineral Oils)—खनिज तेलों के आयात में भी वृद्धि हो रही है। भारत में खनिज तेलों की कमी है। यह कमी पेट्रोलियम में विशेषकर अनुभव की जा रही है। खनिज तेलों का वार्षिक आयात 1969-70 और 1973-74 के दौरान औसत रूप में बढ़कर 226 करोड़ रुपए हो गया था। पैट्रोलियम निर्यात देशों के संघ (Organisation of Petroleum Exporting Countries) द्वारा रूक्ष तेल की कीमतों में तीव्र वृद्धि कीघोषणा करने के कारण 1973-74 के दौरान पैट्रोलियम के आयात का मूल्य बढ़कर 569 करोड़ रुपए हो गया। इसके उपरान्त 1974-75 और 1979-80 के दौरान इसका औसत वार्षिक आयात 2,063 करोड़ रुपए था। 1980-81 और 1984-85 में पैट्रोलियम, तेल और स्नेहकों का आयात रिकार्ड स्तर पर पहुँच गया, अर्थात औसत वार्षिक आयात 5,264 करोड़ रुपए था। तेल की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों में कमी और देशीय उत्पादन में वृद्धि के कारण 1985-86 से 1989-90 के दौरान खनिज तेलों का औसत वार्षिक आयात कम होकर 4,498 करोड़ रुपए हुआ। खाड़ी युद्ध ने खनिज तेलों की कीमत में भारी वृद्धि की, परिणामत: खनिज तेल आयात बिल बढ़कर 2005-06 में 1,94,640 करोड़ रुपए के उच्च स्तर पर पहुँच गया। अर्थात कुल आयात का लगभग 31 प्रतिशत।

धातुएँ—भारत में लौह तथा इस्पात का आयात किया जाता है। कुछ हद तक अलौह धातुओं (Non-ferrous metals) का भी आयात होता है। 1969-70 और 1973-74 के दौरान धातुओं का

औसत वार्षिक आयात 309 करोड़ रुपए और 1974-75 और 1979-80 के दौरान इनका वार्षिक, आयात 647 करोड़ रुपए हो गया। 1980-81 और 1984-85 के दौरान, लौह तथा अलौह धातुओं का औसत वार्षिक आयात बढ़कर 1,448 करोड़ रुपए हो गया। हमारे इस्पात प्लान्टों के क्षमता उपयोग में उन्नति द्वारा लौह तथा इस्पात के आयात को कम किया जा सकता है। यह वस्तुतः बहुत ही निराशाजनक बात है कि 1985-86 से 1989-90 के दौरान औसतन 2,450 करोड़ रुपये के धातुओं का वार्षिक आयात किया गया। जबकि 1990-91 से 1999-00 के दौरान इनका औसत वार्षिक आयात 7,003 करोड़ रुपए था। 2005-06 में 24,850 करोड़ रुपये के मूल्य की धातुओं का औसत आयात किया गया।

रसायन तथा औषधियाँ (Chemicals and Medicines)—भारत में रसायनों तथा औषधियों के आयात में भी वृद्धि हुई है। इन वस्तुओं का औसत वार्षिक आयात पहली तथा दूसरी योजना में 44 करोड़ रुपए प्रतिवर्ष था जो 1969-70 और 1973-74 के दौरान बढ़ कर 113 करोड़ रुपये हो गया। यह 1974-75 और 1979-80 के दौरान और बढ़ कर 254 करोड़ रुपये हो गया। 1985-86 और 1989-90 के दौरान इनका औसत वार्षिक आयात बढ़कर 1,868 करोड़ रुपए हो गया। 2005-06 में यह और बढ़कर 6,205 करोड़ रुपए हो गया।

हीरे तथा कीमती पत्थर—1974-75 और 1979-80 की अवधि के दौरान हीरों तथा कीमती पत्थरों के आयात की वार्षिक औसत 244 करोड़ रुपए थी जो 1985-86 से 1989-90 की अवधि के दौरान बढ़कर 2,405 करोड़ रुपए हो गई। इस आयात का एक भाग तो भारत में समृद्ध वर्गों की माँग तुष्ट करने के लिए किया जाता है और एक भाग इसके हस्तशिल्प निर्यात उद्योग के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि 1985-86 और 1989-90 के दौरान हीरों एवं कीमती पत्थरों का औसत वार्षिक निर्यात 2,405 करोड़ रुपए था। 2005-06 के दौरान 40,469 करोड़ रुपए के आयात के विरुद्ध इनका निर्यात 68,830 करोड़ रुपए था।

उर्वरक—भारतीय कृषि में नई तकनीक के अपनाने के फलस्वरूप उर्वरकों के आयात को बढ़ाया गया। जबकि तीसरीयोजना के दौरान उर्वरकों का औसत वार्षिक आयात केवल 28 करोड़ रुपए था, यह 1966-67 और 1968-69 के दौरान बढ़कर 121 करोड़ रुपए हो गया परन्तु देश में रासायनिक उर्वरकों के उत्पादन में वृद्धि के कारण इनका औसत वार्षिक आयात 1969-70 और 1973-74 के दौरान कम होकर 96 करोड़ रुपए हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि के कारण 1974-75 और 1979-80 के दौरान रासायनिक उर्वरकों का औसत वार्षिक आयात एकदम 439 करोड़ रुपए हो गया। 1980-81 से 1984-85 के दौरान उर्वरकों का औसत वार्षिक आयात 698 करोड़ रुपए था। हाल ही में सरकार ने उर्वरकों के आयात में कटौती करने की अपेक्षा इनके आयात में उदारीकरण किया है। परिणामतः 1985-86 और 1989-90 के दौरान उर्वरकों का औसत वार्षिक आयात 1,114 करोड़ रुपए हो गया। 2005-06 के दौरान में उर्वरकों का आयात 9,159 करोड़ रुपए था।

मुख्य वस्तुओं का निर्यात

चाय एवं कॉफी—चाय भारत के निर्यात की महत्त्वपूर्ण मद है। 1951-52 से 1960-61 के काल में हमारा चाय का औसत वार्षिक निर्यात 119 करोड़ था जो दूसरी योजना के दौरान और अधिक होकर 132 करोड़ रुपए हो गया। तीसरी योजना के दौरान चाय के निर्यात में थोड़ी गिरावट आई

नोट

परन्तु चौथी योजना के दौरान चाय का औसत वार्षिक निर्यात बढ़कर 142 करोड़ रुपए हो गया। 1991-92 के दौरान चाय का औसत वार्षिक निर्यात 1,132 करोड़ रुपए था परन्तु यह 2005-06 में बढ़ कर 1,632 करोड़ रुपए हो गया। हमारी चाय के प्रमुख ग्राहक हैं–यू.के, यू.एस. ए., कनाडा, आस्ट्रेलिया, रूस, मिश्र और जर्मनी। 2005-06 में कॉफी का निर्यात 1,557 करोड़ रुपए हो गया।

रूई का सूत और निर्मित वस्तुएँ (Cotton Yarn and Manufactures)–प्रथम एवं द्वितीय योजना काल में सूत तथा कपड़े का औसत वार्षिक निर्यात 81 करोड़ रुपए था किन्तु तीसरी योजना के दौरान यह गिरकर 55 करोड़ रुपए प्रतिवर्ष हो गया। भारतीय सूती वस्त्र उद्योग में उत्पादन की लागत अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण, भारत के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में सूत तथा कपड़ा बेचना कठिन हो जाता है। वास्तव में अधिक लागत के दो मुख्य कारण हैं–अधिक श्रम लागत (स्इवनर्त बवेज) और पुरानी मशीनरी का प्रयोग। अवमूल्यन के पश्चात् कपड़े के निर्यात में वृद्धि हुई तथा 1990-91 और 2004-05 के दौरान सूत तथा कपड़े का निर्यात 2,100 करोड़ रुपए से बढ़कर 17,102 करोड़ रुपए हो गया।

सिले-सिलाए कपड़े (Redymade garments)–हाल ही के वर्षों में सिले-सिलाए कपड़ों के निर्यात में उन्नति हुई है। 1970-71 में इनका निर्यात केवल 9 करोड़ रुपए था परन्तु 1980-81 में यह बढ़कर 378 करोड़ रुपए हो गया। इसमें लगातार तेज उन्नति हुई है और 2005-06 के दौरान सिल-सिलाए कपड़े का निर्यात में बढ़कर 37,209 करोड़ रुपए के रिकार्ड स्तर पर पहुँच गया।

चमड़ा तथा निर्मित वस्तुएँ–भारतीय निर्यात की एक पारस्परिक मद कच्ची खलें तथा चमड़ा है। परन्तु हाल ही के वर्षों में इस मद में कमाए हुए चमड़े का अनुपात बढ़ गया है। यह स्वस्थ प्रवृत्ति है। 1980-81 के दौरान भारत को इस मद से लगभग 337 करोड़ रुपए प्रति वर्ष प्राप्त हुए। 2005-06 के दौरान इस मद का निर्यात और बढ़कर 11,625 करोड़ रुपए हो गया।

लौह अयस्क (Iron ore)–भारत कच्चे लोहे का निर्यात करता है। 1960-61 के दौरान इसका निर्यात मूल्य लगभग 27 करोड़ रुपए था किन्तु इसमें लगातार वृद्धि होती चली आई है और 1980-81 के दौरान निर्यात 303 करोड़ रुपए था। 2005-06 में कच्चे लोहे का निर्यात 17,903 करोड़ रुपये था। यह एक अस्वस्थ प्रवृत्ति है। भारत को अपने निर्यात में इस्पात के भाग को बढ़ाना चाहिए और कच्चे लोहे का प्रयोग अपने स्टील प्लान्टों में करना चाहिए। काजू (Cashew Kernels)–हाल के वर्षों में काजू का हमारे निर्यात में महत्त्व बढ़ा है। 1970-71 के दौरान काजू का निर्यात 52 करोड़ रुपए था। 2005-06 में भारत द्वारा 2,570 करोड़ रुपए का काजू निर्यात किया गया।

हस्तशिल्प (Handicrafts)–समय के साथ-साथ भारतीय हस्तशिल्पों का निर्यात में महत्त्व बढ़ता जा रहा है। जबकि 1970-71 में यह 70 करोड़ रुपए के निम्न स्तर पर था, 2005-06 में यह बढ़कर 70,647 करोड़ रुपए हो गया।

इन में हीरों तथा जवाहरात का निर्यात 68,830 करोड़ रुपए था।

इंजीनियरिंग वस्तुएं (Engineering Goods)–इस वर्ग में लौह एवं इस्पात, इलैक्ट्रानिक वस्तुएँ और साफ्टवेयर (Software) शामिल किए जाते हैं। 1980-81 तक भी इस वर्ग का निर्यात केवल 827 करोड़ रुपए मात्र ही था परन्तु 1990-91 में इनका निर्यात बढ़कर 3,872 करोड़ रुपए हो गया। 2005-06 में इनका निर्यात तीव्र गति से बढ़कर 95,396 करोड़ रुपए हो गया जो कि हमारे कुल निर्यात का 20.9 प्रतिशत है। यह एक प्रशंसनीय उपलब्धि है।

3.16 भारत के विदेशी व्यापार की दिशा

नोट

भारत के विदेशी व्यापार की क्षेत्रीय दिशा (Regional direction) का अध्यन करने के लिए विश्व को मोटे तौर पर चार बड़े वर्गों में बाँट लेना उचित होगा अर्थात् अमेरिका, यूरोप, एशिया एवं ओशनिया (Oceania) और अफ्रीका। जहाँ तक अमेरिका महाद्वीप का सम्बन्ध है, भारत के उत्तरी अमेरिका के साथ जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा शामिल हैं,घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध हैं। हमारे विदेशी व्यापार में लैटिन अमेरिका के देशों और अन्य अमरीकी देशों का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रहा था और न ही यह विकसित हुआ।

भारत 1951-52 में अमेरिका को अपने कुल निर्यात का 28 प्रतिशत भेजता था जिसमें से 21 प्रतिशत उत्तरी अमेरिका को और 6.3 प्रतिशत लैटिन अमेरिका के देशों को। समय के साथ लैटिन अमेरिका के देशों का भाग कम हो गया और 1979-80 में यह हमारे निर्यात का 0.3 प्रतिशत रह गया। उत्तरी अमेरिका का भाग 1955-1956 और 1968-70 के दौरान 17 से 21 प्रतिशत के बीच था। 1971 में बंगला देश के युद्ध के पश्चात् भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका के आपसी सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न हो गया और संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ हमारा व्यापार कम हो गया। यह बहुत हद तक इस बात की व्यांख्या करता है कि 1976-77 में संयुक्त राज्य अमेरिका को हमारा निर्यात गिरकर 10 प्रतिशत क्यों हो गया। हाल ही के वर्षों में इस स्थिति में थोड़ा सुधार हुआ है और 2005-06 में यू. एस. ए. को हमारा निर्यात कुल निर्यात का 17.7 प्रतिशत हो गया। आयात पक्ष की ओर अमेरिका द्वारा 1951-52 में 36.3 प्रतिशत योगदान किया गया परन्तु इसका भाग 1960-61 में गिरकर 31.5 प्रतिशत हो गया, फिर 1965-66 में खाद्यान्नों के आयात में वृद्धि होने के कारण यह बढ़कर 40 प्रतिशत हो गया और 1970-71 में यह लगभग 35 प्रतिशत था। बंगलादेश युद्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका के शत्रु से व्यवहार के कारण भारत ने संयुक्त राज्य अमेरिका पर अपनी निर्भरता कम करने का फैसला किया और परिणामत: उत्तर अमेरिका से हमारे आयात गिरकर 1974-75 में कुल आयात का केवल 19.2 प्रतिशत रह गए। खाद्यान्नों के अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में आयात के फलस्वरूप, हमारे आयात में यू.एस.ए. का भाग 1975-76 में बढ़कर 24.6 प्रतिशत हो गया परन्तु यह 2005-06 में गिरकर 6.1 प्रतिशत हो गया।

ऐतिहासिक रूप में 1947 तक भारत संयुक्त राज्य का एक उपनिवेश होने के कारण यू. के. के साथघनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध रखता था। इसके यूरोप के अन्य देशों के साथ भी व्यापारिक सम्बन्ध थे। व्यापार की दृष्टि से

यूरोपीय महाद्वीप को तीन बड़े क्षेत्रों में विभक्त किया जा सकता है–पश्चिमी यूरोप को फिर मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जाता है–यूरोपीय साझा बाजार (European Common Market—ECM) और यूरोपीय स्वतन्त्र बाजार क्षेत्र (European Free Trade Area—EFTA)।

1950-51 में कुल भारतीय आयात का 30.5 प्रतिशत पश्चिमी यूरोप से प्राप्त होता था। 1955-56 में पश्चिमी यूरोप का भाग बढ़कर 48.9 प्रतिशत हो गया। इसके लिए दो कारणतत्व उत्तरदायी थे: पहला यू.के. से आयात बढ़ने का कारण यह था कि इसे भारत को स्टर्लिंग ऋण (Sterling debt) का भुगतान करना था और दूसरे इसने ECM में शामिल होने का निर्णय कर लिया, हमारे कुल आयात में EFTA देशों का महत्त्व सिकुड़कर केवल 1.6 प्रतिशत हो गया। म्ब्ड देशों का भाग जो 1955-56 में 18.2 प्रतिशत था गिरकर 1969-70 में 10.9 प्रतिशत हो गया परन्तु

नोट

यह फिर उन्नत होकर 1979-80 में 24.2 प्रतिशत हो गया। किन्तु एक हद तक यह वृद्धि EFTA क्षेत्र से केवल परिवर्तन के रूप में ही है। यदि हम म्थ्ब्न और म्ब्ड क्षेत्रों को साथ लें, तो 1955-56 के पश्चात् यूरोप के भाग में कमी हुई है और 1976-77 में यह गिरकर 21.3 प्रतिशत हो गया। किन्तु 1979-80 में यह उन्नत होकर लगभग 27 प्रतिशत हो गया। किन्तु यह 1987-88 में यह 33 प्रतिशत हो गया परन्तु यह 2005-06 में फिर कम होकर 15. 7 प्रतिशत हो गया।

हाल ही के वर्षों में पूर्वीय यूरोप के देशों अर्थात् यू.एस.एस.आर., पालैंड, रूमानिया, बुल्गारिया, चैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया के साथ हमारा व्यापार विकसित हुआ है। इन देशों से आयात की मुख्य मदें हैं–लौह एवं इस्पात, अलौह धातुएँ, रसायन, पूँजी साज-सामान, रेलवे स्टोर, कागज, दवाइयाँ एवं औषधियाँ और पैट्रोलियम उत्पाद। इनमें से बहुत सी वस्तुओं के आयात हमारे आन्तरक प्रोजैक्टों (ब्वतम च्तवरमबजे) और सामरिक महत्त्व के उद्योगों में सहायक हैं।

इनके बदले भारत इन देशों को चाय, काजू, गर्म मसाले, तम्बाकू, तिलहन, चमड़ा, धात्विक अयस्क (Metallic ores), पटसन की निर्मित वस्तुओं आदि का निर्यात करता है अर्थात् भारतीय निर्यात की पारम्परिक मदें (Traditional items)। इन देशों से आयात की संरचना से स्पष्ट हो जाता है कि ये आयात आर्थिक विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। 1960-61 में भारत ने इस क्षेत्र से अपने कुल आयात का 4 प्रतिशत मंगवाया और इस क्षेत्र को निर्यात का लगभग 8 प्रतिशत भेजा। परन्तु 1962 में भारत-चीन युद्ध और 1965 में भारत-पाक युद्ध के पश्चात् पूर्वीय यूरोप के समाजवादी देशों के साथ हमारे व्यापारिक सम्बन्ध बहुत अधिक उन्नत हो गए। 1970-71 में, इस वर्ग के देशों से हमारे कुल आयात का 13.5 प्रतिशत प्राप्त किया गया और इन्हें हमारे कुल निर्यात का 21 प्रतिशत भेजा गया। इस क्षेत्र से कुल व्यापार का 84 प्रतिशत यू.एस.एस.आर. से है। 2005-06 तक, पूर्वीय यूरोप से हमारे आयात गिरकर लगभग 2.6 प्रतिशत रह गए और इस क्षेत्र को निर्यात में भी गिरावट आई और वे 1979-80 तक 14 प्रतिशत हो गए और 2005-06 तक गिर कर केवल 1.9 प्रतिशत रह गए। सोवियत संघ के विघटन के परिणामस्वरूप, इन देशों के साथ हमारे व्यापारिक सम्बन्धों में परिवर्तन आ रहा है।

पेट्रोलियम निर्यातक देशों के संगठन (Organization of Petroleum Exporting Countries—OPEC) के साथ हमारे व्यापारिक सम्बन्ध बढ़े हैं। 1970-71 में इन देशों से हमारे आयात का लगभग 8 प्रतिशत प्राप्त होता था, परन्तु इसकी तुलना में 1987-88 में यह एक दम छलांग लगाकर 13.3 प्रतिशत हो गया। इसका मुख्य कारण तेल की कीमतों में तीव्र वृद्धि थी और अयात के परिमाणात्मक सूचकांक (Quantitative index) में तदनुरूप वृद्धि नहीं हुई। निर्यात के पक्ष में, इन देशों को हमारे निर्यात का 6.1 प्रतिशत 1987-88 में भेजा जाता था और यह 2005-06 में बढ़कर 14.8 प्रतिशत हो गया। तेल की अन्तर्राष्ट्रीय कीमत में गिरावट के परिणामस्वरूप पैट्रोलियम निर्यातक देशों के साथ हमारे आयात 1987-88 में फिर गिरकर 13.3 प्रतिशत हो गए तथा 2005-06 में और गिर 7.7 प्रतिशत हो गए।

1970-71 के दौरान हमारे निर्यात में इन दो देशों का भाग 15 प्रतिशत था जोकि कम होकर 2005-06 में 3.2 प्रतिशत रह गया किन्तु हमारे आयात में भाग जो 1970-71 में केवल 7.2 प्रतिशत था, वह 2005-06 में 5.9 प्रतिशत हो गया।

भारत एशियाई देशों के साथ अपने विदेशी व्यापार को बढ़ाने की भारी क्षमता रखता है क्योंकि इन देशों में भारत की निर्मित वस्तुएँ भली भाँति स्वीकार की जाती हैं। इसी प्रकार भारत

इन सापेक्षत: अल्पविकसित देशों से अपने बढ़ते हुए उद्योगों के लिए कच्चे माल का आयात कर सकता है। इसका प्रमाण यह है कि इन देशों से 2005-06 के दौरान हमारे कुल आयात का 20.9 प्रतिशत प्राप्त किया गया जबकि 1970-71 में यह केवल 3.3 प्रतिशत था।

नोट

निर्यात के क्षेत्र भी में धीरे-धीरे और लगातार उन्नति हुई है और एशियाई देशों को हमारे निर्यात जो 1970-71 में 10.8 प्रतिशत थे तेज़ी से बढ़कर 2005-06 में 30.1 प्रतिशत हो गए हैं।

अफ्रीका के साथ हमारे निर्यात 1951-52 और 1970-71 के दौरान लगभग 6-7 प्रतिशत के बीच रहे हैं, परन्तु इसके पश्चात् ये गिरकर 2005-06 में 5.6 प्रतिशत हो गए। किन्तु आयात के क्षेत्र में, अफ्रीकी देशों का भागघटता-बढ़ता रहा है और यह 1951-52 में 9 प्रतिजशत था किन्तु 2005-06 में 3.2 प्रतिशत रह गया। कुल रूप में यह कहा जा सकता है कि भारत का विदेशी व्यापार अब अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत हो गया है। 1951-52 और 1969-70 के दौरान पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका पर भारत की अत्यधिक निर्भरता अब कम हो गयी और धीरे-धीरे हमारा व्यापार पूर्वीय यूरोप के देशों और एशियाई देशों के साथ बढ़ाता गया। परन्तु अस्सी के दशक और 1990-91 से 2005-06 के दौरान जिसमें सोवियत संघ का विघटन हुआ, पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका का महत्त्व बढ़ गया है। ये दोनों क्षेत्र 2005--06 में हमारे निर्यात के 39 प्रतिशत और आयात के 22 प्रतिशत के लिए जिम्मेदार थे। पूर्वीय यूरोप के देशों का भाग सिकुड़ कर नगण्य हो गया और एशिया और अफ्रीका के देशों का भाग बढ़ रहा है।

कुछ महत्त्वपूर्ण देशों के संदर्भ में हमारे विदेशी व्यापार की दिशा का परीक्षण करना रुचिकर होगा। हमारे विदेशी व्यापार में सात देश महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वे हैं–यू.एस.ए., यू.के., जर्मनी, जापान, यू.ए.ई. सऊदी अरब और इटली। 1951-52 से 2005-06 के दौरान इन सात देशों के साथ हमारे निर्यात 57 से 40 प्रतिशत की अभिसीमा (Range) में रहे। इसके विरुद्ध इसी काल के दौरान हमारे आयात में इनका भाग 43-से 22 प्रतिशत के बीच रहे।

1987-88 और 2005-06 के दौरान, भारत के विदेशी व्यापार की दिशा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

(i) आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन (Organisation for Economic Co-operation and Develop- ment—OECD) देशों के साथ हमारे निर्यात जो 1987-88 में 59 प्रतिशत थे गिर कर 2005-06 में 44 प्रतिशत हो गए। इसी प्रकार ओ.ई.सी.डी. देशों से हमारे आयात जो 1987-88 में 60 प्रतिशत थे और तेज़ी से गिर कर 2005-06 में 33 प्रतिशत हो गए। यह गिरावट व्यापक रूप में योरोपीय संघ (European Union), उत्तरी अमेरिका (यू.एस.ए. समेत) और अन्य ओ.ई.सी.डी. देशों जैसे आस्ट्रेलिया, जापान और स्विटज़रलैंड में व्यक्त हुई।

(ii) विकासशील देशों के साथ हमारे विदेशी व्यापार में बढ़ने की प्रवृत्ति पायी गयी। इनमें शामिल हैं–एशिया, लातीन अमेरिका और अफ्रीका। इन देशों को हमारे निर्यात 1987-88 में केवल 14.2 प्रतिशत थे, जो तेज़ी से बढ़कर 2005-06 में 38.7 प्रतिशत हो गए। इनमें एशिया के भाग में विशेषकर उन्नति हुई और यह इस अवधि में 12 प्रतिशत से बढ़कर 30.1 प्रतिशत हो गया। इसमें, चीन और हांगकांग का भाग हमारे निर्यात में लगभग 11 प्रतिशत हो गया और सार्क देशों (SAARC Countries) का भाग 5.2 प्रतिशत हो गया। जहां तक आयात का सम्बन्ध है विकासशील देशों से हमारे आयात जो 1987-88 में 17.3

नोट

प्रतिशत थे बढ़कर 2005-06 में 25.8 प्रतिशत हो गये। केवल एशिया द्वारा 2005-06 में आयात का 21 प्रतिशत उपलब्ध कराया गया। चीन और हांगकांग से 2005-06 में आयात 9 प्रतिशत था। किन्तु सार्क देशों का भाग केवल 1 प्रतिशत था। ध्यान देने योग्य बात यह है कि चीन 2005-06 में हमारे मुख्य व्यापारिक साझीदार के रूप में उभरा है और इसे तृतीय स्थान प्राप्त हो गया है—यू.एस.ए. और यू.ए.ई. के बाद, परन्तु यह यू. के. और बैल्जियम से आगे निकल गया है। यदि चीन और हांगकांग को एक साथ लिया जाए, तो इन्हें हमारे विदेशी व्यापार में द्वितीय स्थान प्राप्त हो गया है।

(iii) पेट्रोलियम निर्यात देशों (Organisation of Petroleum Exporting Countries—OPEC) से हमारा विदेशी व्यापार बढ़ा है। इनको निर्यात जो 1987-88 में 6.1 प्रतिशत थे बढ़कर 2005-06 में 15 प्रतिशत हो गए। परन्तु इसी अवधि के दौरान आयात में गिरावट की प्रवृत्ति पायी गयी 13.3 प्रतिशत से गिर कर 7.7 प्रतिशत। पेट्रोलियम निर्यातक देशों में यू.ए.ई सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया और इसके बाद हैं सऊदी अरब और इंडोनेशिया।

(iv) अफ्रीका के साथ हमारा विदेशी व्यापार शुरू हो गया है, चाहे निर्यात एवं आयात में अफ्रीका का भाग 2005-06 में क्रमशः 5.6 प्रतिशत और 3.2 प्रतिशत है। किन्तु अफ्रीका भी एक छोटे साझीदार के रूप में उभर रहा है और भविष्य में इसके और अधिक बढ़ने की क्षमता है।

(v) वैक्तिक देशों में यू.एस.ए. का प्रथम स्थान है और हमारे निर्यात में इसका भाग 2005-06 में 16.7 प्रतिशत है और आयात में 5.5 प्रतिशत। परन्तु यू.के. ने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान खो दिया है और हमारे निर्यात एवं आयात में इसका भाग केवल 4.5 प्रतिशत है।

(vi) पूर्वीय योरोप देशों का विशेषकर रशिया का सत्तर के दशक में हमारे विदेशी व्यापार में एक महत्त्वपूर्ण स्थान था परन्तु 2005-06 तक, हमारे विदेशी व्यापार में इसका भाग। से 2 प्रतिशत ही रह गया है। यह स्थिति विशेषकर यू.एस.एस. आर के विघटन और 1992-93 में स्वतंत्र राज्यों के राष्ट्रमण्डल (Common- wealth of Independent States) के गठन के पश्चात् व्यक्त हुई।

(vii) आस्ट्रेलिया, जापान एवं स्विटजरलैंण्ड ने हमारे विदेशी व्यापार में महत्त्वपूर्ण उन्नति प्राप्त की है और हमारे आयात में इनका भाग बढ़कर 11 प्रतिशत हो गया है, परन्तु 2005-06 में हमारे निर्यात में इनका भाग केवल 5 प्रतिशत था जबकि यह 1987-88 में 14 प्रतिशत था।

संक्षेप रूप में, यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि हमारे विदेशी व्यापार का विविधीकरण हुआ है और ओ.ई.सी.डी. देशों पर हमारी अत्यधिक निर्भरता में कमी व्यक्त हुई है। किन्तु विकासशील देशों, विशेषकर एशियाई देशों के साथ हमारे निर्यात एवं आयात में उल्लेखीय उन्नति हुई है यह हमारे विदेशी व्यापार की दिशा के बारे में अभिनन्दनीय संकेत हैं।

3.17 भुगतान शेष का अर्थ

व्यापार-शेष में अदृश्य मदों से प्राप्त शुद्ध आय जोड़कर चालू खाते पर भुगतान-शेष (Balance of payments on current account) प्राप्त किया जाता है।

भुगतान-शेष की सुविधा की दृष्टि से वर्गीकरण (क) चालू खाते पर भुगतान-शेष, और (ख) पूँजी खाते पर भुगतान-शेष के रूप में किया जाता है। चालू खाते में वस्तुओं तथा सेवाओं का भुगतान,

एकपक्षीय भुगतान (Unilateral transfer) और दान शामिल किए जाते हैं। इस प्रकार चालू खाते पर भुगतान-शेष में वस्तुओं तथा सेवाओं का निर्यात, अदृश्य मदें और दान (Donations) सम्मिलित किए जाते हैं। पूँजी खाते पर भुगतान-शेष में देश की अन्तर्राष्ट्रीय वित्त स्थिति से सम्बन्धित चालू खाते की मदों का और अधिक स्पष्टीकरण मिलता है। चालू खाते की सभी मदें पूँजी खाते में व्यक्त होती हैं। परिणामत: पूँजी खाते में देश की विदेशी परिसम्पत् और दायित्वों (International assets and liabilities) का अध्ययन किया जाता है। देश के विदेशी मुद्रा प्रारक्षण (Foreign exchange reserve) में परिवर्तन, जो देश की वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान स्थित की सबलता या निबलता के सूचक होते हैं, पूँजी खाते (Capital account) में शामिल किए जाते हैं।

स्वतंत्र भारत में चालू खाते पर भुगतान-शेष

1951–52 से 1955–56 पहली योजना का काल–प्रथम योजना के दौरान, भुगतान-शेष की स्थिति पर कोरिया के युद्ध के प्रभावस्वरूप आरम्भ हुई तेजी, 1953 में अमरीका मेंघटित प्रतिसार (Recession), देश में अनुकूल वर्षा होने के कारण कृषि और औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार इस काल में खाद्य के आयात में कमी हुई परन्तु भारत सरकार की उदार आयात नीति (Liberal import policy) के कारण आयात 963 करोड़ रुपए के ऊँचे स्तर पर पहुँच गया। अत: कोरिया के युद्ध के लाभ समाप्त हो गए। चाहे अदृश्य मदों के कारण 70 करोड़ रुपए की शुद्ध सकारात्मक आय प्राप्त हुई, फिर भी भुगतान-शेष 163 करोड़ रुपए तक प्रतिकूल रहा। कुल मिलाकर पहली योजना के दौरान स्थिति सन्तोषजनक रही और पाँच वर्षों की अवधि में भुगतान-शेष केवल 42 करोड़ रुपए प्रतिवर्ष की औसत दर तक प्रतिकूल रहा।

1956–57 से 1960–61–दूसरी योजना का काल–दूसरी योजना का महत्त्वपूर्ण लक्षण यह था कि इसके दौरान व्यापार-शेष काघाटा 2,339 करोड़ रुपए था। अदृश्य मदों तथा मित्र देशों से प्राप्त अनुदानों से कुल 614 करोड़ रुपए शुद्ध अतिरेक के रूप में प्राप्त हुए। इस प्रकार पाँच वर्षों के दौरान भुगतान-शेष का कुलघाटा 1,725 करोड़ रुपए रह गया। इस परिस्थिति के मुख्य कारण थे–(1) मूल तथा भारी उद्योगों के विकास के लिए पूँजी-वस्तुओं का भारी आयात, (2) बढ़ती हुई जनसंख्या और विस्तृत होते हुए उद्योग की खाद्य-पदार्थों और कच्चे माल की बढ़ती हुई माँग को को कृषि उत्पादन में वृद्धि द्वारा पूरा करने में विफलता, (3) अर्थव्यवस्था द्वारा निर्यात को पर्याप्त मात्रा में न बढ़ा पाना और एक विकासमान अर्थव्यवस्था के लिए न्यूनतम परिपोषक आयात (Maintenance Imports) उपलब्ध कराने की आवश्यकता। परिणामत: विदेशी मुद्रा प्रारक्षण (Foreign exchange reserve) में तीव्र कमी हुई और देश के सामने आयात पर प्रतिबन्ध लगाने और निर्यात का विस्तार करने की अपेक्षा कोई चारा न रहा।

तीसरी योजना और वार्षिक योजनाओं का काल–तीसरी योजना के दौरान व्यापार-शेषघाटा 2,384 करोड़ रुपए था, परन्तु अदृश्य मदों के खाते में 432 करोड़ रुपय की शुद्ध आय प्राप्त हुई। इस प्रकार 1961–62 और 1965–66 के बीच चालू खाते पर भुगतान-शेष काघाटा 1,951 करोड़ रुपए रह गया।

वार्षिक योजनाओं (1966–67 से 1968–69) के काल के दौरान, विदेशों से प्राप्त किए गए उधार पर ब्याज के रूप में भारी राशि अदा करनी पड़ी। विनियोग आय (Investment Income) के रूप में 1,449 करोड़ रुपए का शुद्ध उत्प्रवाह हुआ। इस कारण अदृश्य मदों में अतिरेक का सफाया हो गया। परिणामत: भुगतान-शेष काघाटा व्यापार-शेष केघाटे की तुलना में और प्रतिकूल

हो गया। 1969-70 और 1970-71 में अच्छी फसल होने के कारण खाद्यान्न-आयात बहुत कम हो गया और इस प्रकार व्यापार-शेष काघाटा और भी कम हो गया। परन्तु 1971-72 और 1972-73 के दौरान स्थिति फिर बिगड़ गयी।

नोट

1973-74 में अदृश्य मदों के खाते में असामान्य अनुकूलता का कारण संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार के साथ पी.एस. 480 और अन्य रुपया राशि के भुगतान से छूट का निर्णय था और इस प्रकार भारत को 1,664 करोड़ रुपए अदृश्य प्राप्ति के रूप में मिल गए। 1974-75 में इस मद में अनुकूलता का कारण परिवहन खाते और निजी खाते पर लिए गए ऋणों के रूप मे 280 करोड़ रुपए की भारी राशि की प्राप्ति थी। यदि इन असामान्य वर्षों को छोड़ दिया जाए तो चालू खाते मेंघाटे का मुख्य भाग व्यापार शेष में घाटे के कारण ही था।

तालिका 3.7: चालू खाते पर भुगतान शेष

(करोड़ रुपए)

योजना	वर्ष	व्यापार शेष	शुद्ध अदृश्य मदें	भुगतान शेष	2,1 का प्रतिशत
पहली योजना	(1951-52-1955-56)	-542	+500	-42	
दूसरी योजना	(1956-57-1960-61)	-2,339	+614	-1,725	
तीसरी योजना	(1961-62-1965-66)	-2,382	+432	-1950	
वार्षिक योजनाएँ	(1966-67 से 1968-69)	-2067	+52	-2015	
चौथी योजना	(1969-70 से 1973-74)	-1564	+1664	-100	
पांचवी योजना	(1974-75 से 1978-79)	-3,179	+6,261	-3082	
छठी योजना	(1980-81 से 1984-85)	-30,456	+19,072	-11,384	
सातवीं योजना	(1985-86 से 1989-90)	-54,204	+13,157	-41,047	
1990-91		-16,934	-433	-17,367	-2.6
1991-92		-6,494	+4,259	-2,335	65.6
आठवीं योजना					
1992-93		-17,239	+4475	-12,764	26.0
1993-94		-12,723	+9,089	-3,634	71.4
1994-95		-28,420	+17,835	-10,585	62.8
1995-96		-38,061	+18,415	-19,646	48.5
1996-97		-52,561	+36,279	-16,283	69.9
कुल (1992-97)		-149,004	+86,090	-62,914	57.7
नौवीं योजना					
1997-98		-57,805	+36,922	-20,883	63.9
1998-99		-55,478	+38,691	-16,787	69.7
1999-2000		-77,359	+57,028	-20,331	73.7
2000-2001		-56,737	+45,139	-11,598	79.5

2001-2002		-54,955	+71,381	+16,426	129.9
कुल (1997-2002)		-302,334	+249,159	-53,175	82.4
2002-03		-51,697	+82,357	+30,660	159.3
2003-04		-63,386	+127,369	+63,983	220.9
2004-05		-151,765	+139,951	-12,174	92.0
2005-06		-229,426	+188,704	-40,722	82.2

नोट

पांचवीं योजना : 1975-76 से 1978-79

1975-76 और 1978-79 के दौरान अदृश्य मदों में तीव्र वृद्धि के कारण चालू खाते पर भुगतान शेष में अधिशेष उत्पन्न हो गया। अदृश्य मदों की प्राप्ति में वृद्धि के उत्तरदायी मुख्य कारण थे: (i) तस्करी (Smuggling) और अन्य गैर-कानूनी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के विरुद्ध किए गए कड़े उपाय; (ii) रुपए के विदेशी मूल्य में ऐसे समय स्थिरता जब मुख्य अर्न्तराष्ट्रीय मुद्राओं के मूल्यों में भारी उच्चावचन हो रहे थे; (iii) पर्यटकों से प्राप्तियों में वृद्धि; (iv) तकनीकी परामर्श एवं अनुबन्ध सेवाओं (Technical consultancy and contract services) से प्राप्तियों में वृद्धि और (v) रोजगार के लिए विदेश जाने वाले भारतीयों की संख्या में वृद्धि और इनके द्वारा भारत को प्रेशण (Remittance) के रूप में अधिक राशि भेजना। 1974-75 से 1978-79 के काल में व्यापार-घाटा 3,179 करोड़ रुपए रहा किन्तु अदृश्य मदों में 6,261 करोड़ रुपये प्राप्त होने के कारण भुगतान-शेष में 3,085 करोड़ रुपए का भारी अतिरेक कायम हो गया। आयोजन आरम्भ होने के पश्चात् भारत की पहली बार विदेशी खाते में संतोषजनक स्थिति थी।

छठी योजनाा और सातवीं योजना का काल 1979-80 के पश्चात् भुगतान-शेष की स्थिति में भारी परिवर्तन हुआ है। जबकि पांचवीं योजना की सम्रग अवधि के दौरान भारत ने अनुकूल भुगतान-शेष अनुभव किया, 1979-80 के पश्चात् भारत ने प्रतिकूल भुगतान-शेष अनुभव किया। इसका मुख्य कारण व्यापार घाटे में वृद्धि था। व्यापारघाटा 1980-81 में बढ़कर 5,967 करोड़ रुपए और 1981-82 में और बढ़कर 6,121 करोड़ रुपए हो गया। 1983-84 और 1984-85 में भी व्यापार घाटा क्रमशः 5,871 करोड़ रुपय और 6,721 करोड़ रुपय रहा। इस असन्तोषजनक स्थिति का मुख्य कारण आयात में वृद्धि थी जबकि निर्यात में अपेक्षाकृत कहीं कम वृद्धि हुई। चाहे अदृश्य मदों के रूप में 1980-81 और 1984-85 के बीच प्राप्ति 19,072 करोड़ रुपए हुई जोकि अपने आप में एक रिकार्ड उपलब्धि थी, परन्तु व्यापार-शेष काघाटा 30,456 करोड़ रुपए होने के कारण भुगतान शेष 11,384 करोड़ रुपए तक प्रतिकूल हो गया। शुद्ध विदेशी सहायता के अतिरिक्त, भुगतान-शेष के इस भारीघाटे को पूरा करने के लिए भारत सरकार को अन्तर्राष्टीय मुद्रा कोष से भारी ऋण प्राप्त करना पड़ा।

1985-86 और 1989-90 के दौरान (सातवीं योजना की अवधि में) कुल व्यापार घाटा 54,204 करोड़ रुपए था। इसी काल के दौरान 13,157 करोड़ रुपए अदृश्य मदों से प्राप्त हुए। परिणामतः चालू खाते पर भुगतान-शेष का कुल घाटा 41,047 करोड़ रुपए हो गया।

1991-92 और इसके बाद का काल

पिछले 40 वर्षों में पहली बार, शुद्ध अदृश्य प्राप्तियाँ 1990-91 में 433 रुपए तक नकारात्मक हो गयीं। इसका मुख्य कारण 1990-91 में विनियोग-आय (Investment Income) के रूप में 6,732

करोड़ रुपए का उत्प्रवाह था जबकि 1980-90 में यह 4,875 करोड़ रुपए था। इस प्रकार इस उत्प्रवाह में 1990-91 में 38 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस प्रकार जो सुविधा व्यापार-घाटे का निष्प्रभावीकरण (Neutralisation) करने के लिए अदृश्य मदों के रूप में उपलब्ध थी, समाप्त हो गयी।

नोट

आठवीं योजना (1992-97) के दौरान, व्यापार-घाटा बढ़ता ही गया है और यह 1992-93 के 17,238 करोड़ रुपए से बढ़कर 1996-97 में 52,561 करोड़ रुपए हो गया। आठवीं योजना के दौरान अदृश्य मदों से प्राप्त ने व्यापार-घाटे को 58 प्रतिशत तक निष्प्रभावी बना दिया। यह एक सराहनीय उपलब्धि है। इसके बावजूद भी व्यापार-शेष में लगातारघाटा ही व्यक्त हुआ है।

1997-98 में हमारे चालू खाते काघाटा 20,883 करोड़ रुपये के रिकार्ड स्तर पर पहुंच गया और 1998-99 में थोड़ा कम हो कर 16,787 करोड़ रुपये हो गया। 1999-2000 में, यह पुन: बढ़कर 20,331 करोड़ रुपये हो गया। इसका मूख्य कारण व्यापारघाटे का बहुत अधिक बढ़ कर 77,359 करोड़ रुपये तक पहुंच जाना था जिसको अदृश्य मदों के रूप में 57,028 करोड़ रुपये की प्राप्ति पूर्णतया निष्प्रभावी न बना सकी। 2000-01 में परिस्थिति में सुधार हुआ और चालू खाते काघाटा कम होकर 16,410 करोड़ रुपये हो गया।

2001-02 के दौरान, चाहे हमारा व्यापर-घाटा 60,427 करोड़ रुपये था परन्तु अदृश्य प्राप्तियों की भारी मात्रा अर्थात् 64,141 करोड़ रुपये उपलब्ध होने के परिणामस्वरूप न केवल व्यापारिकघाटे को ही साफ कर दिया बल्कि हमारे चालू खाते में 3,734 करोड़ रुपये का अतिरेक पैदा हो गया। समग्र नौवीं योजना (1997-98 से 2001-02) के दौरान, हमारे व्यापार-घाटे के 78 प्रतिशत की पूर्ति अदृश्य मदों द्वारा की जा सकी। परिणामत: नौवीं योजना के दौरान चालू खाते में कुलघाटा 70,670 करोड़ रुपये रह गया।

दसवीं योजना के पहले दो वर्षों के दौरान, 2002-03 में पुन: हमारे चालू खाते का अधिशेष 30,660 करोड़ रुपये तक सकारात्मक हो गया और 2003-04 में यह और बढ़कर 63,983 करोड़ रुपये हो गया। परन्तु यह अदृश्य मदों (Invisibles) में प्राप्त भारी अतिरेक का परिणाम था जिसने न केवल व्यापार-घाटे को साफ कर दिया बल्कि चालू खाते (Current Account) में सकारात्मक अधिशेष कायम कर दिया। भारत को यह अद्वितीय श्रेष्ठता प्राप्त है कि चाहे 2001-02 से 2003-04 की 3 वर्षीय अवधि के दौरान, हमारे व्यापार संतुलन में भारीघाटा व्यक्त हुआ, परन्तु शुद्ध अदृश्य मदों के भारी प्रवाह ने इसे चालू खाते में सकारात्मक अधिशेष के रूप में पलट दिया। किन्तु 2004-05 में व्यापार-शेष में 1,51,765 करोड़ रुपये का भारीघाटा व्यक्त हुआ जिसका कारण हमारे आयात में अभूतपूर्व वृद्धि था, चाहे हमारे निर्यात भी तेजी से बढ़े। इसमें सन्देह नहीं कि हमारी अदृश्य मदों ने 1,39,591 करोड़ रुपये का सकारात्मक अधिशेष उपलब्ध कराया, परन्तु यह कुल व्यापर-घाटे के 92 प्रतिशत की ही भरपायी कर पाया। परिणामत: 2004-05 में हमारे चालू खाते में 12,174 करोड़ रुपये काघाटा उत्पन्न हो गया। यह एक अस्वस्थ प्रवृत्ति है, परन्तु चूंकि 2005-06 में भी आयात-उदारीकरण की बेरोकटोक नीति जारी है, यह परिस्थिति और भी बिगड़ गयी और चालू खाते परघाटा 40,722 करोड़ रुपये हो गया।

पूँजी खाते पर संतुलन कायम करना

पारम्पिक रूप में दो मुख्य स्त्रोतों अर्थात् द्विपक्षीप एवं बहुपक्षीय स्त्रोतों से विदेशी सहायता और वाणिज्यिक उधार (Commericial borrowing) द्वारा चालू खाते केघाटे के लिए वित्त-प्रबन्ध किया

जाता है। चाहे विदेशी सहायता ने 1991-92 में 304 करोड़ डालर और 1997-98 में 90 करोड़ डालर का वित्त जुटाया, विदेशी वाणिज्यिक उध ार ने लगभग 400 करोड़ डालर का योगदान दिया, जिसका अर्थ यह है कि ऋणशोधन (Amortization) और ब्याज के रूप में वाणिज्यिक उधार पर उत्प्रवाह शुद्ध विदेशी वाणिज्यिक उधारों के अन्त:प्रवाहों (Inflows) से अधिक थे।

एक और कारणतत्व जिसने पूँजी खाते पर नकारात्मक प्रभाव डाला रूसी ऋण पर रुपया-सेवा-भर (Rupee debt service) है। यह 1991-92 में 124 करोड़ डालर और 1997-98 में 77 करोड़ डालर था, अनिवासी भारतीयों की जमा (Non-resident Indians deposits) 1996-97 में 335 करोड़ डालर की वृद्धि हुई जो आंशिक रूप में भूगतान-शेष की स्थिति में सुधार और एक हद तक एक नयी जमा योजना (Deposit scheme) को चालू करने का परिणाम थी।

इन सभी पूँजी अन्त:प्रवाहों (Capital inflows) के परिणामस्वरूम, विदेशी मुद्रा रिजर्व में 1992-93 में 357.6 करोड़ डालर और 1993-94 में 872 करोड़ डालर की वृद्धि हुई। लगभग यही परिस्थिति 1997-98 तक बनी रही। विदेशी मुद्रा रिजर्व में तीव्र वृद्धि अत्यधिक उधार या भारी मात्रा में विदेशी सहायता के अन्त:प्रवाह (Inflow) का परिणाम है। भारत सरकार परिस्थिति पर परदा डालने के लिए यह कहती रही है कि वर्तमान संकट को दूर करने के लिए गैर-ऋण कायम करने वाली सहायता का प्रयोग किया जा रहा है। परन्तु ऋण-रूपी अन्त:प्रवाहों (Non- debt inflows) के रूप में भेद विदेशी मुद्रा उत्प्रवाहों के भार को कम नहीं करता। ऋण के रूप में ऋण-शोधन भुगतान एवं ब्याज के रूप में उत्प्रवाह होते हैं और गैर-ऋण कायम करने वाली सहायता द्वारा लाभांश और रायल्टी के रूप में विदेशी मुद्रा का उत्प्रवाह होता है। दोनों परिस्थितियों में देश पर भार बढ़ता है। अत: यह भेद केवल रूप का ही है परन्तु वास्तविक रूप में अर्थहीन है।

अदृश्य मदें और भुगतान-शेष

भारत ने अदृश्य मदों से प्राप्तियों के बारे में सराहनीय सफलता प्राप्त की है। इसके परिणामस्वरूप, न केवल व्यापार-घाटे को समाप्त किया गया बल्कि अदृश्य मदों के अतिरेक (Invisibles Surplus) ने चालू खाते पर व्यापार-शेष को भी सकारात्मक बना दिया। उदाहरणार्थ, 2003-04 में व्यापारघाटा 13.70 अरब डालर था परन्तु अदृश्य मदों का अतिरेक तेज़ी से बढ़ कर 27.80 अरब डालर हो गया। इसके नतीजे के तौर पर, चालू खाते पर भुगतान-शेष 14.1 अरब डालर तक सकारात्मक हो गया। अदृश्य मदों केघटकों का अध्ययन करना उचित होगा ताकि विभिन्न मदों के महत्त्व को समझा जा सके। तालिका 3 में 2001-02 और 2005-06 के दौरान आंकड़े उपलब्ध कराए गए हैं। यहाँ यह उल्लेख करना उचित होगा कि प्राप्ति पक्ष में सेवाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण साफ्टवेयर सेवाएं है परन्तु प्रेषण (Remittances) के रूप में अन्तरण जो विदेश में रहने वाले भारतीयों द्वारा किए जाते हैं, प्राप्तियों में सबसे अधिक योगदान देते हैं। इन दो मदों के अतिरिक्त, यात्रा, परिवहन, निवेश सम्बन्धी आय और विविध मदों द्वारा मर्यादित योगदान उपलब्ध कराया जाता है। इस सम्बन्ध में अर्थिक समीक्षा (2004-05) में उल्लेख किया गया: "चालू खाते के पीछे मुख्य ड्राइवर अदृश्य मदों के बढ़ते हुए प्रवाह हैं विशेषकर निजी अन्तरण जिनमें प्रेषण शामिल हैं, और इनके साथ साफ्टवेयर सेवाएं भारत में चालू खाते पर अधिशेष कायम करने और इसे बनाए रखने के लिए जिम्मेदार हैं।" परिणामत: अदृश्य मदों पर अधिशेष जो 2001-02 में सकल देशीय उत्पाद का 3.1 प्रतिशत था, बढ़कर 2004-05 में 4.5 प्रतिशत हो गया। यह एक अभिनन्दनीय प्रवृत्ति है। 2005-06 में यह और बढ़कर 5.3 प्रतिशत हो गया।

नोट

तालिका 3.8: अदृश्य मदों का विश्लेषण (विभिन्न मदों पर शुद्ध अतिरेक)

	2000-01	2001-02	2002-03	2003-04	2004-05	2005-06
(क) सेवाएं (i + ii + iii + iv)	1,692	3,324	3,643	10,144	15,426	23,881
	(17.3)	(22.2)	(21.4)	(36.5)	(49.4)	(56.0)
(i) यात्रा	693	3,014	-29	1,435	1,417	1,389
	(7.1)	(20.1)	(-0.2)	(5.2)	(4.5)	(3.2)
(ii) परिवहन	-512	3,467	-736	879	144	-1.550
	(-15.4)	(23.1)	(-4.2)	(3.2)	(0.5)	(-3.6)
(iii) साफ्टवेयर सेवाएं	5,750	6,884	8,863	12,324	16,900	22,262
	(58.7)	(46.0)	(52.0)	(44.3)	(54.1)	(52.2)
(iv) विविध	(-3,239)	-10,041	-4,445	-4,494	-3,035	1,780
	(-33.1)	(67.0)	(-26.2)	(-16.2)	(-9.7)	(-4.2)
(ख) अन्तरण (Transfers)	13,106	15,856	16,838	22,162	20,785	24,284
	(133.8)	(105.9)	(98.8)	(79.7)	(66.5)	(56.9)
(ग) आय	-5,004	-4,206	-3,346	-4,505	-4,979	-5,510
	(51.1)	(-28.1)	(20.2)	(-16.2)	(-15.9)	(-12.9)
कुल (क + ख + ग)	9,794	14,974	17,035	27,801	31,232	42,655
	(100.0)	(100.0)	(100.0)	(100.0)	(100.0)	(100.0)

भुगतान के पक्ष में दो भेद महत्त्वपूर्ण हैं- विविध सेवाएं और निवेश सम्बन्धी आय। इन मदें द्वारा 2003-04 में कुल अदृश्य मदों के भुगतान का 73 प्रतिशत भुगतान किया गया। इन दो मदों में भारत ने अदृश्य मदों में शुद्धघाटा दिखाया। इस सम्बन्ध में सावधान रहने की ज़रूरत है, विशेष कर विदेशी निवेश के लगातार, अप्रतिबन्धित और तीव्र वृद्धि के कारण जिससे निवेश आय के रूप में उलटा प्रवाह जनित होता है।

यदि हम 2003-04 में अदृश्य मदों पर शुद्ध अधिशेष का अध्ययन करें, तो सेवाएं कुल प्राप्ति का 36 प्रतिशत हैं, अन्तरण का भाग 80 प्रतिशत है और निवेश से प्राप्त शुद्ध आय का योगदान 16 प्रतिशत तक नकारात्मक है। जहां साफ्टवेयर सेवाओं ने 44 प्रतिशत का भारी अधिशेष उपलब्ध कराया और इसने विविध सेवाओं से 2003-04 में शुद्धघाटे को एक हद तक समाप्त कर दिया।

2004-05 में प्राप्त संकेत यह चेतावनी देते हैं कि व्यापार-घाटा बढ़कर 36.63 अरब डालर हो गया है, जबकि अदृश्य मदों का अधिशेष 31.22 अरब डालर था। अत: 2004-05 में चालू खाते में भुगतान-शेष में फिरघाटा व्यक्त हुआ है। 2002-03 और 2003-04 के दौरान में चालू खाते में प्राप्त अधिशेष सम्बन्धी खुशी का एहसास सूख गया है और भारत के फिर पारम्परिक चालू खाते में शुद्धघाटा उत्पन्न हो गया है। जबकि वाणिज्य एवं उद्योग मंत्री निर्यात में प्राप्त उच्च वृद्धिदरों की उपलब्धि के लिए गर्व महसूस कर रहे थे, उनके द्वारा इस बात की पूर्णतया अनदेखी की गयी कि उनके पैरों तले की ज़मीन खिसक रही है और इसका कारण आयात में भारी वृद्धि है और 2004-05 में व्यापारघाटा अभूतपूर्व रूप में बढ़कर 33.7 अरब डालर हो गया।

इसमें सन्देह नहीं कि साफ्टवेयर निर्यात सेवांए जो 1995-96 सेवाओं के कुल निर्यात का 10.2 प्रतिशत थी बढ़कर 2004-05 में लगभग 49 प्रतिशत हो गयी हैं, परन्तु यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे मन्द हो सकती है जैसे ही चीन विश्व के साफ्टवेयर बाज़ार में प्रवेश करता है। इसी प्रकार, भारतीयों द्वारा भेजे जाने वाले प्रेषणों में वृद्धि की गति भविष्य में धीमी पड़ सकती है क्योंकि ये शिखर स्तर पर पहुंच गए हैं।

हमारा उद्देश्य भारत को एक निराशा पूर्ण तस्वीर दिखाना नहीं है परन्तु विदेशी क्षेत्र में उभरते हुए खतरों के बारे में सतर्क रहने की चेतावनी देना है; क्योंकि भारत विदेशी क्षेत्र में एक-टांग पर चलने की नीति को बढ़ावा देता रहा है।

3.18 विदेशी पूँजी की भूमिका

भारत जैसे अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए विशेषत: विकास के आरम्भिक चरणों में, विदेशी सहायता का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। विदेशी सहायता से कोई देश जिन महत्त्वपूर्ण तरीकों से लाभान्वित होता है, उनको इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

(1) **संसाधनों में वृद्धि**–विदेशी सहायता का शायद सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इससे सहायता पाने वाले देशों केघरेलू संसाधन बढ़ जाते हैं। अल्पविकसित देशों में आन्तरिक याघरेलू संसाधन बहुत कम मात्रा में उपलब्ध होते हैं। ऐसे देशों में प्रति व्यक्ति आय बहुत नीची और उपभोग-प्रवृत्ति बहुत ऊंची होती है। इसलिए बचत और निवेश बढ़ाने का क्षेत्र यहाँ बहुत कम होता है।

विदेशी सहायता से प्रापक देशों के संसाधनों में वृद्धि संभव बन जाती है। इससे इन्हें कई प्रकार से सहायता मिलती है। एक तो विदेशी सहायता से प्रापक देशों में बहुत-सी परियोजनाओं का निर्माण संभव हो जाता है जो अन्यथा संभव नहीं होता। कुछ विकास-कार्यक्रम अत्युत्तम परिणाम देते हैं, बशर्ते कि कार्यक्रम के सभी अंग साथ-साथ और प्रभावशाली ढंग से लागू किए जाएं। ऐसे कार्यक्रमों का उद्देश्य देश की सभी आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करना होता है। स्पष्टत: ऐसे कार्यक्रम बड़े पैमाने के होते हैं और इनमें भारी मात्रा में निवेश की आवश्यकता होती है। यदि अल्पविकसित देशों में उपलब्ध संसाधन इन कार्यक्रमों की न्यूनतम वित्तीय आवश्यकता से कम होते हैं, तो ये कार्यक्रम शुरू नहीं किये जा सकेंगे। ऐसी हालत मेंघरेलू संसाधन बेकार पड़े रहेंगे या फिर कम महत्त्व वाले कार्यक्रमों में प्रयुक्त होंगे। इससे उत्पादन और उत्पादिता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। यदि ये संसाधन विदेशी संसाधनों के साथ मिलकर अधिक प्रतिफल वाले कार्यक्रम में लगाये जाएं, तो इनकी उत्पादिता कहीं अधिक हो सकेगी।

दूसरे, विदेशी सहायता मिलने परघरेलू अर्थव्यवस्था में उपयोग के लिए संसाधनों की मात्रा बढ़ जाती है। इससे बड़ी परियोजनाओं और साथ ही ऐसा परियोजनाओं की स्थापना संभव हो जाती है जिनके लिए भारी मात्रा में आयात-सामग्री की जरूरत पड़ती है। इससे बहुत-से लाभप्रद निवेशों के लिए अवसर बढ़ जाता है। इस प्रकार के निवेश के अभाव में ऐसी संभावनाएं नहीं बन पातीं। इसके विपरीत, जब निवेश के और लाभ कमाने के नए मार्ग खुलते हैं, तो उद्यमियों को नए उद्यम शुरू करने और बचत करने वालों को अधिक बचत के लिए प्रोत्साहन मिलता है। इससेघरेलू संसाध-नों की उपलब्धि में भी वृद्धि होती है।

नोट

(2) **विकासगत वस्तुओं का आयात**–आर्थिक उन्नति के लिए, कम-से-कम, आरंभिक चरणों में, कुछ ऐसी पूंजीगत वस्तुओं और तकनीकी जानकारी की आवश्यकता पड़ती है जो विकसित देशों में ही उपलब्ध होती है। इसलिए उनका आयात करना पड़ता है। इसका एक विकल्प यह हो सकता है कि ऐसी वस्तुओं और तकनीकी जानकारी को देश में ही उपलब्ध कराया जाए। ऐसा करना अच्छा तो है, किन्तु इसमें बहुत अधिक समय लगता है। इंग्लैंड को अपनी जरूरत की पूंजीगत वस्तुओं एवं तकनीकी जानकारी की स्वयं व्यवस्था करनी पड़ी थी। कारण, तब ऐसा कोई और देश था ही नहीं जहां से इनका आयात किया जाता।

आज की स्थितियां भिन्न हैं। एक ओर परिष्कृत पूंजीगत वस्तुएं और आधुनिक तकनीक बहुत से देशों में उपलब्ध है जहां से इन वस्तुओं का आयात किया जा सकता है, और दूसरी ओर अल्पविकसित देशों की विकास की समस्याएं इतनी बड़ी एवं अत्यावश्यक हैं कि वे अपनी पूंजीगत वस्तुएं और तकनीकी जानकारी स्वयं उत्पन्न करने के लिए अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते। यहां यह ध्यान रहे कि पूंजीगत वस्तुओं और तकनीकी जानकारी का आयात सदैव नहीं किया जा सकता। इन वस्तुओं का आयात करने वाले देशों को जल्दी-से-जल्दी इन वस्तुओं को उत्पन्न करने के लिए सक्षम हो जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि ऐसी पूंजीगत वस्तुएं और तकनीक उत्पन्न करनी चाहिए जो उनकी संसाधन-निधि (endowment) के अनुरूप हों।

इस प्रकार यद्यपि विभिन्न देशों को अपनी पूंजीगत वस्तुएं और तकनीक स्वयं उत्पन्न करनी चाहिए, फिर भी विकास के आरम्भिक चरणों में इन वस्तुओं का आयात करना आवश्यक होता है। इन विकासमूलक वस्तुओं का आयात करने की आवश्यकता पड़ने पर, विदेशी विनिमय की समस्या उठती है। इनका पर्याप्त आयात करने के लिए अल्पविकसित देशों के पास न तो इतना सोना होता है और न ही इतना विदेशी विनिमय का भण्डार या रिजर्व। इसके अलावा, इन भुगतान-माध्यमों का प्रयोग एक ही बार किया जा सकता है। आयात के वित्तीयन के लिए किसी लम्बी अवधि तक इनका लगातार प्रयोग नहीं किया जा सकता। और जैसा कि अभी हम देखेंगे, अल्पविकसित देशों का निर्यात-उपार्जन भी बहुत कम होता है। इसलिए वस्तुत: ऐसे देशों के लिए विदेशी सहायता का कोई विकल्प नहीं होता।

(3) **निर्यात सीमा**-बन्धनों को पार करना–अल्पविकसित देशों के लिए विदेशी सहायता का विकल्प निर्यात-उपार्जन में वृद्धि है, ताकि विदेशी विनिमय भारी मात्रा में उपलब्ध हो सके। किन्तु अल्पविकास के कारण इन देशों के निर्यात के क्षेत्र में बहुत-सी अन्तर्निहित कमजोरियां होती है। अल्पविकसित देश अपने औद्योगिक पिछड़ेपन के कारण अधिकतर प्राथमिक वस्तुएं ही उत्पन्न कर पाते हैं। यदि यह भी मान लिया जाय कि ये देश निर्मित वस्तुओं का पर्याप्त उत्पादन करने में समर्थ हैं या इनके पास निर्यात योग्य पर्याप्त अधिशेष हैं, तो भी समस्या हल नहीं हो जाती। निर्यात बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि अल्पविकसित देशों की वस्तुएं अंतर्राष्ट्रीय बाजार में स्वीकार्य हों या इनके लिए मांग हो। यहीं समस्या उत्पन्न होती है।

प्राथमिक वस्तुओं की कीमत-लोच और आय-लोच, दोनों बहुत कम होती हैं। इन वस्तुओं की कीमत गिरने पर इनकी मांग में महत्त्वपूर्ण वृद्धि नहीं होती और न ही विकसित देशों की आय में

वृद्धि के प्रभाव से प्राथमिक वस्तुओं की मांग में आनुपातिक वृद्धि होती है। इसके अलावा, प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन विकसित देशों में भी भारी मात्रा में होने लगा है और ये देश इनका निर्यात भी करते हैं। इतना ही नहीं, विकसित देशों में प्राथमिक वस्तुओं के अनेक प्रतिस्थापन-वस्तुएँ विकसित कर ली गई हैं। इन अनेक कारणों से अल्प-विकसित देशों को अपने निर्यात बढ़ाने में असाधारण कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

यह स्पष्ट है कि विनिर्माण उद्योगों का, जिनके उत्पाद अधिक कीमत-लोचदार और आय-लोचदार होते हैं, विकास किए बिना कठिनाइयों पर विजय नहीं पाई जा सकती। लेकिन इन उद्योगों की स्थानपना और विकास के लिए पर्याप्त बचत और पूंजीगत वस्तुओं के आयात की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए यदि प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात इतना नहीं बढ़ाया जा सकता कि उससे आयात के लिए पर्याप्त साधन जुटाए जा सकें, तो विदेशी सहायता का ही रास्ता रह जाता है। (4) भुगतान और कीमत सम्बन्धी कठिनाइयां–विकास-प्रक्रिया इस प्रकार की है कि इसके शुरू हो जाने पर, विशेषतया मूलभूत मशीनों का निर्माण करने वाले उद्योगों की स्थापना की आवश्यकता पड़ती है। तब अल्पविकसित देशों के समक्ष दो प्रकार की कठिनाइयां खड़ी हो जाती हैं–एक का सम्बन्ध भुगतान-शेष से है और दूसरी समस्या का सम्बन्धघरेलू कीमतों से है। इन समस्याओं की संक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है।

विकास के लिए संसाधनों को पूंजीगत क्षेत्र की ओर मोड़ने की आवश्यकता होती है। विदेशी सहायता मिलने पर भी, पूंजीगत क्षेत्र के निवेश का अपेक्षाकृत बड़ा भागघरेलू साधनों से ही प्राप्त करना पड़ता है। इससे उपभोग-वस्तुओं के उत्पादन के लिए संसाधनों की कमी पड़ती है और इस क्षेत्र में उत्पादन की गति धीमी पड़ जाती है। दूसरी ओर पूंजीगत क्षेत्र का विस्तार होने से इस क्षेत्र में लगे लोगों की आय में वृद्धि होती है और इसलिए उपभोग-वस्तुओं की मांग बढ़ जाती है, जबकि यह क्षेत्र उपभोगेतर वस्तुओं का उत्पादन करता है। इस प्रकार विकास-प्रक्रिया एक ऐसी स्थिति को जन्म देती है जिसमें एक ओर तो उपभोग-वस्तुओं की मांग बढ़ती है, और दूसरी ओर से इनकी आपूर्ति में अपेक्षाकृत कमी आती है। परिणाम यह होता है कि उपभोग-वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगती हैं।

ऐसी स्थिति में कुछ सीमित आपूर्ति वाली वस्तुओं की जरूरत पूरी करने के लिए और कुछ विदेशी सस्ते सामान खरीदने के लिए लोग अपनी बढ़ती हुई आय का एक भाग आयातित उपभोग-वस्तुओं को खरीदने पर व्यय करने लगते हैं। इस प्रकार विकास-प्रक्रिया जो पूंजीगत वस्तुओं का आयात अनिवार्य बना देती है, विदेशी उपभोग-वस्तुओं के लिए भी मांग उत्पन्न करती है। यदि उपभोग-वस्तुओं की बढ़ती हुई मांग अनाज के लिए है, तो ऐसी आवश्यक उपभोग-वस्तुओं के आयात के लिए विदेशी सहायता अनिवार्य हो जाती है।

यदि ऐसा नहीं किया जाता, तो उपभोग-वस्तुओं के अभाव के कारण इनकी कीमतें बढ़ जाएंगी जिससे मजदूरी बिल में भी वृद्धि होगी। चूंकि उत्पादन-लागत में मजदूरी का हिस्सा महत्त्वपूर्ण होता है, इसलिए मजदूरी बढ़ने पर लागत और कीमतों में वृद्धि होने लगेगी। इससे लागत-कीमत वृद्धि का एक दुष्चक्र शुरू हो लेगा। यदि इसे रोका नहीं गया, तो विकास-प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और उसकी गति धीमी पड़ जाएगी या रुक जाएगी।

इस प्रकार आर्थिक विकास की प्रक्रिया को शुरू करने और बनाए रखने में विदेशी सहायता महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। विभिन्न रूपों में इसके योगदान को अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता, फिर भी इस पर बहुत अधिक निर्भर रहना ठीक नहीं है। इस दिशा से अनेक उलझनें उठती हैं और

समस्याएँ पैदा होती हैं जिनका उल्लेख आगे चलकर किया जाएगा। इस सम्बन्ध में पूरी सावधानी बरतनी आवश्यक है और सीमित मात्रा में ही इसका सहारा लिया जाना चाहिए।

विदेशी सहायता : मात्रा, उद्देश्य और स्रोत

नोट

समय के साथ विदेशी सहायता की मात्रा तेजी से बढ़ती रही है। सहायता विभिन्न प्रकार की आर्थिक क्रियाओं के संचालन में प्रयोग करने के लिए ली गई है। जिन स्रोतों से सहायता मिली है, वे अनेक और विभिन्न प्रकार के हैं। विदेशी सहायता के इन पहलुओं का अध्ययन इसकी समस्याओं को समझने में सहायक होगा।

विदेशी सहायता की मात्रा

विदेशी सहायता के आकार के विभिन्न पक्ष जैसे इसकी कुल मात्रा, अधिकृत और प्रयुक्त सहायता, कुल सहायता-राशि में ऋण और अनुदान का हिस्सा, निबद्ध और अनिबद्ध सहायता, विदेशी मुद्रा या रुपये में प्रतिदेव, आदि इसकी समस्या के कई पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। उदाहरणार्थ, विदेशी सहायता की मात्रा से यह बोध होता है कि वायदे की कितनी रकम मिल चुकी है। इससे देश की विदेशी सहायता समाहित करने अथवा खपाने की क्षमता का भी पता चलता है। ऋण के भाग से पता चलता है कि मूल और ब्याज मिलाकर भुगतान की समस्या कितनी है। अनुदान इस समस्या से मुक्त होता है निबद्ध (tied) और अनिबद्ध (untied) सहायता या ऋणों की मात्रा से यह पता चलता है कि इनके उपयोग में कितना लचीलापन है। अनिबद्ध ऋणों का प्रयोग किसी भी परियोजना के लिए किया जा सकता है या उससे किसी भी देश से सामान खरीदा जा सकता है। इसके विपरीत, निबद्ध ऋणों का प्रयोग उन्हीं परियोजनाओं में किया जा सकता है जिनसे ऋण जुड़ा हुआ है और उन्हीं देशों से माल खरीदा जा सकता है जिनका उल्लेख ऋण-समझौते में हुआ है। जिन ऋणों का भुगतान विदेशी मुद्रा में किया जाना होता है, उनके लिए निर्यात द्वारा विदेशी मुद्रा अर्जित करने की आवश्यकता पड़ती है। रुपये में भुगतान होने वाले ऋणों के सम्बन्ध में समस्या केवल इतनी होती है कि ऋणदाता को आवश्यक मात्रा में रुपये दिए जाएं, और वह राशि ऋणदाता द्वारा देश में ही खर्च की जाती है।

उक्त व्याख्या से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिस देश में प्रयुक्त ऋण लगभग अधिकृत ऋण के बराबर होता है, उस देश की विदेशी सहायता को समाहित करने की क्षमता अधिक होती है और वही देश सहायता का उचित प्रयोग कर सकता है। इसी प्रकार जब कुल विदेशी सहायता में ऋण का अंश अधिक होता है, तब ऋण के भुगतान की समस्या उत्पन्न होती है क्योंकि इससे ऋण-भुगतान का बोझ बढ़ता है। विदेशी सहायता में अनिबद्ध ऋण का अंश जितना अधिक होता है, प्रापक देश सहायता का प्रयोग देश की जरूरतों के अनुसार उतना ही अधिक कर सकता है। दूसरी ओर निबद्ध ऋण में इस प्रकार की स्वतंत्रता नहीं होती और इसलिए देश के आर्थिक विकास में इसका योगदान यथासम्भव नहीं हो पाता। विदेशी मुद्रा में चुकता किए जाने वाले ऋणों में भुगतान की समस्या रुपये में भुगताये जाने वाले ऋणों की समस्या से अधिक होती है।

कुल सहायता–हाल के वर्षों में विदेशी सहायता की मिली कुल राशि में भारी वृद्धि हुई है। 1980 तक प्राप्त कुल राशि केवल 25 हजार करोड़ रुपये के लगभग थी, जबकि 2001 में यह राशि तेजी से बढ़कर 248 करोड़ रुपये के स्तर पर पहुँच चुकी थी। इस प्रकार 20 वर्षों की इस अवधि में कुल राशि में नौ गुने से भी ज्यादा वृद्धि हुई। अधिकृत और प्रयुक्त राशि–अधिकृत सहायता राशि

में प्रयुक्त राशि का भाग 75 प्रतिशत के लगभग बैठता है प्रयुक्त राशि का भाग और अधिक होना चाहिए। पिछले कुछ वर्षों से यह अनुमान बढ़ने लगा है। कभी-कभी तो 100 प्रतिशत और कभी पिछले ऋणों का प्रयोग होने से इससे भी अधिक रहा। उदाहरणतया 1998-99 में अधिकृत विदेशी सहायता की राशि 8531 करोड़ रुपये थी, जबकि प्रयुक्त राशि इससे बहुत अधिक रही—लगभग 13,239 करोड़ रुपये। चूंकि अब देश विदेशी सहायता का प्रयोग करने में पर्याप्त कुशलता प्राप्त कर चुका है, इसलिए प्रयुक्त सहायता का अनुपात बढ़ेगा ही।

ऋण और अनुदान—कुल अधिकृत विदेशी सहायता में ऋण का अंश लगभग 90 प्रतिशत और अनुदान का अंश केवल 10 प्रतिशत है। इन प्रतिशत संख्याओं से स्पष्ट हो जाता है कि भारत को विदेशी सहायता मुख्यतया ऋण के रूप में मिली है। इससे मूल सहित ब्याज की अदायगी की समस्या उठती है। ऋण-प्रभार ब्याज की दर और भुगतान की समय-सारणी पर निर्भर करता है। एक बात पर यह भी है कि विदेशी सहायता का बहुत बड़ा भाग विदेशी मुद्रा में चुकाया जाना है।

निबद्ध और अनिबद्ध सहायता—कुल विदेशी सहायता का केवल 30 प्रतिशत भाग ही अनिबद्ध है, बाकी 70 प्रतिशत सहायता निबद्ध है; अर्थात् इसका प्रयोग किसी विशेष परियोजना या देश के साथ बंधा हुआ है। इससे सहायता का प्रयोग करने में देश की स्वतंत्रताघट जाती है। कारण, ऐसी सहायता का प्रयोग मनचाहे ढंग से किसी भी परियोजना या कार्यक्रम पर या किसी भी देश से सामान खरीदने के लिए नहीं किया जा सकता। इनके अलावा, ऋणदाता की स्थिति अपेक्षाकृत मजबूत होने के कारण भारत को संलग्न देश से महंगा सामान खरीदने के लिए विवश होना पड़ा, जबकि अन्य देशों से वही सामान सस्ती दर पर खरीदा जा सकता था। परिणामस्वरूप विदेशी सहायता का शुद्ध लाभघट गया।

ऋण परिशोधन—विदेशी ऋण का बहुत बड़ा अंश विदेशी मुद्रा में प्रतिदेय है और रुपये में चुकता की जाने वाली ऋण की मात्रा बहुत थोड़ी बैठती है—केवल 10 प्रतिशत। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें अपने निर्यात-अर्जन का एक महत्त्वपूर्ण भाग हर वर्ष ब्याज सहित ऋण की अदायगी में लगाना होगा। इसके फलस्वरूप उस सीमा तक विदेशों से माल का आयात न कर पाएंगे। या फिर मिलने वाली विदेशी सहायता के एक बड़े भाग को ऋण के भुगतान में लगाना होगा जिसके कारण प्रयोग में लाई जा सकने वाली विदेशी सहायता की मात्राघट जायेगी।

उद्देश्य

भारत ने विदेशी सहायता विभिन्न प्रकार के आर्थिक कार्यकलापों में प्रयोग करने के लिए प्राप्त की है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, अधिकांश विदेशी सहायता का प्रयोग प्रतिबन्धित है। फिर भी भारत अपनी आवश्यकतानुसार परियोजनायें तैयार करता रहा है और ऋणदाता देशों से तद्नुसार सहायता की मांग करता रहा है। विदेशी सहायता का प्रयोग जिस उद्देश्य के लिए होता है, वह उस क्षेत्र की ओर संकेत करता है जिसे दुलर्भ विदेशी मुद्रा के प्रयोग में प्राथमिकता दी गई है। स्पष्ट है कि विदेशी सहायता का प्रयोग अर्थपूर्ण तभी माना जायेगा, जबकि वह देश के आर्थिक विकास में अधिकतम योगदान करे। इसके लिए आवश्यक है कि विदेशी सहायता का प्रयोग आधारिक संरचना और पूंजीगत क्षेत्र की संवृद्धि के उद्देश्य से किया जाय; या फिर इसका ऐसा प्रयोग किया जाना चाहिए कि अर्थव्यवस्था में स्थायित्व आये, जैसे पूंजी के प्रतिस्थापन और रख-रखाव के लिए उपकरणों का आयात, या अकाल की स्थिति में खाद्यान्न का आयात, आदि।

नोट

विदेशी सहायता का प्रयोग निम्नलिखित मदों में किया गया है–परिवहन और संचार; शक्ति परियोजनाएं; इस्पात और इस्पात-परियोजनाएं; खनिज लोहे की परियोजनाएं; औद्योगिक विकास; कृषि-विकास; खाद्यान्न सामग्री तथा अन्य मदें जैसे उच्च शिक्षा, परिवार नियोजन कार्यक्रम, जल-आपूर्ति, कलकत्ता का शहरी विकास आदि। इस सूची से स्पष्ट है कि विदेशी सहायता का उपयोग आधारिक संरचना के विकास, मूल धातुओं, औद्योगिक विकास (विशेषतया पूंजीगत क्षेत्र में), कृषि के विकास, अनाज के अभाव की पूर्ति के लिए, जल-आपूर्ति और जनसंख्या को नियंत्रित करने के लिए किया गया है।

इन उद्देश्यों के अलावा, भारत विदेशी ऋणों के पुनर्भुगतान के लिए भी विदेशी सहायता प्राप्त करता रहा है। इसकी आवश्यकता इसलिए पड़ी कि ब्याज मूलधन लौटाने का समय आ गया था और ऋण चुकाने की समस्या उत्पन्न हो गई। इस पर हम विस्तृत रूप से आगे चर्चा करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वर्धमान आयात-बिल, उद्योगों के लिए आवश्यक वस्तुओं के आयात और निर्यात कमाई में अपर्याप्त वृद्धि के कारण इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हुई।

उद्देश्यवार प्रयोग पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि औद्योगिक विकास में विदेशी सहायता का भारी प्रयोग हुआ है। ऐसा ही होना चाहिए था क्योंकि भारत जैसे देश के लिए आर्थिक विकास का अर्थ है औद्योगिक विकास। अन्य महत्वपूर्ण मदें जो रूप से आर्थिक विकास में सहायता करती हैं और विदेशी सहायता में उनका महत्वपूर्ण अंश है, उनमें परिवहन एवं संचार, शक्ति, इस्पात, और कच्चा लोहा शामिल हे। एक अन्य महत्वपूर्ण मद कृषि-विकास है जिसके लिए विदेशी सहायता का भारी प्रयोग किया गया है। इसके बाद अनाज के आयात और ऋण-राहत का स्थान आता है।

विदेशी सहायता के स्रोत

भारत ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कई स्रोतों से विदेशी सहायता प्राप्त की है। इनमें पूंजीवादी और समाजवादी देश तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं सम्मिलित हैं। हाल में विदेशी सहायता पैट्रोलियम उत्पन्न करने वाले देश से विदेशी मुद्रा और कच्चे तेल के रूप में भी प्राप्त की गई है। इन सभी स्रोतों को मोटे तौर पर इन चार भागों में विभाजित किया जा सकता है--सहायता-संघ (consortium) के देश1, विश्व बैंक ग्रुप, समाजवादी देश2 और अन्य देश।

विदेशी सहायता का सबसे बड़ा भाग सहायता-संघ के सदस्यों से प्राप्त हुआ है जिसमें सदस्य देशों और विश्व बैंक ग्रुप ने बहुत बड़ी मात्रा में योगदान किया है। ग्रुप के रूप में, विदेशी सहायता के योगदान मे दूसरा स्थान समाजवादी देशों का है। तेल-संकट के परिणामस्वरूप तेल-उत्पादक देशों से इधर बड़ी राशि में सहायता मिलने लगी है। प्रमुख ऋणदाता-देशों में, संयुक्त राज्य अमेरिका ने सबसे बड़ी रकम दी है, जो किसी एक स्रोत से मिली रकम से बहुत अधिक है। दूसरा स्थान ब्रिटेन का है और उसके बाद क्रमश: पश्चिमी जर्मनी, तेल-उत्पादक देशों, जापान और रूस का स्थान आता है। स्पष्ट है कि धनी देशों ने ही बड़ी रकम प्रदान की है।

विदेशी सहायता के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित विवरण जो ऊपर प्रस्तुत किया गया है, उससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। एक तो भारत को मिली विदेशी सहायता की मात्रा बहुत बड़ी है। इसने देश में पूंजी-निर्माण में बड़ा योगदान किया है।घरेलू बचत के साथ जुड़कर इसने निवेश-दर को बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण हाथ बंटाया है।

एक अन्य तथ्य जो सामने आया है, वह यह है कि विदेशी सहायता का बहुत बड़ा भाग आधारिक संरचना के निर्माण, औद्योगिकी विकास और मूलभूत धातु-उद्योगों के विकास में प्रयोग किया गया है। इसके अलावा कृषि-विकास और खाद्यान्न के आयात के लिए भारी मात्रा में विदेशी सहायता का प्रयोग हुआ है। दुःख की बात यह है कि इसका एक भाग ऋण के भुगतान में चला जाता है। भुगतान का समय आने पर चुकता करने की सामर्थ्य न होने के कारण विदेशी सहायता का प्रयोग ऋण-भुगतान के लिए भी किया गया है। चूंकि विदेशी सहायता का बहुत बड़ा ऋण-परिशोधन का भार बढ़ने के अलावा विकास-कार्य अधिक मंहगा बन गया है।

तीसरी विशेषता यह है कि विदेशी सहायता का एक महत्त्वपूर्ण भाग कन्सोर्टियम अथवा सहायता संघ के देशों से आया है। अमेरिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऋणदाता रहा है। इसके बाद ब्रिटेन का स्थान आता है। हाल में तेल-उत्पादक ग्रुप का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया है। विश्व-संस्थाओं में अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ का योगदान अपेक्षाकृत अधिक रहा है। इससे उदार शर्तों पर सहायता प्राप्त होती है।

इस प्रकार देश में विदेशी सहायता ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसमें बहुत से देशों और विश्व-संस्थाओं का योगदान रहा है। यहां यह याद रखने की बात है कि विदेशी सहायता सर्वथा श्रेयस्कर नहीं है। इसका एक हानिकारक पहलू भी है। इसलिए विदेशी सहायता के सम्बन्ध मे संतुलित धारणा बनाने के लिए इसके दोनों पहलुओं का अध्ययन करना आवश्यक है।

निजी विदेशी पूंजी

देश में निजी विदेशी पूँजी का प्रवाह विभिन्न रूपों में रहा है। मोटे तौर से इनको दो कोटियों में विभिक्त किया जा सकता है–(i) व्यापारिक ऋण और (ii) इक्विटी पूँजी, अर्थात् जोखिम उठाने वाली पूँजी।

व्यापारिक ऋण–यह निजी विदेशी पूँजी का एक छोटा भाग है। ये ऋण विदेशी वित्तीय संस्थाओं, जैसे कि बैंक, से प्राप्त होते हैं। सामान्य तौर से ये अल्पकालिक होते हैं और इनके लिए बाजार-दर से ब्याज चुकाया जाता है। अप्रवासी भारतीयों की जमा-राशियाँ भी इसी कोटि में आती हैं। इस दिशा में विदेशी मुद्रा की प्राप्ति होती तो है, लेकिन विदेशी सहायता की तुलना में यह स्रोत मंहगा पड़ता है यही नहीं बल्कि पर्याप्त मात्रा में और आवश्यकता के समय इसकी उपलब्धि सुनिश्चित नहीं है।

इक्विटी पूँजी–निजी विदेशी पूँजी का बड़ा भाग इक्विटी पूँजी के रूप में आया है जिसका उद्देश्य लाभ कमाना है। देश में इस पूँजी का प्रवाह दो रूपों में रहा है। एक रूप प्रत्यक्ष-पूँजी निवेश का है। इसके अन्तर्गत विदेशी निवेशक मूल कम्पनियों की शाखाएँ खोल कर अथवा भारत में कम्पनियों को स्थापित करके उनमें प्रत्यक्ष रूप से पूँजी लगाते हैं। लाभांश के रूप में उन्हें आय की प्राप्ति होती है। इन कम्पनियों पर उनका पूर्ण स्वामित्व होता है। दूसरे रूप के अन्तर्गत विदेशी निवेशक भारतीय कम्पनियों के शेयर खरीद कर उनमें पूँजी लगाते हैं। यह विदेशी इक्विटी साझेदारी अथवा विदेशी सहयोग का उदाहरण ठहरता है। यहाँ भी लाभांश के रूप में आय अर्जित की जाती है। अब भारतीय विदेशी बाजार में अपने शेयर व बाण्ड बेच कर विदेशी इक्विटी पूँजी जुटाने लगे हैं।

विदेशी सहायता की उपलब्धिघटने के कारण तथा ऋण-परिशोधन की समस्या की गम्भीरता को देखते हुए इधर कुछ वर्षों से निजी विदेशी पूँजी का अधिकाधिक सहारा लिया जाने लगा है।

प्रत्यक्ष निजी विदेशी पूंजी के लाभ

प्रत्यक्ष निजी विदेशी निवेश के अपने कुछ विशेष लाभ हैं जिनके कारण इधर इसका सहारा लिया जाने लगा है। इनमें से प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं–

नोट

(1) **संसाधनों में वृद्धि**–निजी विदेशी पूंजी के आने से देश केघरेलू संसाधन बढ़ जाते हैं। निस्सन्देह, सरकारों और विश्व संगठनों से मिलने वाली विदेशी सहायता से भी घरेलू संसाध नों में वृद्धि होती है। लेकिन प्रायः जरूरत के हिसाब से यह कम पड़ती है। इसी प्रकार ऋण के रूप में मिलने वाली निजी विदेशी पूंजी भी सहायक है। लेकिन यह प्रायः जरूरत के हिसाब से यह कम पड़ती है। इसी प्रकार ऋण के रूप में मिलने वाली निजी विदेशी पूंजी भी सहायक है। लेकिन यह साधारण तौर से अल्पकाल के लिए ही मिलती है और इस पर ऊंची दर से ब्याज चुकाना पड़ता है। निजी ईक्विटी पूंजी का जहां तक प्रश्न है, वह निवेशकर्ता की ओर से स्वतः प्राप्त होती है और इसके सम्बन्ध में निश्चित ब्याज सहित ऋण चुकाने की समस्या नहीं उठती। इसकी उपलब्धि सेघरेलू संसाधन बढ़ जाते हैं।

(2) **जोखिम उठाना**–विदेशी निजी पूंजी का सम्भवतः सर्वप्रथम लाभ यह है कि उत्पादन के नये क्षेत्र विकसित करने में निहित यह आरंभिक जोखिम उठाती है। अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में इसका विशेष महत्त्व है क्योंकि इन देशों में प्रवर्तकों और जोखिम उठाने वाले उद्योगपतियों की बड़ी कमी होती है। इसके अतिरिक्त, विदेशी निवेश के साथ अनुभव, प्रवर्तन और उद्यम के नये क्षेत्र ढूंढ़ने की साधन-क्षमता भी होती है। इन्हीं गुणों के कारण हमारे देश में पैट्रोलियम-शोधक और परिष्कृत इन्जीनियरिंग उद्योगों की शुरूआत हो पाई है।

इसका एक लाभ यह भी है कि इससे प्रापक देश पर पूंजी के भुगतान से सम्बन्धित किसी प्रकार का दायित्व या भार नहीं होता। यदि उद्यम सफल होता है, तो लाभ होगा और यदि असफल होता है, तो हानि विदेशी निवेशकों को ही उठानी पड़ेगी। इसी कारण 'ईक्विटी' पूंजी को विदेशी ऋण की अपेक्षा अधिक अच्छा माना जाता है। विदेशी ऋण पर तो ब्याज चुकाना ही पड़ता है और प्रयोग सफल हो या असफल, ऋण की रकम एक अवधि के बाद अदा करनी पड़ेगी।

(3) **तकनीकी जानकारी**–चूंकि निजी निवेशकों का विदेशी सहयोग वाली कम्पनियों में अशंतः और विदेशी कम्पनियों या उनकी शाखाओं में पूर्णरूप से स्वामित्व होता है, इसलिए वह अपनी तकनीक और प्रबन्धकीय जानकारी अपने साथ लाते हैं। इससे प्रापक देश को अवसर मिलता है कि वह अपने साधनों का कुशल प्रबन्ध करें और निम्नतम लागत की उत्पादन-तकनीक अपनाये। भारत के बहुत से उद्योगों में जैसे पैट्रोलियम शोधक, रसायन, औषधि उत्पादन, हल्के एवं भारी इंजीनियरी आदि उद्योगों में विदेशी पूंजी के प्रवेश से सर्वथा नई तकनीक और उच्चस्तरीय प्रबन्धन का प्रचलन हुआ है।

(4) **उच्च मानदण्ड**–विदेशी-पूंजी वस्तुओं की क्वालिटी या गुणवत्ता, कर्मचारियों के वेतन और मजदूरी तथा व्यवसायगत व्यवहार आदि का स्तर ऊंचा रखने की परम्पराएं भी अपने साथ लाती हैं। ऐसी बातें केवल विदेशी व्यवसाय के हित को ही नहीं बढ़ातीं, बल्कि वे देशी वस्तुओं की गुणवत्ता में वृद्धि करने, कर्मचारियों का वेतन ऊंचा करने, और व्यवसाय सम्बन्धी व्यवहारों के आधुनिकीकरण में भी सहायक सिद्ध होती हैं।

विदेशी पूंजी के ये लाभकारी प्रभाव, भारत में कार्यरत विदेशी कम्पनियों के सहयोग से चल रही फर्मों और अन्य स्वदेशी कम्पनियों में देखे जा सकते हैं, यद्यपि इन लाभों को मात्रात्मक रूप में मापना अत्यन्त कठिन है।

नोट

(5) **विपणन सुविधाएं**—निजी विदेशी निवेश का एक अन्य महत्त्वपूर्ण लाभ विस्तृत एवं सुनिश्चित बाजारों की उपलब्धता से सम्बन्धित है। बहुराष्ट्रीय नियमों के उत्पादों के बाजार अनेक देशों में फैले होते हैं। इसका लाभ देश को अपने-आप मिलने लगता है।

(6) **प्रशिक्षण सुविधाएं**—सामान्यतया और विशेष रूप से ऐसी कम्पनियां जो विदेशी पूंजी और तकनीकी जानकारी के सहयोग से काम कर रहीं हैं, भारतीय श्रमिकों को प्रशिक्षण प्रदान करती हैं। प्रशिक्षण में प्रबन्धकीय तकनीकी, दोनों प्रकार के प्रशिक्षण शमिल हैं। इससे उच्चस्तरीय प्रशिक्षित श्रम के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान मिलता है।

3.19. एफ. डी. आई एवं बहुराष्ट्रीय निगम

यह प्राय: दावा किया जाता है कि वैश्वीकरण के कारण विदेशी निवेश के अधिक प्रवाह की प्राप्ति होती है जिससे प्रापक अर्थव्यवस्था की उत्पादिता को बढ़ाने में सहायता मिलती है। भारत के संदर्भ में इस पर विचार करना उचित होगा।

विदेशी निवेश दो रूप धारण करता है—विदेशी प्रत्यक्ष निवेश और विदेशी पोर्टफोलिया निवेश (Portfolio investiment)। विदेशी प्रत्यक्ष निवेश से अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता को बढ़ाने में सहायता प्राप्त होती है जबकि विदेशी पोर्टफोलियो निवेश की प्रकृति परिकल्पी होती है और यह बहुत चंचल होती है। विदेशी निवेश सम्बन्धी आंकड़ों पर ध्यान पूर्वक विचार करने से पता चलता है कि 1990-91 और 1994-95 के दौरान कुल विदेशी निवेश में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का भाग 24.2 प्रतिशत था और पोर्टफोलिया निवेश का भाग 75.8 प्रतिशत था। अत: कुल विदेशी निवेश का केवल चौथा भाग उत्पादन-क्षमता बढ़ाने के लिए उपलब्ध था।

तालिका 3.9: विभिन्न देशों से विदेशी निवेश का प्रवाह

करोड़ यू. एस डालर

वर्ष	प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (1)	पोर्टफोलिया विदेशी निवेश (2)	कुल
1990-91	9.7	0.6	10.3
1991-92	12.9	0.4	13.3
1992-93	31.5	24.4	55.9
1993-94	58.6	356.7	415.3
1994-95	131.4	382.4	513.8
1995-96	214.4	274.8	489.2
1996-97	282.1	331.2	6133
1997-98	355.7	182.8	538.5
1998-99	246.2	−61	240.1
	(102.5)	(−2.5)	(100.0)

नोट

1999-00	215.5	302.6	518.1
2000-01	402.9	276.0	678.9
2001-02	613.0	202.1	815.1
2002-03	503.5	97.9	601.4
	(27.5)	(72.5)	(100.0)
2003-04	432.2	1,137.7	15,69.9
	(83.7)	(16.3)	(100.0)
2004-05	565.3	931.3	1,496.6
1990-91 to	244.1	764.5	1,008.6
1994-95	(24.2)	(75.8)	(100.0)
1995-96 to	1,313.9	1,085.3	2,399.2
1999-2000	(54.8)	(45.2)	(100.0)
2001-01 to	2,516.9	2,645.0	5,161.9
2004-2005	48.8	(51.2)	(100.0)

ब्रैकिट में दिए गए आंकड़े कतार में कुल का प्रतिशत हैं।

तीन-चौथाई बहुत चंचल एवं अस्थिर था। 1995-96 से 1999-2000 की 5-वर्षीय अवधि के लिए प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का कुल निवेश में भाग बढ़ कर 55 प्रतिशत हो गया। किन्तु विदेशी पोर्टफोलिया निवेश का भाग लगभग 55 प्रतिशत के स्तर पर अभी भी ऊंचा था। अगले 5 वर्षों की अवधि (2001-01 से 2004-05) के दौरान, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का भाग 48.8 प्रतिशत था और विदेशी पोर्टफोलिया निवेश का 51.2 प्रतिशत रहा अर्थात् यह पिछले 5 वर्षों की अवधि में लगभग बराबर था।

किन्तु इन आंकड़ों का वर्षानुसार अध्ययन करने से पता चलता है कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की तुलना में विदेशी पोर्टफोलिया निवेश में उच्चावचन कहीं अधिक तीव्र थे। उदाहरणार्थ, विदेशी पोर्टफोलिया निवेश में 1995-96 से 1998-99 के दौरान लगातार गिरावट आई और यह 1994-95 में 382.4 करोड़ डालर से गिरता हुआ 1998-99 में 6.1 करोड़ डालर के नकारात्मक स्तर पर पहुंच गया किन्तु यह 1999-00 में फिर जीवित होकर 302.6 करोड़ डालर हो गया। यह इसके अति अस्थिर होने और फिर पुनर्जीवित हो जाने का संकेत है। इसके बाद फिर विदेशी पोर्टफोलिया निवेश में गिरावट आयी और यह 2002-03 में 97.9 करोड़ डालर के नीचे स्तर पर पहुंच गया, किन्तु फिर पुनर्जीवित होकर 2003-04 में 1,137.7 करोड़ डालर के उच्च स्तर पर पहुंच गया। विदेशी फोर्टफोलिया निवेश का कुल निवेश में, भाग जो 2002-03 में 16.3 प्रतिशत के निम्न स्तर पर पहुंच गया था फिर तेज़ी से बढ़ कर 2003-04 में लगभग 72.5 प्रतिशत हो गया। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि विदेशी पोर्टफोलियों निवेश अविश्वसनीय है। इसकी तुलना में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के आंकड़ों से इसकी धीरे धीरे वृद्धि का संकेत मिलता है। यह निवेश 1991-92 में 12.9 करोड़ डालर था जो बढ़कर 1994-95 में 131.4 करोड़ डालर हो गया और फिर और बढ़कर 1997-98 में 355.7 करोड़ डालर पर पहुंच गया। तत्पश्चात् यह 2001-02 में 613 करोड़ डालर के शिखर पर पहुंच गया। इसके बाद इसमें गिरावट आयी और यह 2003-04 में कम होकर 432.2 करोड़ डालर

हो गया। इसका अर्थ यह कि नीति निर्माण के लिए मेज़बान देश विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के नियमित अन्तर्प्रवाह पर भरोसा कर सकता है यदि इस उद्देश्य के लिए प्रोत्साहक वातावरण कायम कर दे।

यह समझना अत्यन्त वांछनीय होगा कि वे कौन से क्षेत्र हैं जिनमें प्रत्यक्ष विदेशी निवेश हो रहा है ताकि यह विश्लेषण किया जा सके कि क्या इनसे अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता का विस्तार होता है। तालिका 4 में दिए गए आंकड़ों से पता चलता है कि ऐसे कौन से क्षेत्र हैं जिनमें प्रत्यक्ष विदेशी निवेश आकर्षित हो रहा है। जनवरी 1991 से मार्च 2004 तक कुल स्वीकृत विदेशी निवेश का लगभग 69 प्रतिशत पांच उच्च प्राथमिकता वाले क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं। ये क्षेत्र हैं: ऊर्जा, टेलीसंचार, बिजली के उपकरण, परिवहन और धातुकर्म उद्योग। परन्तु वास्तविक अन्तर्प्रवाहों से पता चलता है कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की स्वीकृतियों एवं वास्तविक अन्तर्प्रवाहों में भारी अन्तर हैं। उदाहरणार्थ, ऊर्जा क्षेत्र में 77,825 करोड़ रुपये की कुल स्वीकृतियों के विरुद्ध, वास्तविक अन्तर्प्रवाह केवल 9,802 करोड़ रुपये था अर्थात् केवल 12.6 प्रतिशत। टेलीसंचार में भी परिस्थिति उतनी ही निराशाजनक थी और अन्तर्प्रवाह का अनुपात 18.7 प्रतिशत था। बिजली के उपकरणों, परिवहन, रसायन एवं सेवा क्षेत्र में निष्पादन बेहतर था और वास्तविक अन्तर्प्रवाह 42 से 53 प्रतिशत के बीच रहा। परन्तु कुल रूप में 2,54,131 करोड़ रुपये की स्वीकृतियों (Approvals) के विरुद्ध वास्तविक अन्तर्प्रवाह केवल 67,462 करोड़ रुपये अर्थात् 26.8 प्रतिशत था। इसमें सन्देह नहीं कि स्वीकृतियों एवं वास्तविक अन्तर्प्रवाहों में कुछ अन्तर तो रहता ही है परन्तु इनमें इतनी बड़ी खाई का विद्यमान होना यह संकेत देता है कि विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के रूप में प्राप्त वास्तविक सहायता में बहुत धीमी प्रगति हुई और इस प्रकार इससे भारत जैसे अल्पविकसित देश के विकास में प्रोत्साहन भी बहुत सीमित हो जाता है। यदि वैश्वीकरण को अपनी प्रभाविता सिद्ध करनी है, तो स्वीकृत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश और वास्तविक अन्तर्प्रवाहों के अन्तर को दूर करना होगा।

तालिका 3.10: वे क्षेत्र जिनमें अधिकतम प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की स्वीकृतियां दी गयीं और वास्तविक अन्तर्प्रवाह (जनवरी 1991 से मार्च 2004 तक)

क्षेत्र	स्वीकृत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (करोड़ रु.)(1)	कुल का प्रतिशत (2)	प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का अन्तर्प्रवाह (करोड़ रुपये) (3)	कुल प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का प्रतिशत (4)	अन्तर्प्रवाह कुल स्वीकृतियां के प्रतिशत के रूप में 5 = 3/1×100
		(1)	(2)	(3)	(4)
1. ऊर्जा जिसमें	77,828	26.62	9,802	10.21	12.6
(का) पावर	43,703	14.95			
(ख) तेल परिशोधन	34,125	11.67			
2. टेली संचार	57,328	19.61	10,725	11.17	18.7
3. बिजली उपकरण•	28,072	9.94	13,930	14.50	47.9

नोट

4. परिवहन	21,966	7.51	11,517	11.99	52.4
5. सेवा क्षेत्र	19.261	6.59	8,134	8.47	42.2
6. धातु कर्म उद्योग	15,534	5.31	1,254	1.31	8.1
7. रसायन (उर्वरकों को छोड़कर)	13,090	4.48	5,692	5.93	43.5
8. खाद्य एवं खाद्य-प्रसंस्करण	9,620	3.29	4,346	4.53	45.2
9. होटल एवं पर्यटन	5,215	1.78	899	0.87	17.2
10. टैक्सटाइल्स	3.517	1.20	1,163	1.21	33.1
कुल (1 से 10 तक)	**,51,431**	**86.33**	**67,462**	**70.19**	**26.8**

नोट–इनमें कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर और इलैक्ट्रानिक्स शमिल हैं।

बहुराष्ट्रीय निगम

एकाधिकार और आर्थिक केन्द्रीयकरण की समस्याएं अब किसी एक राष्ट्र तक ही सीमित न रहकर अन्य राष्ट्रों को भी प्रभावित करने लगी है। ऐसे भी वृहद् आकार के निगम या कम्पनियां हैं जो एक से अधिक देशों में फैली हुई हैं। ऐसे राष्ट्रपार निगमों के गुण भी हैं और अवगुण भी जिनका अध्ययन करना इनके प्रति नीति-निर्धारण के लिए जरूरी है, ताकि इनसे अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सके और इनकी हानियों से यथा संभव बचा जा सके।

अर्थ और कार्यक्षेत्र की सीमा–बहुराष्ट्रीय निगमों के सही ढंग से विवेचन के लिए सर्वप्रथम इनके अर्थ कार्यक्षेत्र को समझना जरूरी है। अर्थ–बहुराष्ट्रीय निगमों की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है: यह एक ऐसी कम्पनी है जो एक से अधिक देशों में फैली होती है और जिसका उत्पादन और सेवा-सुविधाएं उस देश के बाहर भी होती हैं जिसमें यह जन्म लेती हैं। ऐसी कम्पनियों को अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनी या बहुराष्ट्रीय कम्पनी/निगम कहा जाता है। ऐसी कम्पनियों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इनके प्रमुख निर्णय पूरे विश्व के संदर्भ में लिए जाते हैं जिसके कारण इनके निर्णय बहुधा उस देश की नीतियों से मेल नहीं खाते जिनमें ये कार्य करती हैं। इनके अधिकतम लाभ के उद्देश्य में इस बात का समावेश नहीं होता कि इनकी क्रियाओं की प्रतिक्रिया उस देश पर क्या होगी जिसमें ये कार्यरत होती हैं।

ये कम्पनियां विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की संस्थाओं के माध्यम से कार्य करती है। अल्पविकसित देशों में ये अपनी नियंत्रित कम्पनी या कम्पनियों जिन पर उनका पूरा स्वामित्त्व होता है, के माध्यम से कार्य करती हैं। ये नियंत्रित, दूसरे देश की कम्पनियों के साथ मिलकर संयुक्त उद्यम स्थापित कर लेती हैं, या फिर विभिन्न देशों की कम्पनियों के साथ उत्पादन और बाजार आदि के सम्बन्ध में समझौता कर सकती हैं।

बाजार में अल्पाधिकार स्थापित करना–अन्तर्राष्ट्रीय निगमों के उदय और प्रसार से उत्पादन और निवेश का भी अन्तर्राष्ट्रीयकरण हुआ है। चूँकि यह कार्य बहुराष्ट्रीय निगमों के द्वारा किया जाता है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक महत्त्वपूर्ण भाग इन निगमों का आन्तरिक लेन-देन बन गया है। दूसरे शब्दों में, बहुराष्ट्रीय निगमों के उत्पादन, निवेश और व्यापार सम्बन्धी-आर्थिक क्रियाओं का एक महत्त्वपूर्ण भाग अंतर-फर्म लेन-देन होता है। इसके फलस्वरूप, बाजार में अल्पाधिकार और केन्द्रीयकरण का विकास होता है। संक्षेप में, आंतरिक एकाधिकार और आर्थिक केन्द्रीयकरण से भिन्न, बहुराष्ट्रीय निगम अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार और विश्व-स्तर पर आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण का प्रतीक है।

विस्तृत क्षेत्र—बहुराष्ट्रीय निगमों का उद्भव यद्यपि गत् लगभग 25-30 वर्षों से ही हुआ है, ये बहुत से देशों में फैल चुके हैं। इस प्रकार की कम्पनियां लगभग सभी विकसित देशों में पाई जाती हैं। ये संयुक्त राज्य अमेरिका में सबसे अधिक हैं। इन कम्पनियों का कार्य-क्षेत्र अपने देशों के बाहर विकसित एवं अल्पविकसित, दोनों प्रकार के देशों तक फैल चुका है। यहां तक कि समाजवादी देश भी इनकी पहुंच के बाहर नहीं हैं। बहुराष्ट्रीय निगम अल्पविकसित देशों में भी मौजूद हैं। अनुमान है कि इन देशों में इनकी संख्या 1000 से भी अधिक है। अल्पविकसित देशों के बहुराष्ट्रीय निगम अन्य विकासशील देशों में कार्य करते हैं। किन्तु विकसित देशों के बहुराष्ट्रीय निगमों की तुलना में ये कहीं नही उठते। उदाहरणार्थ, भारतीय संयुक्त उद्यमों द्वारा मध्य 1979 तक अन्य विकासशील देशों में किया गया कुल निवेश केवल 390 लाख डालर का था। समस्त भारतीय उद्यमों में किये गये निवेश का यह मूल्य किसी विकसित देश के एक औसत निगम द्वारा किये गये निवेश से भी बहुत कम ठहरता है। इस प्रकार बहुराष्ट्रीय निगमों का मामला मुख्य रूप से विकसित देशों का ही मामला है।

विविध कार्यकलाप—बहुराष्ट्रीय निगमों के कार्यकलाप अनेक और विभिन्न प्रकार के हैं। इनका बोध दो स्तर पर किया जा सकता है। एक प्रकार के कार्यकलाप में वे सेवाएं शामिल हैं जिनका सम्बन्ध पूंजीगत तकनीक-अन्तरण और उत्पादों के विपणन आदि की जानकारी के लिए शोध और उसके विकास से हैं। इन कार्यकलाप में किये गये निवेश को प्रत्यक्ष निवेश कहा जाता है। दूसरे स्तर पर वस्तु और उत्पादन आते हैं। इनसे सम्बन्धित कार्यकलाप मुख्यतया खनिज और पैट्रोलियम जैसे गतिशील क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं। इसके अलावा, ये कंपनियां, 'बेबी फूड' और कृषि उत्पादनों सहित खाद्य-सामग्री के क्षेत्र में भी कार्य करती है। इतना ही नहीं, इन कम्पनियों का दखल अल्पविकसित देशों को विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात के क्षेत्र में भी है। इन सेवाओं और उत्पादों को उपलब्ध कराने में ये उत्पादक और क्रेता, दोनों रूपों में कार्य करती हैं।

बहुराष्ट्रीय निगमों के गुण—बहुराष्ट्रीय निगमों के अपने कुछ गुण हैं जिनका उल्लेख विश्व-अर्थव्यवस्था या किसी एक विशेष अर्थव्यवस्था अथवा अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के संदर्भ में इन निगमों की भूमिका का मूल्यांकन करते समय किया जाना चाहिए।

पूंजी और तकनीक—इन निगमों का एक महत्त्वपूर्ण लाभ पूंजी की आपूर्ति से सम्बन्धित है। यह औद्योगीकरण की आरम्भिक अवस्थाओं में विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण रहा है जबकि अल्पविकसित देशों के लिए पूंजी प्राप्त करने के कुछ ही स्रोत उपलब्ध थे। जैसे-जैसे पूंजी विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध होने लगी और जब बहुराष्ट्रीय निगम भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से पूंजी प्राप्त करने लगे, वैसे-वैसे तकनीक के अन्तरण की समस्या अधिक महत्त्वपूर्ण बनती गई। बहुराष्ट्रीय निगम के माध्यम से भी तकनीक का अन्तरण विभिन्न देशों में हुआ है। इस प्रकार से आन्तरिक तकनीक विभिन्न देशों में प्राप्त साधन-भण्डारों के अनुकूल नहीं भी हो सकती है। यह बात पूंजी-प्रधान देशों से श्रम-प्रधान देशों को आन्तरिक तकनीक विभिन्न देशों में प्राप्त साधन-भण्डारों के अनुकूल नहीं भी हो सकती है। यह बात पूंजी-प्रधान देशों से श्रम-प्रधान देशों को अन्तरित अनुपयुक्त तकनीक के बारे में अधिक लागू होती है। ये निगम ऐसी अनुकूलित तकनीक के अन्तरण के लिए भी उत्तरदायी हैं जो अकुशल श्रम-प्रधान हैं। ऐसा इसलिए किया गया कि इस प्रकार उत्पादन-लागत कम बैठने से अधिक लाभ कमाया जा सकता था। अल्पविकसित देशों मे उपलब्ध सस्ते श्रम का लाभ उठाने के लिए राष्ट्र-पार उद्यमों ने अपने विनिर्माण वस्तु क्षेत्र के उत्पादन की तकनीक में अनेक बार महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए हैं। इतना ही नहीं, ये बहुराष्ट्रीय निगम नई तकनीक के विकास में समर्थ हो सकते हैं और रहे भी

हैं। इसका कारण यह है कि इनके पास विशाल मात्रा में कौशल और संसाधन उपलब्ध हैं। इनके प्रयोग से श्रम-प्रधान तकनीक का विकास किया जा सकता है।

नोट

श्रम-प्रधान तकनीक के अलावा, उत्पादन के कुछ ऐसे हैं जिनका विकास पूंजी-प्रधान तकनीक के बिना नहीं हो सकता, जैसे पेट्रोलियम, रसायन, खनिज आदि उद्योग। इन क्षेत्रों से तकनीक का अन्तरण लाभप्रद हो सकता है।

ऐसी तकनीक का उत्पादन चाहे स्थानीय हो या इसे आयात किया जाए, इसके लिए बहुत अधिक साधन और समय की आवश्यकता होती है। समय की बचत करने के लिए बहुराष्ट्रीय निगमों का सहारा लिया जा सकता है, विशेषतया कच्चे तेल जैसी आवश्यक वस्तु के उत्पादन की संभावना की वृद्धि के लिए।

शोध एवं विकास–तकनीक प्रगति के साथ तकनीक-विषयक शोध एवं विकास पर होने वाले व्यय का प्रश्न जुड़ा हुआ है। इस व्यय का एक बड़ा भाग बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा उनको अपने देश के बाहर किया जाता है, यद्यपि यह व्यय अल्पविकसित देशों में बहुत कम है। फिर भी, इस सीमित व्यय से कुछ लाभ उठाए जा सकते हैं। साधारणतया इस व्यय में वृद्धि की जा सकती है, और की जानी चाहिए, क्योंकि अल्पविकसित देशों में लगे लोगों का वेतन-स्तर विकसित देशों की तुलना में बहुत नीचा है।

विपणन–उत्पादन-सम्बन्धी तकनीक के अलावा, बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा उपलब्ध कराये जाने वाली "विपणन सेवाए" अल्पविकसित देशों में विकसित देशों को विनिर्मित माल के निर्यात के सम्बन्ध में कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। निर्यात-विपणन एक ऐसी क्रिया है जिसमें विभिन्न प्रकार के क्रियाकलाप सम्मिलित हैं, जिन्हें बहुराष्ट्रीय निगम अल्पविकसित देशों की अपेक्षा अधिक कुशलता से कर सकते हैं। इन क्रियाकलापों में बाजार सम्बन्धी शोध, विज्ञापन, विपणन-सूचनाओं का प्रसार, गोदाम, यातायात, भण्डार का प्रबन्ध, पैकिंग की डिजायन तैयार करना और वस्तुओं को उपभोक्ताओं तक पहुंचाना आदि सम्मिलित हैं। यह सारे काम अल्पविकसित देशों के लिए बहुराष्ट्रीय निगम बहुत अधिक कुशलता से कर सकते हैं।

बहुराष्ट्रीय निगमों के अवगुण

जहां एक और बहुराष्ट्रीय निगमों के अपने अनेक गुण हैं, वहीं दूसरी और इनमें बहुत-से-अवगुण भी हैं। कुछ विशेष क्षेत्रों में इन निगमों को चुनते या अपनाते समय इनके गुणों के साथ-साथ इनके अवगुणों को भी ध्यान में रखना और दोनों को आमने-सामने रखकर निर्णय लेना जरूरी है। उत्पादकों और उपभोक्ताओं के लिए हानिकारक–चूंकि बहुराष्ट्रीय निगम बहुत से देशों में फैले होते हैं, इसलिए ये किसी के प्रति निष्ठावान नहीं होते। इसके अलावा, इनका स्वरूप अल्पाधिकारी का होता है। अत: ये शक्ति का प्रयोग करके संभावित या वास्तविक प्रतियोगिता को समाप्त करते हैं। अपनी इच्छाओं को उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं पर लादने की ये अनेक तरकीबें अपनाते हैं। ये सट्टा बाजार में हेरा-फेरी करते हैं और धोखे भरे विज्ञापन से वस्तु-विभेद करते हैं। इस प्रकार वे अपने विश्वव्यापी लाभ को अधिकतम करने में सफल हो जाते हैं। अमेरिका के बहुराष्ट्रीय निगमों के एक अध्ययन से इस प्रकार के निष्कर्ष निकाले गए हैं कि इनके कारण उपभोक्ताओं को ऊंची कीमतें देनी पड़ती हैं, किसानों की आयघटती है और वस्तुओं की गुणवत्ता में गिरावट आती है, जबकि इन निगमों के लाभ में भारी वृद्धि होती है।

नोट

कीमत-निर्धारण के अन्तरण की बुराइयां—बहुराष्ट्रीय निगमों ने बहुधा कीमत-निर्धारण में लुटने की नीति अपनाई है जिसमें ऐसी तरकीबें शामिल हैं, जैसे विभिन्न फर्मों के बीच बाजार का बंटवारा, बाजार में हेरा-फेरी, वस्तु-विभेद आदि। कीमत-निर्धारण इन बहुत-सी तरकीबों को "कीमत-निर्धारण का अन्तरण" कहा जाता है। इसका तात्पर्य उस कीमत से है जो अन्तर-फर्म के लेन-देन में अपनाई जाती है। इसका उद्देश्य एक निगम द्वारा नियंत्रित सभी फर्मों के लाभ को अधिकतम करना है। ऐसा भी कहा जाता है कि ये निगम ऐसे देशों में जहां करों की दर नीची है, वहां अपने से सम्बन्धित कम्पनियों को ऊंची कीमतों पर माल बेचते हैं और ऊंची कर-दर वाले देशों में स्थित सम्बन्धित कम्पनियों से नीची कीमतों पर माल खरीदते हैं। इस नीति के द्वारा वे टैक्स से बचते हैं और दोनों प्रकार की कम्पनियों के सामूहिक लाभों को बढ़ाते हैं। कभी-कभी तो ये निगम नीची कर-दर वाले देशों में नकली या दिखावटी व्यापारी कम्पनियों की स्थापना करते हैं और अपने संपूर्ण लाभ को अधिकतम करने के लिए नकली फर्मों के माध्यम से लेन-देन में हेरा-फेरी करते हैं। इसके अलावा मूल निगम अपनी सम्बन्धि त कम्पनियों के लाभ एक बड़ा भाग 'रायल्टी', तकनीकी फीन्स, प्रबन्ध सेवा-शुल्क आदि के रूप में चूस लेते हैं। इससे सम्बद्ध कम्पनियों का लाभघट जाता है। इस तरह जिन देशों में ऐसी कम्पनियां काम करती हैं, उन्हें भारी कीमत चुकानी पड़ती है।

मुद्रा के सम्बन्ध में हेरा-फेरी—बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा वित्त प्राप्त करने में और अपने हित में उसका प्रयोग करने में अन्य वर्गों पर इसके कुपरिणाम की परवाह किए बिना जो हेरा-फेरा की जाती है, वह कम हानिकारक नहीं है। चूंकि बहुराष्ट्रीय निगम विभिन्न देशों में फैले होते हैं, इसलिए इनका लेन-देन विभिन्न देशों की मुद्रा में होता है। ये निगम दुलर्भ करेन्सी को लाभप्रद स्थानों पर एकत्रित करते जाते हैं और सुलभ करेन्सी के सम्बन्ध में अपनी सम्बद्ध कम्पनियों को निर्देश कम्पनियों को निर्देश देते हैं कि ऋण एकत्रित करें और पुराने ऋणों का भुगतान समय से पहले करें। संक्षेप में, इनकी नीति दुर्लभ मुद्रा के रूप में सम्पत्ति अर्जित करने और सुलभ मुद्रा के रूप में ऋण एकत्रित करने की होती है। इस प्रकार से ये मुद्रा-संकट की स्थिति को और गंभीर बनाते हैं। यद्यपि ये गतिविधि यां इन निगमों की विशेष-क्रिया के बाहर होती हैं, फिर भी ये ऐसा अपने लाभ को बढ़ाने के लिए करते हैं। बहुराष्ट्रीय निगमों के इस व्यवहार से अल्पविकसित देशों को लाभ की अपेक्षा हानि होती है क्योंकि इन देशों की मुद्राएं और भी निर्बल होती जारी हैं।

व्यवसाय में अनैतिकता—बहुराष्ट्रीय निगमों की एक बुराई जिससे विशेषतया अल्पविकसित देशों को भारी आर्थिक हानि होती है, वह यह है कि इनके व्यावसायिक व्यवहार साधारण व्यवसाय सम्बन्धी नैतिक और मेजबान देशों की वैधानिक प्रणाली से परे होते हैं, जैसे इनके अन्तर-फर्म लेन-देन और अन्तरण-कीमत के सम्बन्ध में कपटपूर्ण व्यवहारी बहुराष्ट्रीय निगमों ने एशिया, अफ्रीका और यूरोप के देशों में प्रभावशाली लोगों को अपना काम कराने के लिएघूस भी दी है। व्यावसायिक क्षेत्र के अलावा, इन निगमों के मूल देशों ने मेजबान देशों की राजनीति में भी हस्तक्षेप किया है। यह इनकी गतिविधियों का गंभीर पहलू है।

बहुराष्ट्रीय निगमों के गुण-दोषों का विवेचन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि इनसे होने वाले लाभ बहुत सीमित हैं। इन निगमों की प्रासंगिकता और उपयोगिता अल्पविकसित देशों में विकास की आरंभिक अवस्था में उन मामलों में हैं जहां विकसित तकनीक को प्राप्त करने की आवश्यकता होती है, और विकसित देशों में कुछ विनिर्मित वस्तुओं को बेचने की आवश्यकता होती है। इन क्षेत्रों के बाहर इन पर निर्भर होना हानिकारक है, क्योंकि इसके लिए कीमत बहुत अधिक चुकानी

पड़ती है। इसलिए प्रयास नहीं किया जाना चाहिए कि इन पर निर्भरता कम-से-कम और यथासंभव इन पर निर्भर होने से बचना चाहिए।

नोट

3:20 भारत में संघीय वित्त व्यवस्था

भारत में संघीय वित्त का विकास केन्द्रीय प्राधिकरण में धीरे-धीरे विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के पथ पर हुआ है। वर्ष 1871 तक प्रांतों के पास राजस्व के पास राजस्व के अपने साधन नहीं थे। उन्हें केन्द्र से प्राप्त अनुदानों पर ही रहना पड़ता था। उन्हें सर्वप्रथम 1871 में कुछ राजस्व मदें सौंपी गई, परन्तु इनसे होने वाले राजस्व की अपर्याप्तता के कारण केन्द्रीय अनुदानों की प्रथा भी बनी रही। सन् 1904 में विभाजित मदों की व्यवस्था को अपनाया गया। इसके अंतर्गत भूमि लगान, सिंचाई, उत्पादन शुल्क और स्टाम्प-शुल्क आदि से प्राप्त राजस्व केन्द्र और प्रांतों में विभाजित किया जाता था तथा कुछ अन्य राजस्व (जैसे डाक और तार, रेलवे, नमक, अफीम और टकसाल से आय) केवल केन्द्र के पास रहते थे। इस व्यवस्था में भी केन्द्र से प्रांतों को अनुदान देने का कार्य चलता रहा। भारत सरकार अधिनियम 1919 (जो 1921 में लागू किया गया) के अधीन विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया थोड़ी और सुदृढ़ हुई। क्षेत्रीय और स्थानीय महत्त्व की कई मदें प्रांतों को सौंप दी गईं, परन्तु राष्ट्रव्यापी मामले केन्द्र ने अपने हाथ में ही रखे। इस व्यवस्था में कार्यक्षेत्र और साधनों में तालमेल का अभाव था। प्रांतों को दिए गए वित्तीय साधनों से पर्याप्त राजस्व की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इसके विपरीत उनके कार्यभार में लगातार फैलाव की प्रवृत्ति निहित थी। प्रांतों के साधनों में भूमि लगान, सिंचाई से प्राप्तियाँ, उत्पादन शुल्क, स्टाम्प्स तथा पंजीकरण तथा वन आदि थे। अन्य साधन स्त्रोत (जैसे कि आय कर, डाक-तार, रेलवे, नमक, अफीम, सीमा शुल्क, करेंसी, सिक्का निर्माण तथा टकसाल आदि) केन्द्र के पास थे। इसके बावजूद यह धारणा अपनाई गई कि प्रांतों के पास साधनों की अधिकता थी तथा इस कारण उन्हें केन्द्र को अंशदान (contributions) देने चाहिए। इसी दृष्टिकोण पर आधारित मैस्टन कमेटी का गठन किया गया जिसने इन अंशदानों के बारे में विस्तृत सिफारिशें तैयार कीं। परन्तु कुछ ही वर्षों में वस्तुस्थिति हो गई कि अंशदान की प्रथा को त्यागकर केन्द्र को प्रांतों की सहायता देने का कार्यभार संभालना पड़ा।

इससे अगला महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भारत सरकार अधिनियम 1935 (जो 1937 में लागू हुआ) के अधीन आया। इस अधिनियम का ढाँचा ही बाद में भारतीय संविधान का भी आधार बना जिसमें केन्द्र तथा राज्यों के आपसी वित्तीय नातों की विस्तृत रूपरेखा बनाई गई। इस अधिनियम में वित्तीय दृष्टिकोण से एक सुदृढ़ केन्द्र की रचना की गई। कुछ करों को अनिवार्य रूप से तथा कुछ को स्वैच्छिक स्तर पर, केन्द्र और राज्यों में साझेदारी का प्रावधान किया गया। इसी प्रकार केन्द्र से राज्य सरकारों को अनुदान देने की भी व्यवस्था रखी गई।

संविधान में संघीय वित्त-व्यवस्था

भारत का संविधान 1950 में लागू हुआ। इसका ढाँचा काफी हद तक भारत सरकार अधिनियम 1935 से मिलता-जुलता है। संविधान में सभी सरकारी कार्यक्षेत्रों और वित्तीय साधनों को तीन भागों में बाँटा गया है, जिनमें से एक भाग केन्द्र के लिए एक राज्य सरकारों के लिए, तथा एक भाग दोनों के लिए साँझा हैं। इसमें विभिन्न प्रकार से कर-विभाजन तथा अनुदानों का प्रबन्धन है। इस समस्त व्यवस्था के गठन में प्रशासनिक और वित्तीय कार्यकुशलता को उचित प्राथमिकता दी गई है। देशव्यापी अथवा अन्तरराज्यीय साधन केन्द्र को सौंपे गए हैं तथा यही आधार कार्य-मदों के आबंटन में भी अपनाया गया है।

नोट

संविधान के सातवें परिशिष्ट (Schedule) में तीन सूचियाँ हैं, जिनमें केन्द्र तथा राज्यों के विषय अनुसूचित किए गए हैं। इन्हीं विषयों में वे भी शामिल हैं जिनसे वित्तीय साधनों की प्राप्ति होती है अथवा उनका हस्तांतरण किया जाता है। संविधान के 73वें तथा 74वें संशोधनों से पूर्व स्थानीय निकायों का अस्तित्व अनिवार्य नहीं था। राज्यों द्वारा स्थानीय निकायों के गठन हेतु कानून पास किए जाते थे। स्पष्ट है कि इस गठन में स्थानीय निकायों के कार्यक्षेत्र की सीमाओं का निर्धारण राज्य विधान मंडलों के दृष्टिकोण पर निर्भर करता था। उनके वित्तीय साधन भी राज्य सूची में से ही हस्तांतरित किए जाते थे। 73वें तथा 74वें संशोधनों के आधार पर अब राज्य विधान मंडलों के लिए यह अनिवार्य हो गया है कि निर्दिष्ट प्रकार के स्थानीय निकायों का गठन करें, जो स्थानीय इलाकों के ग्रामीणपन अथवा शहरीपन के अनुकूल हों। परन्तु अभी भी स्थानीय निकायों को कार्य (तथा वित्तीय साधनों) की मदों का हस्तांतरण राज्य सूची में से ही किए जाने की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त, हर राज्य के लिए स्थानीय निकायों की वित्तीय स्थिति का अध्ययन करने और इस संदर्भ में उचित सिफारिशें करने के लिए एक राज्य वित्त आयोग का प्रावधान भी किया गया है।

प्रथम सूची-संघ सूची

कर-राजस्व (Tax Revenue) संघ सूची मे 97 अदराज (Entries) हैं, जिनमें से निम्नलिखित केन्द्र सरकार के कर राजस्व की मदें हैं–

(1) कृषि-भिन्न आय पर कर (अदराज 82),

(2) सीमा शुल्क, निर्यात शुल्क सहित (अदराज 83),

(3) भारत में उत्पादित अथवा निर्मित तम्बाकू तथा अन्य वस्तुओं पर उत्पाद शुल्क सिवाए

 (i) मानवीय उपभोग के लिए शराब (alcoholic liquor), तथा

 (ii) अफीम, देशी भाँग तथा अन्य नशीली औषधियों एवं मादक पदार्थों के (परन्तु ऐसी औषधियाँ और स्नान सामग्री को छोड़कर जिनमें इन पदार्थों का प्रयोग किया गया हो) (अदराज 84),

(4) निगम कर (निगम कर कम्पनियों की आय पर लगाया गया कर है, इसकी परिभाषा अनुच्छेद 366 में दी गई है) (अदराज 85),

(5) कृषि भूमि को छोड़कर व्यक्तियों और कम्पनियों की परिसम्पत्तियों के पूँजी मूल्य पर कर, कम्पनियों की पूँजी पर कर (अदराज 87),

(6) कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा कर (अदराज 87),

(7) कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर अर्थांतरण (Succession) कर (इंदराज 88),

(8) रेलवे, सागर तथा वायु यातायात से जाने वाले यात्रियों और वस्तुओं पर अंतस्थ कर (Terminal taxes), रेल के किरायों और भाड़ों पर कर (अदराज 89),

(9) स्टाक एक्सचेंजों और आगामी मंडियों (Future Markets) में होने वाले सौदों पर स्टाम्प शुल्कों को छोड़कर अन्य कर (अदराज 90),

(10) विनिमय-पत्रों (Bills of Exchange), चैकों, प्रोनोटों (प्रामिस्सरी नोटों), लदान पत्रों (Bills of loading), साख पत्रों, बीमा पालिसियों, शेयरों, ऋण पत्रों, प्रतिपत्रों और रसीदों के हस्तांतरण पर स्टाम्प शुल्क की दरें (अदराज 91),

(11) समाचार पत्रों के क्रय-विक्रय पर तथा उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर (अदराज 92),

(12) समाचार पत्रों के छोड़कर अन्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कर जब यह क्रय-विक्रय अन्तरराज्यीय व्यापार अथवा वाणिज्य के कारण हो (अदराज 92-अ),

(13) व्यापार अथवा वाणिज्य के लिए वस्तुओं के अन्तरराज्ययीय प्रेषित माल (Consignments) पर कर (अदराज 92-ब),

(14) इस सूची से सम्बद्ध मामलों पर वे फीसें जो न्यायालय में न ली गई हों (अदराज 96),

(15) सुप्रीम कोर्ट (उच्चतम न्यायालय) में ली गई फीसें (अदराज 77)।

कर-भिन्न राजस्व

केन्द्रीय सरकार के कर-भिन्न राजस्व में निम्नलिखित मदें शामिल हैं-

1. उधार-संविधान के अनुच्छेद 292 के अंतर्गत भारत सरकार भारत की समेकित निधि की आश्वस्तता के आधार पर देश के अन्दर से तथा विदेशों से उधार ले सकती है। इस संदर्भ में संसद अपनी इच्छानुसार ऋण की मात्रा को सीमाबद्ध कर सकता है।
2. सरकारी उद्यमों तथा एकाधिकारों से आय-इस वर्ग में करेंसी, सिक्का निर्माण तथा टकसाल, भारतीय रिजर्व बैंक, रेलवे, डाक-तार तथा अन्य वाणिज्यिक और गैर-वाणिज्यिक उद्यम, तथा लाटरियों आदि से होने वाली आय शामिल है।
3. सरकार को अपनी प्रशासनिक गतिविधियों तथा आधिपत्य के अधिकारों के कारण भी कई प्राकर की आय प्राप्तियाँ होती हैं। उदाहरण के लिए इस वर्ग में (क) सरकारी जायदाद से आय, (ख) व्यपगमन (Lapse) तथा राजगमन (Escheat) से मिलने वाली आय अथवा सम्पत्ति (ग) युद्ध-क्षति पूर्ति (घ) तथा अफीम की खेती, निर्माण तथा निर्यात आदि से होने वाली आय आदि शामिल हैं।

द्वितीय सूची-राज्य सूची

इस सूची में राज्यों की कार्य-मदें तथा वित्तीय साधनों को दर्शाने हेतु 66 अदराज हैं जिनमें से वित्तीय साधनों से सम्बद्ध निम्नलिखित हैं-

कर-राजस्व

इस सूची में राज्य सरकारों के कर राजस्व के निम्नलिखित स्रोत हैं-

(1) भू-राजस्व (अदराज 45),

(2) कृषि आय पर कर (अदराज 46),

(3) कृषि भूमि के अर्थांतरण पर शुल्क (अदराज 47),

(4) कृषि भूमि पर सम्पदा कर (अदराज 48)

(5) भूमि खंडों तथा भवनों पर कर (अदराज 49),

(6) खनिजीय विकार, हेतु संसद द्वारा पारित कानूनी प्रतिबन्धों के अंतर्गत खनन अधिकारों पर कर (इंदराज 50),

(7) राज्य में निर्मित अथवा उत्पादित निम्नलिखित वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क तथा भारत में अन्य स्थानों पर निर्मित अथवा उत्पादित ऐसी ही वस्तुओं पर बराबर अथवा कम दर पर

संतुलनकारी शुल्क–(क) मानवीय उपभोग के लिए शराब, तथा (ख) अफीम, देशी भाँग तथा नशीली औषधियाँ अथवा मादक पदार्थ, परन्तु उन औषधीय तथा प्रसाधन सामग्रियों को छोड़कर जिनमें इन पदार्थों का प्रयोग किया गया है (इंदराज 51),

(8) किसी स्थानीय इलाके में उपभोग, प्रयोग अथवा बिक्री के लिए लाई जाने वाली वस्तुओं पर कर (अदराज 52),

(9) विद्युत के उपभोग तथा बिक्री पर कर (अदराज 53),

(10) वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कर, सिवाए समाचार पत्रों के तथा सिवाए अंतरराज्यीय बिक्री के (अदराज 54),

(11) विज्ञापनों पर कर, सिवाए इसके जब वे समाचार पत्रों में प्रकाशित हुए हों (अदराज 55),

(12) सड़कों तथा अंतर्देशीय जल मार्गों द्वारा जाने वाले यात्रियों तथा वस्तुओं पर कर (अदराज 56),

(13) सड़कों पर चलने वाले वाहनों पर कर (अंदराज 57), (14) पशुओं तथा नावों पर कर (अदराज 58),

(15) पथ कर, अर्थात् टोल्स (अदराज 59),

(16) धंधों, व्यापारों रोजगारों तथा पेशों पर कर (60), (17) प्रति-व्यक्ति कर (Capitation Taxes) (अदराज 61)

(18) विलासिता की वस्तुओं पर कर (मनोरंजन, आमोद-प्रमोद, शर्तबाजी तथा जुआबाजी पर करों सहित) (अदराज 62),

(19) दस्तावेजों पर स्टाम्प शुल्क की दरें, सिवाए उन दस्तावेजों के जिन पर भारत सरकार द्वारा स्टाम्प शुल्क लगाया जाता हो (अदराज 63),

(20) कचहरी की फीसों को छोड़ कर, राज्य सूची की मदों में सम्बद्ध फीसें (अदराज 66),

(21) उच्चतम-न्यायालय को छोडकर सभी न्यायालयों में ली गई फीसें (अदराज 3),

(22) कुछ निर्दिष्ट केन्द्रीय करों का भाग।

कर-भिन्न राजस्व

राज्यों के कर-भिन्न राजस्व में, निम्नलिखित शामिल हैं–

(1) संविधान के अनुच्छेद 293 के अधीन एक राज्य सरकार अपनी समेकित निधि की आश्वस्तता के आध ार पर उधार ले सकती है, परन्तु यह आधार केवल देश के अन्दर से ही लिया जा सकता है तथा ऋणदात्री भारत सरकार भी हो सकती है। राज्य के विधान मंडल द्वारा राज्य के ऋण की सीमा निर्धारित की जा सकती है। इसके अतिरिक्त यदि कोई राज्य सरकार केन्द्रीय सरकार की ऋणी हो अथवा भारत सरकार की जमानत पर किसी ऋण को पूरा अथवा आंशिक रूप से चुकाना बाकी हो, तो भारत सरकार का यह अधिकार बनता है कि राज्य सरकार पर कोई भी ऐसी शर्तें लागू कर दे जिन्हें पूरा करने पर ही वह नया ऋण ले सके।

(2) राज्य सरकार के पूर्ण अथवा अधूरे स्वामित्व वाले उद्यमों से आय।

(3) राज्य सरकार के स्वामित्व में सार्वजनिक सम्पत्ति से आय।

(4) खदानों, वनों तथा निखात-निधियों से स्वत्व शुल्क (Royalty from mines, forests and treasure troves)।

(5) केन्द्रीय सरकार से सहायता अनुदान।

नोट

(6) केन्द्रीय सरकार से अन्य अनुदान।

तृतीय सूची-सहवर्ती सूची

इस सूची में वे विषय दर्ज हैं जिनसे सम्बद्ध कानून केन्द्र तथा राज्य दोनों बना सकते हैं। इस सूची में कर राजस्व की कोई मद नहीं है, जिस कारण केन्द्र तथा राज्य एक साथ किसी एक ही कराधार पर करारोपण नहीं कर सकते। इसी प्रकार इस सूची में कर-भिन्न प्राप्तियाँ सरकारी गतिविधियों के परिणाम मात्र के रूप में है। यह भी स्मरणीय है कि यदि किसी विषय पर केन्द्र और किसी राज्य दोनों द्वारा कानून बनाए जाएँ तथा इनमें परस्पर विरोधाभास हो तो इनमें से केन्द्रीय कानून को मान्यता दी जाएगी।

वित्त आयोग

वित्त आयोग की संस्था भारत के संविधान की मुख्य विशेषताओं में से एक है। अनुच्छेद 280 का यह कहना है कि संविधान के लागू होने के दो वर्षों के भीतर राष्ट्रपति द्वारा प्रथम वित्त आयोग की नियुक्ति की जाए तथा इसके पश्चात हर पाँचवें वर्ष अथवा आवश्यकता पड़ने पर, इससे पहले, नए आयोग की नियुक्ति की जाए। एक बार आयोग की नियुक्ति हो जाने पर उस की सिफारिशों पर ही राज्यों का विचाराधीन साधनों का हस्तांतरण किया जा सकता है। कानूनी दृष्टिकोण से राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह आयोग की सिफारिशों को रद्द कर दे अथवा संशोधित रूप में स्वीकार करे परन्तु वास्तविकता में आयोग की सिफारिशें लगभग सदैव ही स्वीकारी जाती रही है। कालान्तर में बदलती परिस्थितियों से निपटने के लिए साधन-वितरण की कोई ऐसी प्रणाली प्रभावी नहीं हो सकती जो आवश्यकतानुसार परिवर्तनीय न हो। भारत में इस प्रकार की परिवर्तनशीलता का औचित्य और भी अधिक है, क्योंकि यहाँ पर व्यापक आर्थिक परिवर्तित स्थिति के अध्ययन का अवसर मिलता है तथा आवश्यकतानुसार साधन हस्तांतरण प्रणाली में सुधार किया जा सकता है। परन्तु इस सारे कथन का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि वित्त आयोग के कारण साधन हस्तांतरण की प्रणाली का त्रुटिरहित होना सुनिश्चित हो जाता है। व्यावहारिकता के स्तर पर इसमें कई ऐसे दोष पाए जाते हैं जिन्हें पूरी तरह सुधारा नहीं जा सकता।

अब तक दस वित्त आयोगों का गठन हो चुका है तथा सबकी रिपोर्टें भी दाखिल की जा चुकी हैं। प्रथम आयोग की रिपोर्ट दिसम्बर 1952 में तथा दसवें आयोग की रिपोर्ट नवम्बर 1994 में दाखिल की गई थी। ग्यारवहें वित्त आयोग की नियुक्ति वर्ष 1997 में अपेक्षित थी।

कार्यक्षेत्र

केन्द्र से राज्यों को साधन हस्तांतरण प्रणाली में वित्त आयोग का कार्यक्षेत्र निम्न प्रकार से है-

I. कराधान (Taxation)

(1) **आयकर**-संविधान के अनुसार, अधिभार को छोड़कर, केन्द्र द्वारा वसूल किए गए आय कर की निवल प्राप्तियों में राज्यों का भागीदार होना जरूरी है। इस संदर्भ में आयोग के दो

मुख्य कार्य है: (क) यह सिफारिश करना कि सकल विभाज्य पूँजी (divisible pool) में केन्द्र तथा राज्यों के हिस्से किस अनुपात में हों: तथा (ख) राज्यों के सामूहिक हिस्से में उन के व्यक्तिगत अनुपात क्या हों। ध्यान रहे कि आयोग को कोई ऐसी सिफारिश करने का अधिकार नहीं है जिसका उद्देश्य सकल विभाज्य पूंजी मेंघटा-बढ़ी करना हो। आय कर की दरों, छूटों, रियासतों तथा अधिभार आदि के बारे में आयोग कोई सिफारिश नहीं कर सकता तथा न ही सकल विभाज्य पूँजी के अनुमान के ढंग में परिवर्तन का सुझाव दे सकता है।

(2) **संघ-उत्पाद कर** (Union Excise Duties): आयोग को संघ उत्पाद के बँटवारे पर विचार करने अथवा न करने के लिए आदेश देने का अधिकार राष्ट्रपति को है। वैसे वस्तुस्थिति यह है कि राष्ट्रपति ने हर आयोग को इस विषय पर विचार करने के लिए आदेश दिया है। यहाँ भी आयोग उत्पाद शुल्क के ढाँचे में किसी प्रकार के परिवर्तन अथवा सुधार की सिफारिश नहीं कर सकता। आयोग केवल इस बात की सिफारिश कर सकता है कि उत्पादन शुल्कों में से किनकी निवल प्राप्तियाँ राज्यों से साथ विभाज्य हों, उन में से केन्द्र और राज्यों के तुलनात्मक प्रतिशत भाग क्या हों तथा राज्यों के सामूहिक हिस्से को उन में किस प्रकार बाँटा जाए। इस प्रकार आयोग के पास उत्पाद शुल्कों पर लगाए गए अधिभार एवं उपकरों को सकल विभाज्य पूँज़ी में शामिल करने की सिफारिश कर पाना शामिल नहीं है।

संघ उत्पाद शुल्कों में प्रयुक्त कुछ शब्द ऐसे हैं जिनकी जानकारी के अभाव में इन के विभाजन के मामले को समझने में भूल हो सकती है। सर्वप्रथम यह याद रखना चाहिए कि भारत सरकार द्वारा आयोजित उत्पाद शुल्कों में पहला वर्ग बुनियादी तथा विशेष उत्पाद शुल्कों का है। आयोग इन की निवल प्राप्तियों के विभाजन के बारे में सिफारिशें कर सकता है। संघ उत्पाद शुल्कों में दूसरा वर्ग वस्तुओं पर लगाए गए उपकरों का है। इन उपकरों की प्राप्तियाँ राज्यों के साथ विभाज्य नहीं होती, तथा आयोग इनके सम्बन्ध में सिफारिशें नहीं करता। संघ उत्पाद शुल्कों के तीसरे वर्ग को वस्त्र और वस्त्र आदि पर अतिरिक्त शुल्क के नाम से जाना जाता है। इनकी प्राप्तियाँ भी भारत सरकार के पास ही रहती है तथा वित्त आयोग को इनके विभाजन के बारे सिफारिशें करने का अधिकार नहीं है। संघ उत्पाद शुल्कों के चौथे वर्ग में बिक्री कर के एवज में अतिरिक्त उत्पाद शुल्क आते हैं। राज्य सरकारों ने कुछ वस्तुओं पर बिक्री कर लगाने के अपने अधिकार को त्यागकर भारत सरकार को बदले में अतिरिक्त उत्पाद शुल्क लगाने की अनुमति दी हुई है। अत: उन उत्पाद शुल्कों की सारी निवल प्राप्तियाँ राज्यों में ही वितरण की जाती हैं। इस वितरण की सिफारिशें वित्त आयोग के द्वारा की जाती हैं।

(3) **अनुच्छेद 269 के अनुसरण में आरोपित कर** : इस अनुच्छेद के अनुसरण में आरोपित करों की समस्त निवल प्रप्तियाँ राज्यों को सौंपी जाती हैं। वित्त आयोग को इन करों में किसी प्रकार के संशोधन की सिफारिश करने का अधिकार नहीं है। आयोग केवल यह सिफारिश कर सकता है कि इन राजस्व प्राप्तियों को राज्यों में किस प्रकार वितरित किया जाए। भारत सरकार ने अब तक केवल दो बार करारोपण के लिए इस अनुच्छेद का प्रयोग किया है। इसी प्रकार भारत सरकार द्वारा लगाए जाने वाले सम्पदा कर को 1985-86 में हटा दिया गया। इस समय इस अनुच्छेद के अंतर्गत कोई भी कर नहीं लगाया जा रहा।

II. अनुदान (Grants)

(1) राष्ट्रपति के आदेश पर वित्त आयोग राज्यों की वित्तीय आवश्यकताओं का अनुमान लगाता है तथा इनके लिए राजस्व सहायता-अनुदानो (Grants-in-aid of Revenue) की सिफारिश करता है। यह सिफारिश करने का दायित्व भी इसी आयोग का होता है कि इन अनुदानों को किन सिद्धांतों के आधार पर तय किया जाए। यह आवश्यक नहीं कि सभी राज्यों को अनुदान मिलें अथवा सभी के लिए अनुदान राशियाँ एक समान हों।

(2) वित्त आयोग एक अथवा एक से अधिक राज्यों के लिए विशेष-परियोजन (special-purpose) अनुदानों की भी सिफारिश कर सकता है। इस कार्य को राष्ट्रपति के आदेश द्वारा भी आयोग विचारणीय विषयों में शामिल किया जा सकता है।

उपरोक्त प्रकार के अनुदानों संविधिक अनुदानों (Statutoty Grants) की संज्ञा दी जाती है। ये अनुदान संविधान के अनुच्छेद 275 की धारा (1) के आधीन आते हैं। परन्तु इस धारा के कुछ परंतुक (Provisos/प्रतिबन्ध अथवा उपबन्ध) ऐसे भी हैं जिनसे सम्बद्ध अनुदानों की सिफारिश करना वित्त आयोग के अधिकार से परे है।

(3) संविधान के अनुच्छेद 282 के अधीन केन्द्र राज्यों को अपनी इच्छा पर भी अनुदान दे सकता है। इन्हें ऐच्छिक अनुदान (Discretionary grants) कहते हैं। सामान्य दौर पर वित्त आयोग उनकी राशियों अथवा उनके राज्यों में आबंटन पर सिफारिश नहीं कर सकता। परन्तु इस वर्ग में से भी एक अथवा एक से अधिक अनुदानों को वित्त आयोग के विचारणीय विषय का भाग बनाया जा सकता है। राष्ट्रपति के आदेश पर आयोग इनकी राशियों तथा वितरण ढाँचे पर अपनी सिफारिशें कर सकता है।

III. अन्य मामले (Other Matters)

राष्ट्रपति द्वारा वित्त आयोग को एक सुनिश्चित वित्त व्यवस्था के लिए निर्दिष्ट मामलों और समस्याओं का अध्ययन करने तथा सिफारिशें करने को कहा जा सकता है। राज्यों की ऋण स्थिति, उनके लिए ऋण रात की अभिप्रेतता एवं व्यवस्था, प्राकृतिक प्रकोपों में राहत व्यय का वित्त-पोषण, योजना-भिन्न स्कीमों तथा अन्य परिसम्पत्तियों का रख-रखाव आदि इन मामलों तथा समस्याओं के कुछ उदाहरण है परन्तु स्मरणीय है कि आयोग राज्यों को नए ऋण देने की सिफारिश नहीं कर सकता।

IV. प्रतिबन्ध (Restrictions)

आयोग को अपनी सिफारिशें करते समय कई प्रकार के प्रतिबन्धों का सामना करना पड़ सकता है। उदाहरणार्थ, सातवें आयोग से लेकर अब तक एक प्रतिबन्ध यह लगाया जाता रहा है कि राज्यों के कर-राजस्व और सहायता अनुदानों में व्यक्तिगत भाग निर्धारित करने वालेघटकों में यदि जनसंख्या भी हो तो उसके आँकड़े 1971 की जनगणना के ही होंगे। इसी प्रकार, आयोग का विचारणीय विषय तय करते हुएं बहुधा यह प्रतिबन्ध भी लगा दिया जाता है कि अपनी सिफारिशें का निर्माण करते हुए बहुधा यह प्रतिबन्ध भी लगा दिया जाता है कि अपनी सिफारिशों का निर्माण करते हुए केन्द्रीय सरकार और उसकी वित्तीय आवश्यकताओं, राज्य-योजनाओं के वित्त-पोषण हेतु केन्द्रीय सहायता के निर्धारण, वितरण और उनकी प्रथाओं, राज्य-उद्यमों से निवेशित राशियों पर आय मिलने की अभिप्रेतता, राज्यों द्वारा वित्तीय-प्रबन्ध में सुधार की गुंजायश आदि को ध्यान में रखे।

नवे वित्त आयोग पर दो नए प्रकार के निम्नलिखित प्रतिबन्ध भी लगाए गए थे–

(क) आयोग को आदेश था कि केन्द्र और राज्यों की प्राप्तियों और व्यय के पूर्वानुमान वस्तुस्थिति के आधार पर नहीं, प्रत्युत मानकीय (Normative) आधार पर किए जाएँ। इसका अर्थ यह था कि इन पूर्वानुमानों में व्यय मदों के औचित्य तथा साधन जुटाने मे किए जा सकने वाले प्रयत्नों को आधार बनाया जाए।

(ख) आयोग से यह कहा गया कि अपनी सिफारिशों का आकार इस प्रकार रखे कि केन्द्र और राज्य दोनों 1994-95 तक अपने राजस्व खाते सेघाटे से छुटकारा पा सकें तथा हो सके तो पूँजी निर्माण के लिए इस खाते में अधिशेष की स्थिति प्राप्त कर सकें।

इसी प्रकार दसवें वित्त आयोग पर मानकीय पद्धति को अपनाने के स्थान पर कई अन्य प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए गए जिनमें कर-राजस्व को बढ़ाने की गुंजायश, केन्द्र और राज्य सरकारों के बजटीय संतुलन की प्राप्ति, राजकोषीयघाटे में कमी और पूँजी निवेश के लिए साधन एकत्रण; व्यय में सुधार की गुंजायश राज्यों द्वारा उद्यमों में निवेशित पूँजी से अपेक्षित उचित आय तथा राज्यों और केन्द्र की विशेष बुनियादी आवश्यकताओं आदि को गिनवाया जा सकता है।

परन्तु इस प्रकार की सभी बंदिशों के बावजूद आयोग को यह अधिकार है कि वह अपनी आवश्कतानुसार हर प्रकार की सूचना प्राप्त कर सके; अपनी कार्य-पद्धति निर्धारित कर सके; तथा व्यक्तियों, व्यक्ति समूहों, संस्थाओं, कम्पनियों, व्यापार संगठनों, श्रम संगठनों एवं सरकारों आदि से वार्तालाप, स्मरण पत्रों तथा अन्य तरीकों के जानकारी प्राप्त कर सकें।

V. कसौटियों का चुनाव (Choice of Criteria)

यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि क्या वित्त आयोग को अपनी सिफारिशें देते हुए कुछ वस्तुनिष्ठ कसौटियों को अपनाना चाहिए? इसका उत्तर केवल हाँ में ही दिया जा सकता है। आत्मनिष्ठ कसौटियों का स्थान उन निर्णयों में नहीं हो सकता जिनसे पूरे देश के वित्तीय प्रबन्ध का प्रश्न जुड़ा हुआ हो। इन वस्तुनिष्ठ कसौटियों का चुनाव भी देश के हित को ध्यान में रखते हुए ही किया जाना चाहिए।

परन्तु वस्तुनिष्ठ कसौटियों के चुनाव में भी कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जैसे कि

(क) विभिन्न सम्भव कसौटियों में से किनको चुना जाए तथा किनको छोड़ दिया जाए।

(ख) कालान्तर में इनमें किस प्रकार का परिवर्तन किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए इस संदर्भ में अन्तरराज्यीय आर्थिक असमानताओं को दूर करने के प्रश्न पर विचार किया जा सकता है। क्या केन्द्र से राज्यों को साधन हस्तांतरण का प्रयोग इन असमानताओं कोघटाने के लिए किया जाना चाहिए? इस प्रश्न का कोई पूर्व निश्चित उत्तर नहीं है। कुछ लोगों के तर्कानुसार ऐसा किया जाना चाहिए तथा कुछ अन्य लोगों के मतानुसार ऐसा करने का कोई औचित्य नहीं बैठता है। एक मत यह भी हो सकता है कि वित्त हस्तांतरण की कुछ मदों से इस भूमिका को निभाने की अपेक्षा की जाए, परन्तु अन्य मदों से नहीं। उदाहरण के लिए जिन करों को केन्द्र राज्यों की ओर से लगाता तथा वसूलता है, उनके आबंटन द्वारा अन्तरराज्जीय विषमताएँघटाने के उद्देश्य का कोई औचित्य नहीं बैठता। परन्तु सहायता अनुदानों द्वारा इस उद्देश्य की प्राप्ति की चेष्टा की जा सकती है। इसी प्रकार आर्थिक विषमताओं को दूर करने के उद्देश्य को मान्यता देने की पश्चात भी यह तय करना शेष रहता है कि अन्तरराज्यीय विषमताओं के प्रमापण क्या हों तथा उनकी चयन-पद्धति क्या हो। वैसे स्मरणीय वस्तुस्थिति यह है कि विभिन्न वित्त आयोगों द्वारा चुनी गई कसौटियों

में काफी अन्तर रहा है तथा बहुधा एक आयोग द्वारा भी विभिन्न साधन मदों के लिए अलग-अलग कसौटियों को आधार माना गया है।

वित्त आयोग और कर-विभाजन (Finance Commission and Tax Sharing)

नोट

1. **आयकर** (Income Tax): आय कर ही केवल ऐसा कर है जिनकी निवल प्राप्तियाँ अनुच्छेद 270 के अनुसरण में राज्यों के साथ अनिवार्य रूप से विभाज्य हैं परन्तु संविधान का यह भी कहना है कि निगम कर (Corporation tax) तथा निगम कर और अन्य करों पर किसी प्रकार का संघ अधिभार और उपकर आदि राज्यों के साथ विभाज्य नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त आय कर की विभाज्य पूँजी (अर्थात् केन्द्र तथा राज्यों में विभाज्य राशि) के अनुमान में संघ राज्य क्षेत्रों से संबन्धित आयकर की निवल प्राप्तियाँ, संघीय परिलब्धि यों के सम्बन्ध में देय कर तथा संघीय परियोजनों के लिए लगाए गए आयकर के अधिभार को विभाज्य पूँजी से बाहर रखा जाता है।

   इस संदर्भ में राज्यों को केन्द्र से कई प्रकार की शिकायतें हैं। केन्द्र द्वारा अधिभार का अत्यधिक प्रयोग किया गया है। राज्य यह भी चाहते हैं कि निगम कर भी विभाज्य पूँजी एक अंग हो, विशेषकर इसलिए कि यह भी कृषि-भिन्न आय कर ही एक भाग है जो व्यवसाय-क्षेत्र अदा करता है। उन्हें एक अन्य शिकायत यह है कि 1959 में आय कर के कानून में इस प्रकार से संशोधन किया गया कि राज्यों के साथ तब तक विभाज्य पूँजी का एक अंश अविभाज्य हो गया। इस संशोधन से पूर्व कम्पनियों द्वारा अदा किए गए कर का एक भाग आय कर माना जाने के कारण राज्यों के साथ विभाज्य था। परन्तु 1959 में आय कर नियमों में इस प्रकार परिवर्तन किया गया कि कम्पनियों द्वारा (उनकी आय पर) अदा किया जाने वाला सारा कर निगम कर की परिभाषा के अंतर्गत आ गया तथा राज्यों के साथ अविभाज्य हो गया।

   इस प्रकार आय कर के सम्बन्ध में वित्त आयोग को तीन प्रश्नों का सामना करना पड़ता है–

(1) राज्य इस बात पर दबाव डालते रहे हैं कि निगम कर को भी विभाज्य पूँजी में जोड़ा जाए। स्पष्ट है कि संविधान में उपयुक्त संशोधन के बिना वित्त आयोग इस सुझाव को नहीं मान सकता।

(2) राज्य यह तर्क देते हैं कि विभाज्य पूँजी में से उन्हें मिलने वाले अनुपात को बढ़ाया जाए।

(3) राज्यों का इस बात पर मतभेद रहता है कि उनके सामूहिक हिस्से में से उनके व्यक्तिगत भाग किस आधार पर तय किए जाएँ। स्पष्ट है कि हर राज्य उस आधार की माँग करता है जिससे स्वयं उसको लाभ हो सके। इस संदर्भ में हम चार ऐसे मुख्य आधारों का वर्णन कर सकते हैं जिन का राज्य सरकारें विशेष रूप से समर्थन करती रही हैं।

   (क) कराधार का आकार, अर्थात उन राशियों का कुल जोड़ जिन पर करदाताओं की करदेयता निर्धारित की गई हो। इस आधार की त्रुटि यह है कि कर राजस्व की राशि तथा करारोपित आयों के जोड़ में (विशेषकर कर की दरें अनुपाती न होने पर) कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता।

   (ख) कर राजस्व की उगाही अर्थात् कर राजस्व की वास्तविक प्राप्तियाँ। इस आधार की त्रुटि यह बताई जाती है कि करारोपित आय का स्त्रोत किसी एक राज्य में तथा उस पर वसूला गया कर किसी अन्य राज्य में हो सकते हैं।

(ग) कराधार का स्त्रोत, अर्थात् वह राज्य जहाँ पर करारोपित आय की उत्पत्ति हुई हो। सैद्धांतिक स्तर पर बँटवारे का यह एक अच्छा आधार है, परन्तु वास्तविकता में इस बारे में पूरी जानकारी मिलना अति कठिन रहता है।

(घ) आवश्यकता, अर्थात् विभिन्न राज्यों की राजकोषीय आवश्यकताओं की तुलनात्मक स्थिति।

अधिकतर वित्त आयोगों ने आय कर में राज्यों के व्यक्तिगत भाग तय करने में उगाही, अथवा उगाही और आवश्यकता के जोड़ का प्रयोग किया है। परंतु आवश्यकता के सैद्धांतिक औचित्य को सिद्ध करने के साथ इसके प्रयोग में कई अन्य कठिनाइयाँ भी आती हैं। इसमें सबसे बड़ी समस्या राज्यों की राजकोषीय आवश्यकता के मापने की है। इसके लिए प्रति व्यक्ति आय, प्रशासनिक और सामाजिक सेवाओं का स्तर, जनसंख्या का आकार अथवाघनत्व आदिघटकों का वर्णन किया जा सकता है। वैसे वस्तुस्थिति यह रही है कि अधिकतर वित्त आयोगों ने जनसंख्या के आकार को ही राज्यों की राजकोषीय आवश्यकता का तुलनात्मक माप मानने पर संतोष किया है, जब कि आयकर-भिन्न स्त्रोतों के आबंटन में आर्थिक पिछड़ेपन, प्रति-व्यक्ति आय तथा अन्य कई ऐसेघटकों का प्रयोग भी किया गया है।

3.21 सरकारी वित्त: संघ एवं राज्य

संविधान में कुछ संघीय करों से प्राप्त राजस्व की राज्यों में बाँट सम्बन्धी धाराएँ दी गई हैं। संघीय सरकार द्वारा लगाए गए करों को चार भागों में बाँटा जाता है। (क) वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए जाते हैं और जो पूर्णतया केन्द्र सरकार द्वारा ही रखे जाते हैं; (ख) वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए तथा एकत्र किए जाते हैं, परंन्तु जिनसे प्राप्त राजस्व राज्यीय सरकारों के साथ बाँटा जाता है; (ग) वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए तथा एकत्र किए जाते हैं, परन्तु जिनसे प्राप्त समस्त राजस्व राज्यों को सौंप दिया जाता है, और (घ) वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए जाते हैं, परन्तु जो राज्य सरकारों द्वारा एकत्र तथा प्रयुक्त किए जाते हैं।

संघीय कर (Union Taxes) – जो भारतीय संविधान की सातवीं अनुसूची में दिए गए है, इस प्रकार:

(1) कृषि आय को छोड़कर अन्य आय पर कर, (2) निगम आय कर (Corporation income tax), (3) सीमा शुल्क (custom Duties) जिनमें आयात तथा निर्यात शुल्क शामिल किए जाते हैं; (4) शराब तथा स्वापक औषधों को छोड़ अन्य वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क, (5) कृषि भूमि को छोड़ अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा एवं उत्तराधिकार शुल्क, (Estate and Succession Duty), (6) कृषि भूमि को छोड़ व्यक्तियों और कम्पनियों की परिसम्पत के पूँजी मूल्य (Capital Value) पर कर, (7) वित्तीय प्रलेखों पर स्टाम्प, (8) हिस्सा बाजार और भावी बाजार (Future market) के लिए किए गए सौदों पर स्टाम्प शुल्क छोड़कर अन्य कर, (9) समाचार पत्रों के क्रय-विक्रय और उनमें दिए गए विज्ञापनों पर कर, (10) रेल भाड़े ओर किराए पर कर, (11) रेलवे, समुद्र या वायु द्वारा पहुँचाई गयी वस्तुओं या सवारियों पर चुँगी (Terminal Tax), और (12) अन्तः राज्यीय व्यापार (Inter-state trade) के दौरान वस्तुओं के क्रया विक्रय पर कर।

राज्यीय कर (State taxes)– भारतीय संविधान की सातवीं अनुसूची में दिए गए कर निम्नलिखित हैं :

नोट

(1) भू-राजस्व, (2) समाचार पत्रों को छोड़कर अन्य वस्तुओं के विक्रय या क्रय पर कर, (3) कृषि आय पर कर, (4) भूमि तथा भवनों पर कर, (5) कृषि भूमि पर सम्पदा व उत्तराधिकारी शुल्क, (6) शराब तथा स्वापक औषधों पर उत्पाद शुल्क (7) किसी स्थानीय क्षेत्र में वस्तुओं के प्रवेश पर कर, (8) धातु अधिकारों पर कर, (9) बिजली के उपभोग तथा विक्रय पर कलर, (10) गाड़ियों, पशुओं तथा नौकाओं पर कर, (11) वित्तीय प्रलेखों को छोड़कर अन्य प्रलेखों पर स्टाम्प शुल्क, (12) सड़क या ज़ल अन्तर्देशी मार्गों द्वारा ढोई गयी वस्तुओं एवं सवारियों पर कर, (13) मनोरंजन तथा जुए पर कर (14) पथ कर (Toll Tax), (15) व्यवसाय, व्यापार, पेशे और रोजगार पर कर, (16) प्रति व्यक्ति कर (Capitation Taxes), और (17) समाचार-पत्रों को छोड़कर अन्य विज्ञापनों पर कर।

दसवें वित्त आयोग ने, जिसके अध्यक्ष श्री के०सी० पंत थे, केन्द्रीय करों के विकल्प वितरण की सिफारिश की। इसके अनुसार संविधान में संशोधन करना पड़ा जिसके आधीन सभी केन्द्रीय करों से प्राप्त राजस्व को राज्यों के साथ बांटना अनिवार्य कर दिया। ग्यारहवें और बारहवें वित्त आयोग ने आवंटन की नयी योजना का अनुसरण किया और हमने इनकी मुख्य सिफारिशों का सारांश अलग-अलग दिया है। केन्द्र और राज्यों में राजस्व का निम्नलिखित सारांश केवल दसवें वित्त आयोग की सिफारिशों पर आधारित है।

केन्द्रीय राजस्व का वितरण एवं आवण्टन

संविधान के कुछ ऐसे कर संघीय सूची (Union List) में शामिल किए गए हैं जो आंशिक या पूर्ण रूप से राज्यों को बाँट दिए जाते हैं। इस वर्ग में तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए जाते हैं परन्तु जो राज्यों द्वारा एकत्र एवं प्रयुक्त किए जाते हैं। इनमें स्टाम्प शुल्क और अल्कोहल तथा स्वापक औषधों पर लगाए गए उत्पादन शुल्क शामिल किए जाते हैं। दूसरे कुछ ऐसे कर हैं जो केन्द्र द्वारा लगाए एवं एकत्र किए जाते हैं परन्तु जिनसे प्राप्त कुल आय राज्यीय सरकारों को सौंप दी जाती है। इन करों में हैं: उत्तराधिकार एवं सम्पदा शुल्क, सवारियों पर सीमा कर, रेल भाड़े और किराए पर कर, हिस्सा बाजारों और भावी बाजारो में किए गए सौदे पर कर, आदि। इनमें से कृषिभूमि को छोड़ अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क बाँट की जाती हैं। इनमें से 1 प्रतिशत संघीय क्षेत्र को दिया जाता है और शेष वित्तीय आयोग (Finance commission) की सिफारिशों के आधार पर बाँटा जाता है। रेलों के किराये पर कर 1957 में लगाया गया और 1961 में समाप्त कर दिया गया। तीसरे, निगम आय पर कर छोड़कर अन्य आय पर केन्द्रीय कर और उत्पादन शुल्क जो संघीय सरकार द्वारा लगाए और एकत्र किए जाते है, परन्तु जो राज्यों के साथ एक निर्धारित ढंग से बाँटे जाते हैं। कारखाना-निर्मित कपड़े, चीनी और तम्बाकू पर अतिरिक्त उत्पादन शुल्क के बदले 1957 में इन वस्तुओं पर राज्यीयी बिक्री-कर (State Sales Tax) लगाया गया। यह कर संघीय सरकार द्वारा लगाया जाता है और इससे समग्र आय को राज्यों में इस प्रकार बाँटा जाता है कि विस्थापित बिक्री-कर से पूर्व प्राप्त हाने वाली आय की गारण्टी प्रत्येक राज्य को दी जा सकें।

सहायता-अनुदान (Grant-in-aid)–राज्यीय सरकारों को कुछ महत्त्वपूर्ण कल्याणकारी एवं विकासात्मक कार्य सौंपे गए हैं परन्तु माँगों को पूरा करने के लिए पर्याप्त संसाधान नहीं हैं। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने एक स्थापित व्यवहार बना लिया है कि सहायता-अनुदान के रूप में अपने कुछ साधन राज्यों को दे दें। भारत में संघ-राज्य सम्बन्धों (Union-State Relations) में सहायता-अनुदान को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया है। ये अनुदान वित्तीय साधनों में अन्तः राज्यीय असमानताओं (Inter-state disparties) को दूर करने में विशेष सहायता देते हैं। इनके द्वारा विभिन्न

राज्यों में उपलब्ध अनिवार्य कल्याणकारी सेवाओं और विकासातमक प्रोग्रामों में कुछ हद तक केन्द्रीय नियन्त्रण और समन्वय भी कायम हो जाता है।

ऋण (Loans) – राज्यीय सरकारों को बाजार से उधार लेने का अधिकार प्राप्त है परन्तु वे संघीय सरकार से उधार ले सकती हैं जिसके परिणामस्वरूप केन्द्र सरकार से माँगे जाने वाले वार्षिक उधार की दर बहुत काफी बढ़ गयी है। अन्य उद्देश्यों के अतिरिक्त, सिंचाई, नदीघाटी परियोजनाओं, कृषि विकास, पुनर्वास, सामुदायिक विकास और औद्योगिक गृह–निर्माण (Industerial Housing) के लिए भी उधार दिया जाता है। राज्य सरकारें केन्द्र सरकार के पास जमा के रूप में कुछ राज्यीय और स्थानीय राशियाँ भी रखती हैं, जो वास्तव में केन्द्र द्वारा दिए गए ऋण होते हैं। और जिनका प्रयोग सामान्य उद्देश्यों के लिए किया जाता है।

राज्यों को हस्तांतरित साधन

1951–52 में केन्द्र से हस्तांतरित साधनों द्वारा कुल राज्यीय व्यय के 25 प्रतिशत के लिए वित्त जुटाया गया। परन्तु 1987–88 में यह अनुपात बढ़कर 46 प्रतिशत हो गया। केन्द्र से राज्यों को हस्तांतरित साधनों की बढ़ती हुई प्रवृत्ति तीन बातों का प्रमाण देती है: (क) केन्द्रीय एवं राज्यीय वित्त में अधिकाधिक समन्वय हो रहा है (ख) राज्ये सरकारें केन्द्र पर बुरी तरह निर्भर होती जा रही हैं और 7 केन्द्र द्वारा राज्यों के मामलों में दखल देने की शक्ति बढ़ती जा रही है।

औसत रूप में प्रथम योजना में राज्यों को केन्द्र से 280 करोड़ रुपए, की वार्षिक राशि हस्तांतरित की गयी, यह राशि दूसरी योजना में 2,868 करोड़ रुपए, तीसरी योजना में 5,650 करोड़ रुपए, और छठी योजना में 53,220 करोड़ रुपए, और सातवीं योजना में 1,23,530 करोड़ रूपऐ हो गयी। नवें वित्त आयोग की सिफारिशों के आधार पर राज्यों को 1990–95 की अवधि के लिए 2,44,260 करोड़ रुपये वित्त आवंटन में मिला। यह वृद्धि वित्त आयोगों की सिफारिशों का परिणाम थी। इस प्रकार राज्यों के कुल व्यय का 43 प्रतिशत केन्द्र से हस्तांतरित साधनों द्वारा उपलब्ध कराया जाता है।

केन्द्र से राज्यों को हस्तांतरित संसाधन तीन प्रकार के होते हैं : कर, अनुदान और ऋण। राज्यीय साधनों में सबसे अधिक वृद्धि अनुदानों के रूप में हुई है जो राज्यों की बढ़ती हुई वित्तीय आवश्यकताओं की संकेतक हैं। करों में से, संघीय उत्पादन शुल्कों के भाग में सबसे अधिक वृद्धि हुई हैं इसका मुख्य कारण विभाज्य उत्पादन शुल्कों की सूची में सम्मिलित वस्तुओं की संख्या में वृद्धि है। विभिन्न करों से प्राप्त होने वाली आय में वृद्धि के कारण भी करों एवं शुल्कों के राज्यीय भाग में वृद्धि हुई।

वित्त आयोग

संविधान में आधीन राष्ट्रपति को वित्त आयोग नियुक्त करना पड़ता है। आयोग को इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति को निम्नलिखित विषयों में सिफारिशें करनी होती हैं : (क) केन्द्र और राज्यों के बीच करों से राजस्व की बाँट करना और फिर विभिन्न राज्यों में राजस्व बाँटना, (ख) वे सिद्धान्त निर्धारित करना जिनके आधीन राज्यों को सहायता अनुदान (Grantsin-aid) उपलब्ध कराया जाए, और (ग) केन्द्र और राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों के बारे में किसी अन्य मामले की जाँच करना। वित्त आयोग की नियुक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसके माध्यम से केन्द्र और राज्यों के बीच बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार वित्तीय सम्बन्धों में परिवर्तन की गुंजाइश है।

संविधान के चालू होने के पश्चात् दस वित्त आयोग नियुक्त किए जा चुके हैं जिन्होंने अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की हैं।

नोट

इन वित्त आयोगों की सिफारिशों को तीन शीर्षकों के आधीन बाँटा जा सकता है : (i) आयकर तथा अन्य करों को विभाजन तथा वितरण, (ii) अनुदान, और (iii) संघ द्वारा राज्यों को दिए गए ऋण।

(i) **आयकर की बाँट एवं वितरण**–वैयक्तिक आयकर संघीय सरकार द्वारा लगाया और एकत्र किया जाता है। प्रथम वित्त आयोग नें कर से प्राप्त राशि का 55 प्रतिशत राज्यों में बाँटने की सिफारिश की। इस राशि का 80 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर और 20 प्रतिशत राज्य से एकत्र की गयी राशि के आधार पर बाँटने के लिए कहा गया। दूसरे वित्त आयोग ने राज्य के भाग को 55 प्रतिशत से बढ़ाकर 60 प्रतिशत कर दिया। तीसरे वित्त आयोग ने इस भाग को और बढ़ा कर 66 प्रतिशत करने की सिफारिश की। चौथे और पाँचवें वित्त आयोग ने आयकर से प्राप्ति का 75 प्रतिशत राज्यों को देने की सिफारिश की। छठे वित्त अयोग (1972) ने कुल आयकर के 80 प्रतिशत को राज्यों में बाँटने की सिफारिश की। सातवें और आठवें वित्त अयोग ने आयकर का 85 प्रतिशत राज्यों के लिए निश्चित किया। जाहिर है कि प्रत्येक उत्तरोत्तर वित्त आयोग ने राज्यों के भाग को बढ़ा दिया। किन्तु दसवें वित्त आयोग ने अपनी रिपोर्ट में 1995–2000 की अवधि के लिए आयकर से शुद्ध प्राप्ति के 77.5 प्रतिशत को राज्यों को हस्तांतरित करने की सिफारिश की है।

तालिका 3.11: आयकर के सम्बन्ध में वित्त आयोगों की सिफारिशें

वित्त आयोग	आयकर में राज्यों का भाग	राज्यों में आयकर का वितरण	
		जनसंख्या के आधार पर	एकत्र की गई कर आय के अधार पर
पहला	55	80	20
दूसरा	60	90	10
तीसरा	66	80	20
चौथा	75	80	20
पाँचवाँ	75	90	10
छठा	80	90	10
सातवें से नवें	85	90	10
दसवाँ	77.5	90	10

जहाँ तक आयकर प्राप्तियों को विभिन्न राज्यों में बाँटने का प्रश्न है, पहले कुछ वित्त आयोगों ने जनसंख्या ओर कर एकत्रीकरण (Tax collection) की दोहरी कसौटी का प्रयाग किया। इसके अनुसार इस राशि का 80 प्रतिशत जनसंख्या आधार पर और 20 प्रतिशत राज्य से एकत्र की गयी धनराशि के आधार पर बाँटा गया। इस कसौटी के आधार पर ऐसे राज्यों को जिनकी जनसंख्या अधिक थी ओर ऐसे समृद्ध राज्य जो आयकर राजस्व में अधिक योगदान देते थे, लाभ होना स्वाभाविक था। दूसरे वित्त आयोग ने राज्य की जनसंख्या को वितरण का अधिक महत्त्वपूर्ण आधार माना और आयकरर के विभाजनीय संग्रह (Divisible pool) का 90 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर बाँटने की सिफारिश की।

इस कसौटी का स्वाभाविक लाभ उत्तर प्रदेश ओर बिहार जैसे अधिक जनसंख्या वाले राज्यों को होना था जो भारत के सबसे गरीब राज्य भी थे। इस स्थिति को तीसरे और चौथे वित्त आयोग

ने पटल दिया। परिणामत: आयकर एकत्रीकरण के आधार को 20 प्रतिशत कर दिया जिससे महाराष्ट्र और पश्चिमी बंगाल जैसे राज्यों को लाभ हुआ क्योंकि इनका आयकर में योगदान अधिक था। कारण यह है कि इनमें मुम्बई औ कलकत्ता जैसे महानगर स्थित थे। पाँचवें वित्त आयोग के पश्चात् फिर आयकर वितरण के फार्मूले में राज्य की जनसंख्या को मुख्य कसौटी बनाया गया। पहली बार आठवें वित्त आयोग ने जिसके अध्यक्ष श्री वाई० बी० चव्हाण थे, राज्यों में आयकर के वितरण का एक नया फार्मूला लागू किया:

(i) आयकर से शुद्ध प्राप्ति का 10 प्रतिशत राज्यों में आयकर के योगदान के आधार पर वितरित किया जाता रहेगा;

(ii) शुद्ध प्राप्ति का 90 प्रतिशत राज्यों में निम्नलिखित कसौटियों के आधार पर बाँटा जाएगा: 25 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर, 25 प्रतिशत प्रति व्यक्ति आय के विलोम को जनसंख्या से गुना के आधार पर; और 50 प्रतिशत राज्य की प्रति व्यक्ति आय और सबसे अधिक प्रति व्यक्ति आय वाले राज्य (अर्थात् पंजाब) के बीच अन्तर को जनसंख्या से गुना के आधार पर।

इन तीन कारकों वाले फार्मूले को उद्देश्य राज्यों में भारी मात्रा में साम्या (Equity) लाना है। नवें वित्त आयोग ने भी मूल रूप में कुछ छोटे-मोटे संशोधनों के साथ इसी फार्मूले का अनुसरण किया। आयकर की प्राप्तियों की बाँट के लिए नवें वित्त आयोग ने अब यह फार्मूला स्वीकार किया है:

नवें वित्त आयोग ने इसमें एक और कसौटी जोड़ दी, अर्थात् राज्यों के पिछड़ेपन का संयुक्त सूचकांक (Composite index) जो दो तत्वों पर आधारित होगा: (क) राज्य में अनुसूचित एवं जनजातियों की जनसंख्या और (ख) 1981 की जनगणना के आधार पर विभिन्न राज्यों में कृषि-श्रमिकों की संख्या। नेवं वित्त आयोग के अनुसार संयुक्त सूचकांक बहुत हद तक राज्य में निर्धनता और पिछड़ेपन का सही संकेतक होगा।

दसवें वित्त अयोग ने आठवें और नवें वित्त आयोगों के फार्मूले का मूल्यांकन कर आयकर की विभाजनीय राशियों के लिए निम्नलिखित फॉमूले की सिफारिश की है:

(क) 20 प्रतिशत 1971 की जनगणना के आधार पर;

(ख) 60 प्रतिशत प्रति व्यक्ति आय के अन्तर में आधार पर;

(ग) 5 प्रतिशत समायोजित क्षेत्र (Adjusted area) के आधार पर;

(घ) 5 प्रतिशत आधार सरंचना (Infrastructure) के सूचकांक के आधार पर; और

(ड.) 10 प्रतिशत कर-प्रयास के आधार पर।

(ii) उत्पादन शुल्क (Excise Duty) की बाँट एवं वितरण–प्रथम वित्त आयोग ने तीन वस्तुओं अर्थात् तम्बाकू, दियासलाई और वनस्पति पदार्थों पर लगाए गए उत्पादन शुल्क का 40 प्रतिशत राज्यों में जनसंख्या के आधार पर बाँटने की सिफारिश की। दूसरे ओर तीसरे वित्त आयोग ने इस क्षेत्र में वस्तुओं की संख्या को और बढ़ा दिया। चौथे वित्त आयोग ने 45 वस्तुएँ शामिल की किन्तु राज्यों को इनसे प्राप्त कुल आय का 20 प्रतिशत देने की सिफारिश की जिसमें 80 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर और शेष राज्य के आर्थिक और सामाजिक पिछड़ेपन के आधार पर। पाँचवे वित्त आयोग ने भी लगभग वही सिफारिशें कीं जो चौथे वित्त आयोग ने की थीं। छठे वित्त आयोग ने भी उत्पादन-शुल्क में राज्यों का भाग जो 20 प्रतिशत ही रखा परन्तु

नोट

इसके वितरण का आधार बदल दिया–75 प्रतिशत तो जनसख्यां के आधार पर और 25 प्रतिशत राज्य के पिछड़ेपन के आधार पर। सातवें वित्त आयोग ने राज्य का भाग उत्पादन-शुल्क से प्राप्तिं का 40 प्रतिशत निश्चित करने की और इसके वितरण के लिए नया फार्मूला अपनाने की सिफारिश कि है। आठवें वित्त आयोग ने राज्यों के भाग को बढ़ाकर 45 प्रतिशत कर दिया और 40 प्रतिशत का वितरण नए फार्मूले के आधार पर और 5 प्रतिशतघाटे वाले राज्यों के लिए रखा गया। नवें वित्त आयोग ने 45 प्रतिशत की समग्र रूप में वितरित करने का प्रस्ताव किया, (इसकी बजाए कि इसे 40 प्रतिशत और 5 प्रतिशत के दो खण्डों में बाँटा जाए)।

किन्तु दसवें वित्त आयोग ने संघीय उत्पादन-शुल्कों की शुद्ध प्रात्तियों के भाग को बढ़ा कर 47.5 प्रतिशत कर दिया। उत्पादन-शुल्कों के राज्यीय-भाग में वृद्धि का उद्देश्य आयकर में इनके भाग में की गयी कमी की क्षतिपूवित करना है।

यहाँ इस बात पर बल देने की जरूरत है कि सभी वित्त आयोगों ने एक मूल उद्देश्य अपने सामने रखा, अर्थात् केन्द्रीय उत्पादन शुल्कों में राज्यों के भाग को बढ़ाना। पहले कुछ वित्त आयोगों ने अधिकाधिक उत्पादन-शुल्कों को विभाजनीय संग्रह (Divisible Pool) में लाने की कोशिश की परन्तु राज्यों के प्रतिशत भाग को कम कर दिया किन्तु सातवें, आठवें और नवें वित्त आयोग ने (क) सभी केन्द्रीय उत्पादन-शुल्कों (Central Excise Duties) को विभाजनयी संग्रह में शामिल कर दिया; और (ख) राज्यों के भाग को पहले 20 प्रतिशत से बढ़ाकर 40 प्रतिशत ओर अन्तत: इसे 47.5 प्रतिशत कर दिया। अत: समय के साथ-साथ वित्त आयोग राज्यों की वित्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केन्द्रीय उत्पादन-शुल्कों पर निर्भर करते रहे हैं।

तालिका 3.12: उत्पादन-शुल्क के बारे में वित्त आयोगों की सिफारिशें

वित्त आयोग	उत्पादन शुल्क में राज्य का भाग आधार पर	उत्पादन शुल्क का वितरण	
		जनसंख्या के आधार पर	राज्य के पिछड़ेपन जैसी अन्य शर्तों के
पहला	3 शुल्कों का 40%	40	60
दूसरा	8 शुल्कों का 25%	40	60
तीसरा	35 शुल्कों का 20%	40	60
चौथा	45 शुल्कों का 20%	80	20
पाँचवाँ	45 शुल्कों का 20%	80	20
छठा	45 शुल्कों का 20% सभी	75	25
सातवाँ	शुल्कों का 40% सभी शुल्कों	25	75
आठवां एव नवां	का 45%	25	75
दसवाँ	सभी शुल्कों का 47.5%	20	80

जहाँ तक केन्द्रीय उत्पादन-शुल्कों से प्राप्तियों के वितरण का सम्बन्ध है, वित्त आयोग ने आरम्भ में दो कसौटी

जहाँ तक केन्द्रीय उत्पादन-शुल्कों से प्राप्तियों के वितरण का सम्बन्ध है; वित्त आयोग ने आरम्भ में दो कसौटीयाँ अपनायीं, अर्थात् राज्य की जनसंख्या और राज्य का पिछड़ापन। इस प्रणाली ने स्पष्टत: अधिक जनसंख्या ओर राज्य का पिछड़ापन इस प्रणाली ने स्पष्टत: अधिक जनसंख्या वाले परनतु आर्थिक दृष्टि से पिछड़े राज्यों जैसे उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश को लाभ पहुँचाया। सातवें वित्त आयोग ने सबसे पहले केन्द्रीय उत्पादन-शुल्कों के वितरण के लिए

एक नया फार्मूला लागू किया जिसमें प्रत्येक अंग को 25 प्रतिशत महत्त्व दिया गया: (क) जनसंख्या, (ख) राज्य की प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, (ग) प्रत्येक राज्य में निर्धनों की जनसंख्या; और (घ) राज्याकें के बीच आय समता (Income equalisation) के फार्मूले को। आठवें वित्त आयोग ने एक ओर नया फार्मूला लागू किया जिसका आधार राज्यों में आय-कर के वितर के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला फार्मूला ही था।

नवें वित्त आयोग की नयी कसौटियों का ध्यानपूर्वक मूल्यांकन करने से पता चलता है कि केन्द्रीय उत्पादन शुल्कों की प्राप्तियों के अन्त: राज्यीय विभाजन के लिए पिछले वित्त आयोगों के फार्मूलें को और संशोधित किया गया है।

(i) राज्यों के बीच 25 प्रतिशत भाग 1971 की जनगणना के आधार पर वितरित किया जाना चाहिए।

(ii) 12.5 प्रतिशत का वितरण राज्यों के बीच आय समायोजित कुल जनसंख्या (Income Adjusted Total Population) के आधार पर होना चाहिए।

(iii) 12.5 प्रतिशत का वितरण पिछड़ेपन के सूचकांक के आधार पर किया जाना चाहिए।

(iv) 33.5 प्रतिशत के वितरण का आधार राज्य की प्रति व्यक्ति आय और सबसे अधिक आय वाले राज्य (अर्थात् पंजाब) की आय से अन्तर को सम्बन्धित राज्य की 1971 की ज़नसंख्या से गुणा करके होना चाहिए।

(v) 16.5 प्रतिशत का वितरण करों के अन्तरण के पश्चात्घाटे वाले राज्यों के बीच होना चाहिए।

दसवें वित्त आयोग ने आयकर के विभाजन के फार्मूले का ही प्रयोग किया जिसके आधार पर उत्पादन-शुल्को का शुद्ध प्राप्तियों के 40 प्रतिशत का वितरण किया जाएगा। शेष 7.5 प्रतिशत घाटे वाले राज्यों के बीच बाँटा जाएगा। बिक्री कर के एवज़ में अतिरिक्त उत्पादन शुल्क– सामान्य उत्पादन-शुल्कों के अतिरिक्त, केन्द्र बिक्री कर के एवज में सूती वस्त्रों, तम्बाकू और चीनी पर अतिरिक्त उत्पादन-शुल्क भी लगाता रहा है और इनसे समग्र प्राप्तियों का वितरण राज्यों में किया जा रहा है। चूँकि अतिरिक्त उत्पादन-शुल्क बिक्री कर के एवज में लगाये जाते हैं जो कि स्वयं उपभाग पर कर है, विभिन्न राज्यों के भाग इन वस्तुओं के उपभोग में उन राज्यों के भाग के अनुरूप ही हैं।

नवें वित्त आयोग ने यह संकेत दिया है कि इन वस्तुओं के राज्यवार उपभोग (Statewise consumption) के आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं ओर इसलिए अतिरिक्त उत्पादन-शुल्कों से प्राप्त निवल आय में अलग-अलग राज्यों का भाग निर्धारित करने के लिए राज्यीयघरेलू उत्पाद और जनसंख्या के प्रयोग की सिफारिश की है। दसवें वित्त आयोग ने इस आवंटन योजना को बदल दिया है।

रेल यात्री किराए पर कर के एवज में अनुदान :- संविधान के अनुच्छेद 269 में अन्य मदों के साथ रेल-यात्री किराए पर कर का जिक्र किया गया है। यह कर पहली बार 1957 में

नोट

लगाया गया और इससे प्राप्त आय अन्य राज्यों में वितरित कर दी गया। वास्तव में, इस कर का विलयन मूल-किराए (Basic fare) में कर दिया गया और राजस्व में परिणामत: होने वाली हानि की क्षतिपूर्ति करने के लिए राज्यों के लिए अनुदान की पति कायम की गयी। 1971 में रेल-यात्री किराए पर कर को पुन: जीवित किया गया परन्तु 1973 में इसे फिर समाप्त कर दिया कि वे इस कर के एवज में राज्यों को अनुदान देने के बारे में सुझाव दें। इस बारे में दो बातों पर निर्णय लेना है: (क) रेल-यात्री किराए के एवज में केन्द्र कितने अनुदान की मात्रा का राज्यों को अन्तरण करे अर्थात् क्या यह एक निश्चित राशि होनी चाहिए या यह कुल रेल-यात्री प्राप्तियों को प्रतिशत निश्चित किया जाना चाहिए? (ख) अनुदान के अन्त:राज्यीय विभाजन (Inter-state sharing) का आधार क्या होना चाहिए?

पहले प्रश्न पर केन्द्र और राज्यों के बीच हमेशा मतभेद रहा है। जब इस कर को समाप्त किया गया, तब यह गैर-उपनगरीय रेलवे यात्री प्राप्तियां का 10.7 प्रतिशत योगदान देता था। अत: राज्य हमेशा इस बात का आग्रह करते रहें हैं कि अनुदान की मात्रा रेलवे यात्री प्राप्तियों के 10.7 प्रतिशत पर निश्चित होनी चाहिए। परन्तु रेलवे विभाग सदा इस बात पर परिदृढ़ रहा है कि अनुदान एक निश्चित राशि के रूप में तय कर दिया जाना चाहिए। यह राशि मौलिक रूप में 23 करोड़ रुपये निश्चित की गयभ। आठवें वित्त आयोग ने इसे बढ़ाकर 95 करोड़ रुपये कर दिया जो कि उस समय पर रेलवे यात्री प्राप्तियों का 10.7 प्रतिशत था। अनुदान की निश्चित राशि तर्कय करने के लिए रेलवे ने निम्नलिखित तर्क दिए–

(क) रेलेवे के सामाजिक दायित्वों का आपात लगातार बढ़ता रहा है और रेलों को यात्री किराए में साहाय्य प्रदान करने और वस्तुओं पर निम्न भाड़े के रूप में 2,000 करोड़ रुपये की वार्षिक हानि हो रही हैं दूसरे शब्दों में रेले न केवल यात्री यातायात को सहाय्य प्रदान कर रही हैं बल्कि माल यातायात को भी।

(ख) रेलवे-प्राप्तियों को केन्द्र सरकार के कर-राज्सव के तुल्य नहीं मानना चाहिए जिसका एक भाग राज्यों पर निर्भर होता है। रेलवे को एक विकासशील अर्थव्यवस्था की माँग को पूरा करने के लिए एक आधुनिक और कुशल परिवहन अधारसंरचना (Transport infrastructure) की व्यवस्था लिए पर्याप्त साधन जुटाने होंगे। परिणामत: यदि रेल-यात्री किराए पर कर के एवज में अनुदान की राशि बढ़ायी जाती है, तो इससे उनके विाकस पर दुष्प्रभाव पड़ेगा।

नवें वित्त आयोग ने राज्यों की इस माँग को अस्वीकार कर दिया कि रेल-यात्री किराए पर कर के एवज में उन्हें गैर-उपनगरीय रेल-यात्री आय पर 10.7 प्रतिशत क्षतिपूर्ति अनुदान मिलना चाहिए। साथ ही आयोग ने रेलवे के तर्क के अनुसार अनुदान की मात्रा को 95 करोड़ रुपये तक ही समिति करने इन्कार कर दिया। अत: आयोग ने आठवीं योजना की अवधि (1990-95) के लिए प्रति वर्ष 150 करोड़ रुपये की एकमुश्त राशि निश्चित कर दी।

आठवें वित्त आयोग की भाँति दसवें वित्त आयोग ने रेलवे के तर्क को अस्वीकार कर दिया और बहुत से राज्यों में अपनी सहमति व्यक्त की अर्थात् अनुदान का भाग गैर-उपनगरीय रेलवे यात्रियों से प्राप्तियों का 10.7 प्रतिशत होना चाहिए। चूँकि 1992-93 के वर्ष के लिए उपलब्ध आँकड़ो में यह राशि 3,540 करोड़ रुपये थी।

3.22 प्रतिशत अर्थात् 380 करोड़ रुपये राज्यों को प्रतिवर्ष 1995-2000 की अवधि के दौरान देने की सिफारिश की।

नोट

सम्पदा-शुल्क

सम्पदा-शुल्क 1953 में लागू किया गया जिससे होने वाली समग्र आय राज्यों को हस्तान्तरित करने का निर्णय किया गया। द्वितीय वित्त आयोग ने यह सिफारिश की कि इसका 1 प्रतिशत संघीय क्षेत्रों को दिया जाए और शेष राज्यों में बाँट दिया जाए। चौथे, पाँचवें और छठे वित्त आयोग से संघीय क्षेत्रों (Union Territories) के भाग को बढ़ाकर 5 प्रतिशत करने की सिफारिश की। सातवें वित्त आयोग ने यह सिफारिश की कि कृषि सम्पदा को छोड़ अन्य प्रकार की सम्पदा से प्राप्त होने वाले सम्पदा शुल्का का वितरण प्रत्येक राज्य में स्थित सम्पदाओं के मुल मूल्य के अनुपात में होना चाहिए। आठवें वित्त आयोग ने सम्पदा शुल्क के वितरण में कोई तबदली नहीं की।

राज्यों को सहायता-अनुदान

भारत में संविधान की अनुसूची II में, राज्यों को कल्याण एवं विकास सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपे गए हैं परन्तु संविधान के अन्दर विभिन्न कर-संसाधनों की व्यवस्था इस सम्बन्ध में लोचहीन एवं पूर्णतया अपर्याप्त थी। इस समस्या के समाधान के लिए संविधान में राज्यों को केन्द्र से अनुदान प्राप्त करने की प्रक्रिया की व्यवस्था की गयी। सहायता-अनुदान का एक सामान्य रूप चालूघाटे को पूरा करने के लिए अनुदान हो सकता है या संसाधनों में अन्तःराज्यीय असमानताओं को दूर करना हो सकता है। सहायता-अनुदान किसी पिछड़े राज्य में शिक्षा को प्रोन्नत करने जैसे विशिष्ट उद्देश्य के लिए दिए जा सकते हैं या प्रशासन को मजबूत करने के लिए, आदि।

वित्त अयोग की सहायता-अनुदान सम्बन्धी सिफारिशें

वित्त आयोगों की सहायता-अनुदान सम्बन्धी सिफारिशों के सारांश से यह बात साफ हो जाती है कि छठे वित्त आयोग तक प्रत्येक वित्त आयोग ने राज्यों को सहायता-अनुदान की राशि बढ़ायी। इसके दो मुख्य कारण थे–

पहला, वित्त आयोगों ने यह महसूस किया कि राज्यों को कानून तथा व्यवस्था, कल्याण और विकास पर लगातार बढ़ते हुए सार्वजनिक व्यय को पूरा करने के लिए अपेक्षाकृत अधिक संसाधनों की आवश्यकता है।

दूसरा, राज्यों की बड़ी मात्रा में कर-संसाधनों के अन्तरण (Transfer of Tax Resoucrces) के बावजूद वे भारी राजस्व-घाटे करते रहे।

परिणामतः उत्तरोत्तर वित्त आयोगों ने केन्द्र से राज्यों को अधिक अनुदान देने का निर्णय किया। सातवें और आठवें वित्त आयोग ने इस प्रवृत्ति को पलट दिया और राज्यों को कर-राजस्व के अपेक्षाकृत अधिक अन्तरण की व्यवस्था की;

आयोग	सहायता-अनुदान
पहला	(i) 7 राज्यों को 1951-56 के दौरान अपने घाटे की पूति के लिए।
	(ii) 8 राज्यों को प्राथमिक शिक्षा की सुविधाएँ उन्नत करने के लिए।
	दूसरा राज्यों की विकासात्मक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अधिक सहायता-अनुदान।

नोट

तीसरा	(i) महाराष्ट्र को छोड़ सभी राज्यों को अपने राजस्व-व्यय के एक भाग की पूर्ति के लिए 550 करोड़ रुपये।
	(ii) संचार में उन्नति के लिए 45 करोड़ रुपये।
चौथा	1966-71 के दौरान राजस्व-घाटे की पूर्ति के लिए 610 करोड़ रुपये।
पाँचवाँ	1969-74 के दौरान राजस्व-घाटे की पूर्ति के लिए 638 करोड़ रुपये।
छठा	21 में से 14 राज्यों को 1974-79 की अवधि के दौरान अपने योजना-भिन्नघाटे को पूरा करने के लिए 2,510 करोड़ रुपये।
सातवाँ	1980-85 की अवधि के दौरान अपनेघाटे को पूरा करने के लिए और प्रशासन के स्तर को उन्नत करने के लिए 1,600 करोड़ रुपये।
आठवाँ	1985-90 की अवधि के दौरान राजस्व-घाटों को पूरा करने के लिए 1,556 करोड़ रुपयें का छोटा सा अनुदान; कुछ राज्यों को प्रशासन का स्तर उन्नत करने के लिए 915 करोड़ रुपये का अनुदान।
नवाँ	(i) 1990-95 की अवधि के लिए योनजा एवं योजना-भिन्न राजस्व केघाटे को पूरा करने के लिए 15,017 करोड़ रुपये का अनुदान।
	(ii) विपत्ति राहत कोष में केन्द्र के योगदान के रूप में 603 करोड़ रुपयें का विशेष वार्षिक अनुदान, जो पाँच वर्षों (1990-95) के लिए 3,015 करोड़ रुपये होगा।
	(iii) मध्य प्रदेश सरकार को भोपाल गैस त्रासदी के पीड़ितों के पुनर्वास एवं सहायता पर व्यय के लिए 122 करोड़ रुपये का अनुदान।
दसवाँ	(i) 1995-2000 के दौरान राजस्व खाते परघाटे की पूर्ति के लिए लगभग 7,580 करोड़ रुपये (ii) 1,360 करोड़ रुपये कुछ चुनी हुई मदों के लिए अर्थात् पुलिस, अग्निशमन सेवा, जेल, लड़कियों की शिक्षा की प्रोन्नति, उच्चतर प्राथमित स्कूलों में पीने के पानी की सुविधाएँ आदि के लिए।
	(iii) 1,250 करोड़ रुपये राज्यों की विशेष समस्याओं के समाधान के लिए
	(iv) 4,730 करोड़ रुपये विपत्ति राहत के लिए, और
	(v) 5,380 करोड़ रुपये स्थानयी निकायों अर्थात् पंचायतों और नगरपालिकाओं के लिए।

इस प्रकार सहायता अनुदान की कुल राशि 20,300 करोड़ रुपये तय की गयी।

(क) आयकर प्राप्तियों में राज्यों के भाग को 80 प्रतिशत से बढ़ाकर 85 प्रतिशत कर दिया;

(ख). केवल 45 उत्पादन-शुल्कों की अपेक्षा सभी उत्पादन शुल्क केन्द्रीय उत्पादन-शुल्कों के लिए कर-विभाजन के आधीन लाए गए;

(ग) उत्पादन-शुल्कों में राज्यों के भाग को 20 प्रतिशत से बढ़ाकर 40 प्रतिशत और अन्ततोगत्वा इसे 45 प्रतिशत तक ले जाना।

इन अधिनिर्णयों (Awards) के परिणामस्वरूप राज्यों को कर-राजस्व का इतना अधिक अन्तरण किया गया क उनमें से अधिक ने राजस्व-लेखे पर अतिरेक प्राप्त कर लिया। नवे वित्त आयोग ने आठवीं योजना की अवधि (1990-95) के लिए राज्यों के योजना-भिन्न तथा योजनाघाटे (Non-plan and plan deficit) का अनुमान लगाया और क्रमश: 15,017 करोड़ रुपये 7,580 करोड़ रुपयें

के कुल सहायता अनुदान का अधिनिर्णय दिया। इसने केन्द्र के योगदान के रूपमें विपत्ति राहत कोष और भोपाल गैस त्रासदी के लिए उदार अनुदान के रूप में 3,137 करोड़ रुपये का प्रावधान भी किया। दसवें वित्त आयोग ने भी राहत कोष के लिए उदार नीति अपनायी।

नोट

दसवें वित्त आयोग की लम्ब रूप अन्तरण की विकल्प योजना

दसवें वित्त आयोग ने अपने अधिनिर्णय में केन्द्र और राज्यों के बीच करों के आवंटन की लम्बरूप विकल्प योजना की सिफारिश की और राज्यों के बीच विभाजनीय संग्रह (Divisible pool) की समस्तर योजना (Horizontal Scheme) की सिफारिश की। दसवें वित्त आयोग ने वर्तमान वितरण योना की अपेक्षा लम्बरूप अनतरण (Vertical Devloution) को बेहत्तर समझा। इसके परिणामस्वरूप, संविधान में संशोधन किया गया। वर्तमान प्रणाली में केन्द्र राज्यों के साथ वैयक्तिक आयकर और केन्द्रीय उत्पाद शुल्कों (Central Excise duites) का सहभाजन करता था। दसवें वित्त आयोग का मत था कि कर प्रणाली में सुधारों की प्रगति सुविधाजनक बन जाएगी यदि कर-सहभाजन (Tax Sharing) व्यवस्था का विस्तार हो जाता हैं। इसके परिणामस्वरूप केन्द्र एवं राज्यों को प्राप्त होने वाले संशाधनों में निश्चितता बढ़ेगी।

दसवें वित्त आयोग ने उल्लेख किया कि 1985-95 के 10 वर्षों के दौरान आठवें और नौवें वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार राज्यों को वैक्तिक आय का 85 प्रतिशत और केन्द्रीय उत्पाद शुल्कों का 45 प्रतिशत प्राप्त होता था और यह अनुपात स्थिर रहा। इसका अभिप्राय यह कि केन्द्र सरकार ने आयकर में कोई दिलचस्पी नहीं ली क्योंकि इसका भाग केवल 15 प्रतिशत था। अत: अनुच्छेद 268 और 269 के आधीन कर-संसाधनों का अल्प-विदोहन ही हुआ। दसवें वित्त आयोग ने संकेत दिया कि निगम कर (Corporations tax) अधिक लोचशील है और राज्यों ने हमेशा वित्त आयोगों से यह मांग की है कि निगम कर को विभाजनीय संग्रह (Divisible pool) के आधीन लाना चाहिए। वित्त आयोग भी इस कारण चिन्तित थे और इस कारण उन्होंने आयकर में राज्य के भाग को 55 प्रतिशत से बढ़ा कर 85 प्रतिशत कर दिया और उत्पाद शुल्कों में राज्यों के भाग को 40 प्रतिशत कर दिया। आठवें वित्त आयोग की राय में निगर कर ने उच्च लोचशीलता दिखायी है और यह उचित है कि राज्यों को इसका भाग दिया जाए। सरकारिया आयोग ने संविधान में संशोधन का पक्ष लिया ताकि निगम कर को विभाजनीय संग्रह के आधीन लाया जाए।

अन्तत: कर सुधारों पर राजा चैलिय्या समिति ने कर-विभाजन के सम्बन्ध में संविधान के प्रावधानों की पुन: समीक्षा करने की वकालत की। समिति की राय के अनुसार "केन्द्र में राजकोषीय समायोजन (Fiscal adjustment) कार्य राज्य के साथ कर-विभाजन के फार्मूले के कारण कठिन हो जाता है....... वर्तमान स्थिति में, राज्यों की अनुमति और सहयोग से संविधान के इस प्रावधान में संशोधन कर इसे केन्द्र के कुल कर-राजस्व का 25 प्रतिशत किया जा सकता है। अत: इससे केन्द्र

एव राज्यों को निश्चितता प्राप्त हा जाएगी और केन्द्र और राज्यों के बजटों में कितना राजस्व प्राप्त होगा, यह निश्चित हो जाएगा। अत: केन्द्र को अपने कर-ढांचे को विकृत नहीं करना पड़ेगा ताकि गै-विभाजनयी करों को ही बढ़ाना पड़े। राजा चैलिय्या समिति की इस सिफारिश को स्वीकार करते हुए केन्द्र सरकार ने दसवें वित्त आयोग से प्रार्थना की कि वह कर-सहभाजन के ढांचे में वांछनीय परिवर्तन का सुझाव दे ताकि केन्द्र के कुल कर-राजस्व को विभाजनीय बनाया जा सके। यह प्रतिशत 22 से 23 प्रतिशत के इर्दगिर्द हो सकता है और यह आगामी 20 वर्षों के लिए स्थिर रहना चाहिए। यदि इस सुझाव को मान लिया जाता है, तो भारतीय संविधान में उचित संशोधन किया जा

नोट

सकता है। दसवें वित्त आयोग ने इस सभी बातों पर विचार किया और राज्य के भाग का परिकलन प्रत्येक कर के बारे में किया: (1) आयकर, (2) केन्द्रीय उत्पाद शुल्क; (3) केन्द्रीय ब्रिक्री कर के बदले लगाए गए अतिरिक्त उत्पाद शुल्क और (4) सवारी किराए के बदले दिए गए अनुदान। इन सब विभाजनीय करों के कुल केन्द्रीय राजस्व के प्रतिशत के रूप में 1979-80 से 1994-95 के लिए आंका। औसत इस प्रकार थी :

सातवां वित्त आयोग (1980-85) 27.28 प्रतिशत आठवों वित्त आयोग (1985-90) 25-24 प्रतिशत नौवां वित्त आयोग (1990-95) 27.26 प्रतिशत दसवें वित्त आयोग ने इस आधार पर सिफारिश की कि

(क) केन्द्रीय करों से कुल राजस्व प्राप्ति का भाग 26 प्रतिशत होना चाहिए, और

(ख) अतिरिक्त उत्पाद शुल्क को बुनियादी उत्पाद शुल्क के साथ जोड़ कर, केन्द्र की कुल कर-प्राप्तियों का 3 प्रतिशत राज्यों को सौंप देना चाहिए।

इस प्रकार दसवें वित्त आयोग ने सिफारिश की कुल मिलाकर केन्द्र सरकार के कर-राजस्व का 29 प्रतिशत राज्यों को मिलना चाहिए। इस प्रावधान की भारतीय संविधान में उचित संशोधन द्वारा पुष्टि की जानी चाहिए और इसकी समीक्षा 15 वर्षों के पश्चात् की जानी चाहिए।

दसवें वित्त आयोग ने सिफारिश की कि अनुच्छेद 268 के तहत करों से प्राप्ति (अर्थात् ऐसे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए जाते हैं परन्तु राज्य इन का इकट्ठा करते हैं) विभाजनीय संग्रह के बाहर रखना चाहिए। परंन्तु अनुच्छेद 269 के तहत लगाए करों (ऐसे कर जो केन्द्र द्वारा लगातए जाते हैं परनतु जिन से प्राप्त राजस्व पूर्णतया राज्यों को प्राप्त होता है) विभाजनीय संग्रह में शामिल करना चाहिए। इस व्यवस्था से केन्द्र को इन करों के आधार का विस्तार करने का प्रोत्साहन मिलेगा जिनके विदोहन के लिए लम्बे समय से कुछ नहीं किया गया।

इस नयी व्यवस्था से दसवें वित्त आयोग के अनुसार तीन लाभा होंगे :

(क) कुल कर राजस्व का भाग निश्चित हो जाने से, राज्यों को कर-राजस्व में वृद्धि का भाग अपने आप मिलता रहेगा; (ख) केन्द्र सरकार इस बात का ख्याल किए बिना कि क्या कोई कर राज्यों के साथ विभाजनीय है या नहीं; कर-सुधारों को आगे बढ़ा सकेगी; और (ग) यदि अनुच्छेद 268 और 269 के आधीन लगाए गए कर इस व्यवस्था का अंग बन जाते हैं तो उनके विदोहन की अधिक संभावना है।

संविधान में संशोधन

कर-अन्तरण की विकल्प योजना जो दसवें वित्त आयोग द्वारा प्रस्तावित की गयी, को केन्द्र सरकार ने स्वीकार कर लिया और इसके अनुसार संविधान के 80वें संशोधन का कानून पारित कर दिया गया। परिणामत:

(क) सभी कर एवं शुल्क जो केन्द्र द्वारा लगाए जाते हैं। अनुच्छेछ 268 और 269 के आधीन लगाए गए अधिभारों और उपकरों (Surcharges and cesses) को छोड़कर, केन्द्र और राज्यों में बांटे जाते हैं।

(ख) केवल वे राज्य जिनमें ये कर और शुल्क लगाए जा सकते है, इन करों एवे शुल्कों के भागीदार हो सकते हैं।

(ग) इन करों एवं शुल्कों की शुद्धि प्राप्ति का प्रतिशत ज़ो किसी वित्तीय वर्ष में राज्यों को सौंप दिया जाता है, भारत की समेकि निधि (Consolidated Fund of India) का अंग नहीं माना जाएगा।

ग्यारहवें वित्त आयोग की सिफारिशें

ग्यारहवों वित्त आयोग जुलाई 3, 1998 को गठित किया गया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इससे पहले के वित्त आयोगों के विचाराधीन विषय करों के वितरण और अनुदान सहायता को राज्यों के लिए उपलब्ध कराने तक सीमित थे। ग्यारहवें वित्त आयोग के विचाराधीन विषयों का विस्तार कर इनमें पंचायतें और नगरपालिकाएं जोड़ दी गयी। ग्यारहवें वित्त आयोग जिसके अध्यक्ष प्रोफेसर ए॰एम॰खुसरों, प्रसिद्ध अर्थशास्त्री बनाए गए, ने अपनी रिपोर्ट 7 जुलाई 2000 को प्रस्तुत की।

ग्यारहवें वित्त आयोग की मुख्य सिफारिशें

आयोग ने निम्नलिखित मुख्य सिफारिशें की :

1. अन्तरण (Transfer) की समस्त स्कीमों में केन्द्र की सकल राजस्व प्राप्तियों (Gross Revenue Receipts) का 37.5 प्रतिशत राज्यों को अंतरित करने की अधिकतम सीमा की सिफारिश की गयी।
2. इस आंकड़े में शामिल किए गए: (i) केन्द्र के विभाजनीय करों शुल्कों से शुद्ध प्राप्ति राज्यों का 28 प्रतिशत अंतरण; (ii) चीनी, तम्बाकू एवं टैकसटाइल्स पर बिक्री-कर (Sale Tax) के एविज में विभाजनीय करों एवं शुल्कों का 1.5 प्रतिशत; और (iii) ऐसे राज्य जो अंतरण के पश्चात भी राजस्व-घटे का सामना कर रहें हैं इन्हें अनुदान-सहायता (Gaants-in-aid), स्थानीय निकायों (Local bodies) के लिए अनुदान, विपछा-राहत के लिए अनुदान और योजना-राजस्व अनुदान (Plan Revenue Grants)।
3. केन्द्र के करों एवं शुल्कों के संग्रह में राज्यों का भाग निर्धारित करने के लिए निम्नलिखित मानदण्ड रखे गए:-

तालिका 3.13: राज्यों का सापेक्ष भाग निर्धारित करने के लिए मानदण्ड एवं भारांश

	दसवां वित्त आयोग		ग्यारहवां वित्त आयोग
1.	जनसंख्या	20%	10%
2.	किसी राज्य की प्रति व्यक्ति आय का अधिकतम		
3.	प्रति व्यक्ति आय वाले राज्य से अन्तर	60%	62.5%
4.	क्षेत्रफल	5%	7.5%
5.	आधार-संरचना का सूचकांक	5%	7.5%
6.	कर-प्रयास	10%	5.0%
	राजकोषीय अनुशासन	....	7.5%

ग्यारहवें वित्त आयोग ने विभाजनीय करों एवं शुल्कों के फार्मूले में निम्नलिखित संशोधन किए:-

(क) जनसंख्या का भारांश (Weight) 20 प्रतिशत से कम करके 10 प्रतिशत कर दिया गया और 1971 की जनसंख्या की अमेक्षा 1991 की जरसंख्या का इस उद्देश्य के लिए प्रयोग किया गयां

(ख) क्षेत्रफल एवं आधार-संरचना-सूचकांक (Index of infrastructure) का महत्व 5% से बढ़ा कर 7.5 प्रतिशत कर दिया गया।

नोट

(ग) जहाँ दसवें वित्त आयोग ने संसाधान गतिमान करने के प्रयास के सम्बन्ध में शुरूआत की, वहीं ग्यारहवे वित्त आयोग ने इसकी अपेक्षा दो मानदण्डों (Criteria) अर्थात् कर-प्रयास (Tax effort) और राजकोषीय अनुशासन (Fiscal discipline) का प्रयोग किया। जब कि कर प्रयास के भारांश (Weight) को 10 पतिशत सेघटा कर 5 प्रतिशात कर दिया गया, वहाँ इसके साथ राजकोष अनुशासन का एक और मानदण्ड जोड़ दिया गया ताकि किसी राज्य का निष्पादन आंका जा सके और इसे 7.5 प्रतिशत भारांश दिया गया। इस प्रकार कर-प्रयास एवं राजकोषी अनुशासन बेहतर राकोषीय संतुलन प्राप्त करने का संयुक्त मानदण्ड बनाया गया और इसका ग्यारहवें वित्त आयोग द्वारा 1 2.5 प्रतिशत भारांश निर्धारित किया गया।

राजकोषीय अनुशासन की परिभाषा किसी राज्य की अपनी राजस्व-प्राप्तियों का उसके कुल व्यय के अनुपात और इसी प्रकार से सभी राज्यों के अनुपात की तुलना में उन्नति को इसके माप का मानदण्ड माना गया। अत: ग्यारहवां वित्त आयोग किसी राज्य के राजकोषीय स्वास्थ्य को मापने के लिए न केवल कर-प्रयास में वृद्धि को मानदंण्ड मानता है जिसके परिणामस्वरूप अधिक राजस्व प्राप्त होता है, बल्कि इसे राजस्व-व्यय में कमी लाने के प्रयास के साथ जोड़ना चाहता है। इन दोनों का सम्मिश्रण किसी राज्य के निष्पादन का बेहतर सूचकांक है। अत: ऐसे राज्य जो बेहत्तर राजकोषीय अनुशासन का परिचय देते हैं,घटिया निष्पादन दिखाने वाले राज्यों की अपेक्षा अधिक साधन प्राप्त कर सकेंगे।

इन सभी कारणतत्वों को दृष्टि में रखते हुए, 5 वर्षों (2000-01से 2004-05) की अवधि के लिए करों एवं शुल्कों के विभाजनीय संग्रह (Divisible pool) में भिन्न-भिन्न राज्यों का भाग इस प्रकार है:-

तालिका से स्पष्ट होता है कि चार राज्यों अर्थात् उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रवेश और पश्चिम बंगाल का सभी विभाजनीय करों एवं शुल्कों मे भाग 51.3 प्रतिशत था। यह उल्लखे करना उचित होगा कि इन राज्यों में भारत की कुल जनसंख्या का 43 प्रतिशत निवास करता है। जाहिर है कि राज्यों की प्रति व्यक्ति आय नीची होने के परिणामस्वरूप इनके विभाजनीय संग्रह के भाग में वृद्धि हुई है।

4. आज जम्मू तथा कश्मीर राज्य में वयय-कर और सेवा-कर (Service Tax) नहीं लगाए जाते और इस करण इन करों में से इसे कोई हिस्सा नहीं दिया गया। इन करों से प्राप्त सकल राज्स्व को अन्य सभी राज्यों में उनके सापेक्ष भाग में संशोधन कर बांट दिया गया है।

5.4,973 करोड़ रूपए की राशि गैर-विकासात्मक सामाजिक क्षेत्रों (Non-developmental social sectores) में स्टैंडर्ड के उन्नयन (Upgradation os standard) और सन् 2000-05 के दौरान विशेष-समस्या अनुदान (Special Problem grnat) देने के सिंफरिश की गयी हैं।

6. वित्त वर्ष सन् 2000-01 से आरम्भ कर पंचायतों के लिए प्रत्येक वर्ष 1,600 करोड़ रूपए और नागरपालिकाओं के लिए प्रत्यके वर्ष 400 करोड़ रूपए की राशि पाँच वर्षो (2000-0225) के लिए देनी तय की गयी है ।

इस अनुदान में पंचायतों एवं नगरपालिकाओं के लिए विभिन्न राज्यों के सापेक्ष भाग निर्धारित करने के लिए मानदण्डों एवं उनके भाराश (Weight) दस प्रकार है: (i) ग्रामीण/नगरीय जनसंख्या का राज्य में अनुपात (40 प्रतिशत), (ii) विकेन्द्रीयकरण-सूचकांक (Index of decentralisaton) (20 प्रतिशत) (iii) अधिकतम प्रति व्यक्ति आय से अन्तर (iv) स्थानीय निकायों का कर-प्रयास (10 प्रतिशत) और (v) भौगोलिक क्षेत्रफल (10 प्रतिशत)

7. ग्यारहवें वित्त आयोग ने 5 वर्षों (2000-05) की अवधि के लिए करों एवं अनुदानों के अन्तरण के लिए कुल 4,34,905 करोड़ रूपए की राशि देने की विफारिश की है। विभिन्न-मदों के आधीन प्राप्त होने वाली राशि इस प्रकार है:-

तालिका 3.14: राज्यों के कुल अन्तरण (2000-05)

	करोड़ रूपए	कुल का प्रतिशत
1. केन्द्रीय करों एवं शुल्कों में भाग	3,76,318	86.5
2. अनुदान-सहायता	58,587	13.5
(क) गैर-योजना राजस्व घाटा	35, 359	8.1
(ख) उन्नयन एवं विशेष समस्याएं	4,973	1.2
(ग) पंचायतें	8,000	1.8
(घ) नगरपालिकाएं	2,000	0.5
(ड़) राहत-व्यय	8,256	1.9
कुल (1+2)	**4,34,905**	**100.00**

ध्यान देने योग्य बात यह है कि कुल राशियों के अन्तरण में करों एवं शल्कों का भाग 86.5 प्रतिशत और अनुदानों का भाग 13.5 प्रतिशत है।

स्थानीय निकायों (Local bodies) के सहायता के लिए ग्राम में पंचायतों के स्तर पर और नगरों में नगरपलिका स्तर पर-ग्यारहवे वित्त आयोग ने 10,000 करोड़ रूपए की व्यवस्था की है। इसमें से पंचायतो को प्रतिवर्ष 1,600 करोड़ रूपए और नगरपालिकाओं को 400 करोड़ रूपए प्राप्त होंगें।

इसके अतिरिक्त, आपदों (Calamities) के दैरान राहत के लिए 8,256 करोड़ रूपए का प्रावधान किया गया है। ग्यारहवें वित्त आयोग के गठन के समय पर देश का राजकोषीय परिदृय पहले से काफी खराब था और इसको लगभग प्रत्येक महत्त्वपूर्ण राजकोषीय चल (key Fiscal variable) अत्यन्त असंतोषजनक आकार में पहुच चुका था औन नकारात्मे दिशा में बढ़ रहा था। देश के सभी राज्य, विशेष श्रेणी के राज्य एवं अन्य, भारी राजस्व-घटे और राजकोषीयघाटे में ग्रस्त हो चुके थे और इनमे उन्नति के कोई चिन्ह दिखयी नहीं देते थे। राजस्व की वृद्धि दर काफी मन्द गति पर पहुंच गई थी और व्यय की वृद्धि दर ने एक खतरनाक मोड़ ले लिया था। प्रत्येक क्षेत्र मे बढ़ते हुए गैर-योजना व्यय की प्रवृति विकासात्मक एवं पूँजी व्यय में गिरावट का कारण बन गई थी जिसके परिणामसवरूप आधारसंरचना (Infrastructure) का निर्माण जो अर्थव्यवस्था के विकास और पोषण के लिए अनिवार्य था, लगभग असंभव बन गया था। इसी करण वित्त आयोग ने स्थिति को सुधारने के लिए केवल अल्पकालीन सिफारिशें ही नहीं की बल्कि इस गर्त से अर्थव्यवस्था को निकालने के निकालने के लिए दीर्घकालीन रणनीति के रूप में भी सुझाव दिए

आपदा राहत निधि

ग्यारहवें वित्त आयोग ने यह विफारिश की है कि राज्यों में कार्य कर रही वर्तमान आपदा रहात निधि 2000-05 के दौरान अपने 11,008 करोड़ रुपये के कुल आकार से साथ बनी रहनी चहिए। इसमें केन्द्र रुपये के कुल आकार के साथ बनी रहनी चहिए। इसमें केनद्र कर भाग 8,256 करोड़ रुपये और राज्यों का भाग 2,752 करोड़ रुपये (75%25 के अनुपात में) शामिल है। आयोग ने

नोट

वर्तमान राष्ट्रीय आपदा राहत निधि (Natonal Fund for Calamity Relief) को समाप्त करने की सिफारिश की है। केन्द्र द्वारा राज्यों को कोई भी आपदा राहत सहायता उपलब्ध कराने के लिए एक निश्चित समय के लिए केन्द्रीय कारों पर अधिभार (Surcharge) लगा कर वित्त जुटाना होगा। इस अधिभार से प्राप्त राशि को एक पृथक निधि, जिसे राष्ट्रीय आपदा आकस्मिा निधि (national Countigency Fund) कहा जाएगा, में रखना होगा। निधि भारत सरकार के सार्वजतिक खाते में कायम की जाना चाहिए।

बजटघाटे को कम करने के लिए ग्यारहवें वित्त आयोग के सुझाव

इस सम्बन्ध में आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिए:-

1. बजटघाटे की समस्या के स्थायी समाधान के लिए बजटीय पद्धति एवं बजटीय नियंत्रण (Budgetary Control) की आकर ध्यान देना होगा नव गठित व्यय-आयोग (Expenditure Commission) को बजटीय व्यवहार और नियंत्रणों के प्रणाली की समीक्षा कर इस दिशा में सुधार लाने के लिए सिफारिशें करनी हैं।
2. चूंकि सेवाए अर्थव्यस्था का तेजी से बढ़ता हुआ क्षेत्र है और सकल देशीय उत्पाद (Gross Demestic Product) मे 50 प्रतिशत से अधिक योगदान करती हैं, उन्हें अप्रत्यक्ष करों से प्राप्त आय को बढ़ाने के लिए अधिकाधि क रूप में कर जाल (Tex net) में लाना चाहिए।
3. राज्यों एवं स्थानीय निकायों के कर-आधार (Taxbase) का विस्तार करना चाहिए और इसके लिए भू-आध ारित करों (Land based taxes) का बेहतर विदोहन करना होगा। सम्पति करों एवं अन्य करों का बेहतर प्रशासन करना होगा। सम्पति करों एवं अंन्य करों का बेहतर प्रशासन करना होगा, सम्पति करों एवं अन्य करों का बेहतर प्रशासन करना होगा।
4. व्यवसाय कर (Profession tax) की अधिकतम कसीमा को संशोधित कर लोक सभा को सशक्त बनाने के लिए संविधान में संशोधन करना चाहिए।
5. निर्धारित एवं ने उगाहे गए करो की बहुत भानी राशियां केन्द्र एवं राज्यों-दोनो के खातों में बकाया हैं। इन बकाया राशियों को उगाहने के लिए प्रभावी कदम उठाने होगे।
6. प्रयोक्ता-प्रभार (User Charges) को आदान लागतों (Input costs) के सूचकांक सं जोड़ना चाहिए और आवधिक संशोधन (Periodic revision) की प्रक्रिया को स्वचालित बना देनी चाहिए।
7. खनिजों पर रायल्टी में नियमित संशोधन होना चाहिए। रायल्टी दरों पर सिफारिशें करने का कार्य एक स्वतंत्र निकाय को सौंप देना चाहिए।
8. सरकारी व्यय की संरचना को प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्रों अर्थात् प्राथमिक शिक्षा, प्राथमिक स्वास्थ्य सुरक्षा, जल आपूर्ति, स्वच्छता और आधार-संरचना जैसे सड़कों एवं पुलों के पक्ष में परिवर्तित करना होगा। वेतन, पेंशन, ब्याज भुगतान, सब्सिडी पर होने वाले व्यय पर कड़ा नियंत्रण करना चाहिए।

3.23 सारांश

भारत जैसे विकासशील देश के लिए औद्योगीकरण की आवश्यकता बहुत अधिक है और स्पष्ट भी। यह द्रुतगति से देश के आर्थिक विकास के लिए परमावश्यक है।

नोट

औद्योगीकरण देश की अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाने, उसके स्तर को ऊपर उठाने तथा उसमें सन्तुलन लाने में बहुत सहायक होगा। सच तो यह है कि इसके बिना यह कार्य भली प्रकार संभव ही नहीं है। भारत की अर्थव्यवस्था बहुत पिछड़ी हुई है और संतुलित अवस्था में है। अभी कृषि ही यहां के लोगों का मुख्य धन्धा है। इस प्रकार से इसी पर बहुत बड़ी सीमा तक देश की सारी अर्थव्यवस्था टिकी हुई है, और यह तो सभी जानते हैं कि कृषि कितना अनिश्चित व्यवसाय है, विशेषत: भारत में जहां खेती मुख्यत: वर्षा के सहारे की जाती है। आधार अनिश्चित होने से देश की आर्थिक स्थिति सदैव डांवाडोल रहती है।

उद्योग-धन्धों के विकास से कृषि-भूमि पर जनसंख्या का असह्य भार कम होने लगेगा। इस प्रकार तीव्र गति से कृषि-उन्नति संभव हो सकेगी। इसके अतिरिक्त, औद्योगिक विकास के फलस्वरूप कृषि को रासायनिक खाद, बिजली, उन्नत औजारों आदि की महत्त्वपूर्ण सुविधाएं भी भली प्रकार उपलब्ध होने लगेंगी।

औद्योगिक अर्थव्यवस्था के पिछड़ेपन एवं असन्तोषजनक स्थिति का मूल कारण यह था कि विदेशी शासन-काल में देश के औद्योगीकरण में न तो सरकार ने सक्रिय रूप से भाग लिया और न आवश्यक सुविधाओं की समुचित व्यवस्था द्वारा इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया। 1947 में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना एवं विकास के लिए 1951 में आयोजन अपनाने के बाद देश के औद्योगिक क्षेत्र में अनेक और विभिन्न प्रकार के महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इनके फलस्वरूप औद्योगिक अर्थव्यवस्था का रूप व आकार बहुत-कुछ बदल गया है। देश की प्रथम पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास को नहीं, बल्कि कृषि-विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता देने का निश्चय किया गया।

सार्वजनिक क्षेत्र देश के उद्देश्यों के कार्यान्वयन में काफी बड़ी सीमा तक सहायक रहा है। जहाँ तक औद्योगिक नीति के निर्धारित उद्देश्यों के अनुरूप ऐसे उद्यमों की स्थापना की बात है, जिनका आधारभूत या सामरिक महत्त्व है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि सार्वजनिक क्षेत्र सरकार के औद्योगिक नीति-विषयक संकल्प में शामिल उद्देश्यों की पूर्ति में अधिकांशत: सफल ठहरता है। यह अर्थव्यवस्था के द्रुत विकास में सहायक रहा है। वैसे तो सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करते समय सरकार ने मुख्यत: आर्थिक कारणों को ही आधार बनाया है, लेकिन सामाजिक हितों के संरक्षण का महत्त्व भी कुछ कम नहीं रहा है। कर्मचारियों और उपभोक्ताओं के हित-संरक्षण के लिए सरकार द्वारा अनेक रुग्ण कारखानों को अपने अधिकार में ले लिए जाने की बात हम पहले कह चुके हैं।

निस्सन्देह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास-विस्तार में सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। लेकिन यह भी सही है कि इस क्षेत्र के सामने अनेक कठिनाइयां और समस्याएं हैं जिनके कारण इसके विकास एवं सुचारु रूप से संचालन में भारी रुकावटें आ रही हैं।

सार्वजनिक उद्यमों का कार्य-निष्पादन सन्तोषजनक नहीं रहा है। इनमें से पहली बात है कुल निवेश में ऋण का बहुत अधिक अनुपात। इससे उद्यम पर निश्चित ब्याज चुकाए जाने के कारण स्थायी रूप से एक बड़ा बोझ लद जाता है। सार्वजनिक उद्यमों की लाभकारिता और कार्य-कुशलता के इस विवेचन से स्पष्ट है कि कम लाभकारिता का पूरा दोष इन उद्यमों पर ही नहीं थोपा जा सकता। समय मिलने पर इनमें से अनेक बुराइयां दूर हो सकती हैं। फिर भी कई प्रकार के उपाय अपनाकर इनकी लाभकारिता व कार्यकुशलता को बढ़ाया जा सकता है। सार्वजनिक उद्यमों की कार्य-कुशलता और लाभकारिता बढ़ाने के लिए प्रबन्धन, परियोजना, कच्चा माल, वित्त, औद्योगिक सम्बन्ध आदि विभिन्न मोर्चे पर एक साथ उपाय अपनाने होंगे।

नोट

भारतीय आयोजक, आधारसंरचना और सामान्य आर्थिक विकास के बीच सम्बन्ध के बारे में पूरी तरह जागरूक थे और इसी कारण पहली योजना के आरम्भ से ही इन सुविधाओं के विकास पर बल दिया गया। सामान्यत: योजनाओं में कुल योजना परिव्यय का 50 प्रतिशत से भी कुछ अधिक आधारसंरचना विकास पर खर्च किया गया।

मुद्रा बाजार के ऊपर दिए गए लक्षणों से यह विदित होता है कि भारतीय मुद्रा बाजार बहुत ही अविकसित है और इसकी तुलना लन्दन मुद्रा बाजार जैसे उन्नत मुद्रा बाजारों से नहीं की जा सकती। यह एक ऐसा मुद्रा बाजार है जिसे बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थान (Financial institution) अल्पकाल के लिए उधार देते या इससे उधार प्राप्त करते हैं।

रिजर्व बैंक का सदैव यह प्रयास रहा है कि मुद्रा की माँग एवं पूर्ति (सम्भरण) में सन्तुलन बना रहे, ताकि इसकी कमी से आर्थिक विकास में बाधा न आये और इसकी अधिकता, स्फीतिकारी दबावों को उत्पन्न न होने दे किन्तु वास्तविकता यह है कि पहली योजना को छोड़कर रिजर्व बैंक मुद्रा की माँग एवं पूर्ति में सन्तुलन बनाये रखने में असफल रहा है।

भारत में मौद्रिक अधिकारियों को मौद्रिक नीति का इस प्रकार अपनाने की आवश्यकता है कि ये नियन्त्रण न तो बहुत कम हों और न अधिक और न ही उनको लागू करने में देरी होनी चाहिए। अत: भविष्य में विभिन्न उपायों में समायोजन करके एक प्रभावशाली मौद्रिक नीति का निर्माण करना चाहिए।

शेयर बाजार पर नियंत्रण रखने के लिए पूंजी निर्गमण (नियंत्रण) अधिनियम, 1947 जिसके अधीन कम्पनियों के द्वारा पूंजी निर्गमण को नियमित किया जाता था तथा प्रतिभूति अनुबन्ध (नियमन) अधिनियम, 1956 जिसके अधीन शेयर बाजारों को मान्यता प्रदान की जाती है, साथ ही इनके संचालन को नियमित किया जाता है। भारत सरकार ने सेबी की स्थापना 12 अप्रैल 1988 को किया। इसका प्रमुख उद्देश्य स्टॉक निवेशकों को संरक्षण प्रदान करना तथा कानूनों का संग्रह करना।

सेबी के नौ सदस्यीय बोर्ड में चेयरमैन, तीन पूर्णकालिक सदस्य और दो स्वतंत्र निवेशकों के अलावा तीन नामित सदस्य होते हैं। ये तीन सदस्य रिजर्व बैंक, वित्त मंत्रालय और कंपनी मामलों के मंत्रालय से आते हैं। सेबी के तत्कालीन चेयरमैन सी.बी. भावे की सेवानिवृत्ति के बाद फरवरी में इस पद के लिए यू.के. सिन्हा की नियुक्ति की गई थी।

शेयर बाजार पर नियंत्रण रखने के लिए पूंजी निर्गमण (नियंत्रण) अधिनियम, 1947 जिसके अधीन कम्पनियों के द्वारा पूंजी निर्गमण को नियमित किया जाता था तथा प्रतिभूति अनुबन्ध (नियमन) अधिनियम, 1956 जिसके अधीन शेयर बाजारों को मान्यता प्रदान की जाती है, साथ ही इनके संचालन को नियमित किया जाता है। भारत सरकार ने सेबी की स्थापना 12 अप्रैल 1988 को किया। इसका प्रमुख उद्देश्य स्टॉक निवेशकों को संरक्षण प्रदान करना तथा कानूनों का संग्रह करना।

सेबी के नौ सदस्यीय बोर्ड में चेयरमैन, तीन पूर्णकालिक सदस्य और दो स्वतंत्र निवेशकों के अलावा तीन नामित सदस्य होते हैं। ये तीन सदस्य रिजर्व बैंक, वित्त मंत्रालय और कंपनी मामलों के मंत्रालय से आते हैं। सेबी के तत्कालीन चेयरमैन सी.बी. भावे की सेवानिवृत्ति के बाद फरवरी में इस पद के लिए यू.के. सिन्हा की नियुक्ति की गई थी।

भारत सरकार ने भारतीय विदेशी व्यापार के वस्तु-वर्गीकरण को 1987-88 से संशोधित कर दिया है, 1987-88 के बाद के आंकड़े इससे पहले के काल से तुलनीय नहीं हैं। हमने 1970-71 और 1980-81 के आंकड़ों को पुनवर्गीकृत करके कुछ हद तक तुलनीय बनाने का प्रयास किया है।

नोट

अम्बारी आयात के तीन अंग हैं–(i) पेट्रोलियम रूक्ष एवं उत्पाद, (ii) अम्बारी उपभोग वस्तुएँ जिनमें अनाज और दालें, खाद्य–तेल और चीनी शामिल किए जाते हैं और (iii) अन्य अम्बारी मदों में उर्वरक, अलौह धातुएँ, कागज एवं गत्ता, रबड़, गुद्दा एवं रद्दी कागज, खनिज अयस्क लौह तथा इस्पात शामिल की जाती हैं। भारत के निर्यात का ढाँचा एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था का प्रारूप है। भारत पारस्परिक रूप में कृषि सम्बन्धी कच्चे माल और इन पर आधारित निर्मित वस्तुओं का निर्यातक रहा है।

भारत का संविधान 1950 में लागू हुआ। इसका ढाँचा काफी हद तक भारत सरकार अधि नियम 1935 से मिलता–जुलता है। संविधान में सभी सरकारी कार्यक्षेत्रों और वित्तीय साधनों को तीन भागों में बाँटा गया है, जिनमें से एक भाग केन्द्र के लिए एक राज्य सरकारों के लिए, तथा एक भाग दोनों के लिए साँझा हैं। इसमें विभिन्न प्रकार से कर-विभाजन तथा अनुदानों का प्रबन्धन है।

वित्त आयोग की संस्था भारत के संविधान की मुख्य विशेषताओं में से एक है। अनुच्छेद 280 का यह कहना है कि संविधान के लागू होने के दो वर्षों के भीतर राष्ट्रपति द्वारा प्रथम वित्त आयोग की नियुक्ति की जाए तथा इसके पश्चात हर पाँचवें वर्ष अथवा आवश्यकता पड़ने पर, इससे पहले, नए आयोग की नियुक्ति की जाए। राष्ट्रपति द्वारा वित्त आयोग को एक सुनिश्चित वित्त व्यवस्था के लिए निर्दिष्ट मामलों और समस्याओं का अध्ययन करने तथा सिफारिशें करने को कहा जा सकता है।

संविधान के कुछ ऐसे कर संघीय सूची (Union List) में शामिल किए गए हैं जो आंशिक या पूर्ण रूप से राज्यों को बाँट दिए जाते हैं। इस वर्ग में तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए जाते हैं परन्तु जो राज्यों द्वारा एकत्र एवं प्रयुक्त किए जाते हैं।

संविधान में आधीन राष्ट्रपति को वित्त आयोग नियुक्त करना पड़ता है। आयोग को इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति को निम्नलिखित विषयों में सिफारिशें करनी होती हैं : (क) केन्द्र और राज्यों के बीच करों से राजस्व की बाँट करना और फिर विभिन्न राज्यों में राजस्व बाँटना, (ख) वे सिद्धान्त निर्धारित करना जिनके आधीन राज्यों को सहायता अनुदान (Grantsin-aid) उपलब्ध कराया जाए, और (ग) केन्द्र और राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों के बारे में किसी अन्य मामले की जाँच करना।

3.24 शब्दकोश

- **डांवाडोल** : अस्थिर स्थिति
- **निर्बाध** : बंधन मुक्त।
- **रूग्ण** : बिमार, दूषित।
- **औद्योगेतर** : उद्योग से हटकर, उद्योग के अतिरिक्त;
- **आनुषंगिक** : आपसे आपघटित होने वाला, सहवर्ती।
- **प्रत्याश** : आश, उम्मीद।
- **परिपाक** : पकाया जाना, समाप्त होने की अवधि।
- **निधियाँ** : फंड
- **अग्रिम** : एडवांस
- **फंड** : सुरक्षित धनराशि कोश।
- **बोल्ट** : छलांग, फलांग।

नोट

- **फंड** : सुरक्षित धनराशि कोश।
- **बोल्ट** : छलांग, फलांग।
- **प्रतिसार** : उल्टी दिशा में जाने वाले
- **प्रारक्षण** : कार्य, बात आदि को निश्चित रूप से पहले ही अलग करना रिज़र्वेशन
- **रायल्टी** : स्वत्व शुल्क।
- **विपणन** : विक्रय व्यापार।
- **अन्तरण** : व्यवधान डालना, हस्तान्तरण।
- **समेकित** : एकीकत
- **अदराज** : बही में लिखा जाना, प्रविष्टि
- **स्वापक** : नींद लाने वाला
- **समेकित** : समेकन, एकत्र करना
- **सहभाजन** : विभाजित होने वाले

3.25 अभ्यास-प्रश्न

1. क्या भारत में औद्योगिकरण की आवश्यकता है? विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. भारत में परम्परागत उद्योगों के पतन का कारण बताइए।
3. पूर्व सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र किस प्रकार का था?
4. उत्तर-सुधार काल के बाद की औद्योगिक क्षेत्र की विवेचना कीजिए।
5. आयोजन अपनाने के बाद देश के औद्योगिक क्षेत्र में क्या परिवर्तन हुए?
6. औद्योगिक विकास की मुख्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।
7. औद्योगिक विकास का मूल्यांकन कीजिए।
8. भारत में सार्वजनिक क्षेत्र की समस्या तथा मुद्दे पर एक विस्तृत लेख लिखिए।
9. सार्वजनिक क्षेत्र के संबंध में सरकार की वर्तमान नीति का उल्लेख कीजिए।
10. आधार संरचना और आर्थिक विकास के संबंधों की व्याख्या कीजिए।
11. ऊर्जा पर एक विस्तृत निबंध लिखिए।
12. क्या विद्युत शक्ति आर्थिक विकास का अनिवार्य अंग है?
13. भारत के आर्थिक विकास में परिवहन प्रणाली का क्या योगदान है?
14. भारतीय रेल विका की विस्तृत व्याख्या कीज़िए।
15. भारत में संचार प्रणाली किस प्रकार अर्थव्यवस्था को त्वरित रती है।
16. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–
    (i) रेलवे वित्त
    (ii) रेल-सड़क समन्वय
    (iii) भारतीय जहाजरानी
    (iv) नागरिक विमान परिवहन

नोट

17. भारतीय वित्तीय प्रणाली पर प्रकाश डालिए।
18. मुद्रा बाजार किसे कहते हैं? भारतीय मुद्रा बाजार के दोष बताइए।
19. क्या भारतीय मुद्रा बाजार एक अल्पविकसित मुद्रा बाजार है? समझाइए।
20. भारतीय मौद्रिक नीति का विवेचन कीजिए।
21. रिजर्व बैंक साख नियंत्रण में क्यों असफल रहा है?
22. भारत में पाये जाने वाले पूँजी बाजार का विस्तृत विवेचन कीजिए।
23. भारतीय प्रतिभूति विनिमय बोर्ड (सेबी) की कार्यविधियों की व्याख्या कीजिए।
24. पूँजी बाजार एवं सेबी में क्या संबंध है?
25. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–
    (i) प्रेफरेन्स और इक्विटी शेयर
    (ii) स्टॉक एक्सचेंज एवं स्टॉक लिस्ट
    (iii) शेयरों का डीमैटीरियलाईजेशन एवं रीमैटीरियलाईजेशन
    (iv) शेयर बाजार सूचकांक
26. भारत में पाये जाने वाले पूँजी बाजार का विस्तृत विवेचन कीजिए।
27. भारतीय प्रतिभूति विनिमय बोर्ड (सेबी) की कार्यविधियों की व्याख्या कीजिए।
28. पूँजी बाजार एवं सेबी में क्या संबंध है?
29. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–
    (i) प्रेफरेन्स और इक्विटी शेयर
    (ii) स्टॉक एक्सचेंज एवं स्टॉक लिस्ट
    (iii) शेयरों का डीमैटीरियलाईजेशन एवं रीमैटीरियलाईजेशन
    (iv) शेयर बाजार सूचकांक
30. भारतीय विदेशी व्यापार की संरचना पर प्रकाश डालिए।
31. भारत का विदेशी व्यापार किस दिशा की ओर हैं तथा इसकी दिशा में हुए परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।
32. स्वतंत्र भारत की विभिन्न योजनाओं की व्याख्या कीजिए।
33. भुगतान-शेष का अर्थ बताइए तथा भुगतान-शेष में हुए आर्थिक सुधारों का उल्लेख कीजिए।
34. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखित-
    (i) भुगतान शेष एवं नए आर्थिक सुधार।
    (ii) अदृश्य मदें और भुगतान शेष।
    (iii) भुगतान मदें और भुगतान शेष।
35. भारत के विशेष संदर्भ में अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास में विदेशी सहायता की भूमिका पर विचार कीजिए।
36. विदेशी सहायता के प्रयोग से देश को जिन समस्याओं और कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, उनका संक्षिप्त विवेचन कीजिए।

नोट

37. एफ.डी.आई. की विवेचना कीजिए।
38. बहुराष्ट्रीय निगम क्या हैं? इनके कार्य-कलापों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।
39. बहुराष्ट्रीय निगमों के गुण-दोषों का विवेचन कीजिए। इस संबंध में किस प्रकार की नीति उपयुक्त रहेगी।
40. भारत की संघीय वित्त व्यवस्था की व्याख्या कीजिए।
41. संविधान में संघीय वित्त व्यवसाा की विवेचना कीजिए।
42. वित्त आयोग की व्याख्या करते हुए उसके कार्यक्षेत्र समझाइए।
43. वित्त आयोग तथा कर विभाजन पर प्रकाश डालिए।
44. भारतीय संविधान में वित्तीय संबंध का विवेचन कीजिए।
45. केन्द्रीय राजस्व के वितरण एवं आवंटन की व्याख्या कीजिए।
46. दसवें वित्त आयोग के अन्तरण की विकल्प योजना पर प्रकाश डालिए।
47. ग्यारहवें वित्त आयोग की सिफारिशों का विवरण दीजिए।
48. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–

    (a) संघीय कर (b) राज्यीय कर (c) वित्त आयोग (d) संपदा शुल्क

3.26 संदर्भ ग्रंथ

- भारतीय अर्थव्यवस्था– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
- भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
- विकास नियोजन एवं नीतियाँ– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

नोट

अध्याय-4

विकास एवं वितरण

संरचना (Structure)

4.1 उद्देश्य
4.2 प्रस्तावना
4.3 गरीबी की अवधारणा
4.4 भारत में गरीबी हटाने के लिए सुझाव
4.5 गरीबी दुर करने के सरकारी प्रयास
4.6 विजन 2020 फॉर इण्डिया
4.7 बेरोजगारी की अवधारणाएँ
4.8 भारत में बेरोजगारी के कारण
4.9 भारत में बेरोजगारी दूर करने के उपाय
4.10 रोजगार हेतु सरकारी उपाय
4.11 सारांश
4.12 शब्दकोश
4.13 अभ्यास-प्रश्न
4.14 संदर्भ ग्रंथ

4.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी योग्य होंगे–

- गरीबी की अवधारण, कारण तथा गरीबी को हटाने के लिए क्या सुझाव दिए गए हैं इसकी व्याख्या करने में;
- सरकार ने ग़रीबी हटाने के लिए क्या सुझाव दिया है इसे समझने में;
- विजन 2020 फॉर इंडिया को जानने में;
- बेरोजगारी के कारण एवं अवधारणाओं को समझने में;
- भारत में बेरोजगारी दूर करने के उपायों की व्याख्या करने में;
- रोजगार के लिए किये जा रहे सरकारी उपायों का विश्लेषण करने में।

4.2 प्रस्तावना

नोट

किसी अल्पविकसित देश की समस्याओं की जांच करने के लिए उसकी अर्थव्यवस्था की सामान्य रूपरेखा को समझ लेना अच्छा है। यद्यपि विश्व के मानचित्र पर एक एक प्रतिनिधि अल्पविकसित देश की स्थिति का निश्चय करना कठिन है फिर भी उसकी कुछ विशिष्टताओं पर विचार किया जा सकता है।

अल्पविकसित देश गरीबी का मारा होता है। उसकी गरीबी प्रति व्यक्ति आप में झलकती है 2004 की World Development Report के अनुसार 2002 में विश्व की 40.2 प्रतिशत निम्न आय वर्ग की जनसंख्या की औसत ळछ। प्रति व्यक्ति 785 डालर या उससे कम थी। दूसरी ओर उच्च आय वर्ग में रह रही विश्व की 15.6 प्रतिशत जनसंख्या की औसत ळछ। प्रति व्यक्ति 736 से 9,075 डालर के बीच थी। ये आंकड़े विकासशील देशों में गरीबी की सीमा को दर्शाते हैं।

भारत में विभिन्न राज्यों की स्थिति बेरोजगारी की दृष्टि से अलग-अलग है। मेघालय में सबसे कम अर्थात केवल 0.41 प्रतिशत क्षमशक्ति बेरोजगार है। इसके विपरीत केरल में सबसे अधिक अर्थात 5.7 प्रतिशत श्रमशक्ति बेरोजगार है। दक्षिण के चार राज्यों केरल, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु में तथा पूर्व के तीन राज्यों उड़ीसा, प. बंगाल तथा बिहार में बेरोजगारी सबसे अधिक है। इसके विपरीत मेघालय, नागालैण्ड, हिमाचल, मणिपुर में बेरोजगारी बहुत कम है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, असम तथा राजस्थान में बेरोजगारी कम है। इसके पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र, जम्मू-कश्मीर तथा गुजरात में बेरोजगारी की दर सामान्य है। राज्यों में बेरोजगारी के सम्बंध में विभिन्नता पाये जानेके कई कारण हैं।

देश में बेरोजगारी का मोटा अनुमान रोजगार कार्यालयों में नौकरी के लिए दर्ज लोगों की संख्या के आधार पर लगाया जा सकता है।

4.3 गरीबी की अवधारणा

गरीबी या निर्धनता का अर्थ उस सामयिक क्रिया से है जिसमें समाज का एक भाग अपने जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर सकता। जब समाज का एक बहुत बड़ा अंग-न्यूनतम जीवन-स्तर से वंचित रहता है और केवल निर्वाह-स्तर (Subsistence Level) पर गुजारा करता है तो यह कहा जाता है कि समाज में व्यापक निर्धनता या गरीबी (Mass Poverty) विद्यमान है। निर्धनता या गरीबी शब्द का प्रयोग निम्नलिखित दो अर्थों में किया जाता है–

1. **सापेक्ष गरीबी** (Relative Poverty)–सापेक्ष गरीबी के सम्बन्ध में विभिन्न वर्गों या देशों के निर्वाह-स्तर की तुलना करके गरीबी का पता लगाया जा सकता है। जिस देश या वर्ग में लोगों का निर्वाह-स्तर नीचा होता है, वे उच्च निर्वाह-स्तर वाले लोगों की तुलना में गरीब माने जाते हैं। निर्वाह स्तर को आय या उपभोग-व्यय के रूप में मापा जाता है। इस दृष्टि से भारतीय बहुत गरीब ठहरते हैं। भारत में इस माप दण्ड को अपनाया जाना तर्कसंगत भी है क्योंकि यहाँ बहुत संख्या में लोगों को न्यूनतम आहार नहीं मिल पाता है।
2. **निरपेक्ष गरीबी** (Absolute Poverty)–निरपेक्ष निर्धनता से तात्पर्य उस न्यूनतम आय से है जिसकी एक परिवार के लिए आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यकता

होती है तथा जिसे वह परिवार जुटा पाने में असमर्थ होता है, उस परिवार को गरीबी की रेखा से नीचे जीवन बिता रहे कहा जाता है।

नोट

भारत मे गरीबी रेखा का अभिप्राय

योजना आयोग द्वारा गठित विशेषज्ञ दल 'Task Force of Minimum Needs and Effective Consumption Demand' के अनुसार, "ग्रामीण क्षेत्र में प्रति व्यक्ति 2ए400 कैलोरी प्रतिदिन तथा शहरी क्षेत्र मे प्रतिदिन तथा शहरी क्षेत्र में प्रति व्यक्ति 2,100 कैलोरी प्रतिदिन का पोषण प्राप्त न करने वाला व्यक्ति गरीबी रेखा के नीचे माना जाता है।"

केन्द्रीय ग्रामीण विकास मंत्रालय कीघोषणानुसार गरीबी रेखा अब विभिन्न राज्य में 13,900 रुपये से 16,990 रुपये वार्षिक तक होगी। पाँच सदस्यों वाला परिवार यदि अपने सम्बन्धित राज्य के लिए निर्धारित अलोच्य धनराशि से कम वार्षिक आय प्राप्त करता है, तब वह गरीबी रेखा के नीचे माना जायेगा। NSSO द्वारा 55वें उपभोक्ता दौर से प्राप्त आँकड़ों के आधार पर गरीबी रेखा का सीमा का निर्धारण किया गया है कि 30 दिवसीय रिकॉल के अनुसार आधार पर वर्ष 1999.2000 के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में 27.09% एवं शहरी क्षेत्रों में 23.62% तथा सम्पूर्ण देश के लिए 26.1% का गरीबी अनुपात प्रस्तुत किया गया है। 7 दिवसीय रिकॉल के अनुसार यह अनुमान क्रमश: 24.02%, 21.59% एवं 23.33% है। इसेघटाकर सन् 2002 तक 18% तक लाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

विशेषज्ञ दल का फार्मूला

निर्धनता रेखा के नीचे जीवन यापन करने वाले लोगों की पहचान का मुद्दा पिछले कुछ समय से विवादास्पद बना हुआ है। योजना आयोग राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (NSSO) के सर्वेक्षण के आधार पर ही निर्धनों की संख्या (निर्धनता रेखा से नीचे के लोगों की संख्या) का आंकलन करता रहा है तथा इसके आधार पर 1993.94 में देश में 18.96 प्रतिशत जनसंख्या निर्धनता रेखा के नीचे आकलित की गयी थी परन्तु प्रो. डी. टी. लकड़वाला की अध्यक्षता में गठित विशेषज्ञ दल ने योजना आयोग के इन आँकड़ों का अविश्वसनीय बताते हुए निर्धनों की पहचान के लिए वैकल्पिक फार्मूले का उपयोग किया जिसके तहत प्रत्येक राज्य में मूल्य स्तर के आधार पर अलग-अलग निर्धनता रेखा का निर्धारण किया गया। आर्थिक सर्वेक्षण 2000.2001 के आधार पर जो आँकड़े संग्रहीत किये गये हैं ये वर्ष 1993.94 से सम्बन्धित हैं। N.S.S.U. के सर्वेक्षण के आधार पर 1993.94 में 37.3% ग्रामीण क्षेत्र में गरीबी व 32ण्4: शहरी क्षेत्र में गरीबी है। सम्पूर्ण देश में 32 करोड़ व्यक्ति गरीबी रेखा से नीचे था। योजना आयोग के अनुसार पूर्वोत्तर के सात राज्यों में गरीबी अनुपात 30 से 40% मे मध्य है। भारत में गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाले का जीवन स्तर सुधारने के लिए विजन 2020 फॉर इण्डिया नाम से एक महत्वकांक्षी नीतिगत दस्तावेज केन्द्र ने तैयार किया है जिसका उद्देश्य 20 वर्ष में गरीबी को दूर करना है। इस सर्वेक्षण के अनुसार निरपेक्ष रूप से भारत में निर्धनों की संख्या 1999.2000 की अवधि में 26 करोड़ थी।

योजना आयोग ने लकड़वाला फार्मूले को 11 मार्च, 1997 को स्वीकार कर लिया और वर्ष 1993.94 में इस फार्मूले के आधार पर गरीबी रेखा के नीचे लोगों की संख्या 35.7 प्रतिशत आंकलित की गयी। जैसा कि अग्र सारणी में दर्शाया गया है–

नोट

सारणी 4.1: विशेषज्ञ दल द्वारा आंकलित गरीबी रेखा के नीचे देश की जनसंख्या का प्रतिशत

वर्ष	ग्रामीण क्षेत्र		शहरी क्षेत्र		सम्पूर्ण भारत	
	संख्या (मिलियन में)	निर्धनता अनुपात (%)	संख्या (मिलियन में)	निर्धनता अनुपात (%)	संख्या (मिलियन में)	निर्धनता अनुपात (%)
1973-74	261	56.4	60	49.0	321	54.9
1977-78	264	51.3	65	45.2	329	51.3
1983-84	252	44.7	71	40.8	323	44.7
1987-88	232	38.9	75	38.2	307	38.9
1993-94	244	36.00	76	32.40	320	35.97
1999-2000	193.2	27.09	67	23.62	260	26.10
	7 दिवसीय प्रत्याह्वान	24.02		21.59	—	23.33

राष्ट्रीय प्रतिदर्श (नमूना) सर्वेक्षण (National Sample Survey) द्वारा गरीबी का नवीनतम अनुमान राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, 2000 के आँकड़ों के आधार पर समग्र रूप से भारत मे वर्ष 1999.2000 में 26.1 प्रतिशत लोग निर्धनता रेखा से नीचे रह रहे थे। ग्रामीण क्षेत्रों के लिए यह अनुमात 27.1 प्रतिशत तथा शहरी क्षेत्रों के लिए 23.62 प्रतिशत था।

NSS द्वारा लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली (Targeted Public Distribution System) के अर्न्तगत निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों को रियायती मूल्य पर खाद्यान्न उपलब्ध कराने की स्कीम के तहत निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों का जो अनुमान लगाया गया, उनके अनुसार 17.5.2001 को भारत के ग्रामीण क्षेत्र में 41.23 प्रतिशत परिवार निर्धनता रेखा से नीचे रह रहे हैं निरपेक्ष रूप से देश के 5,38,47,442 परिवार निर्धनता रेखा से नीचे रहे हैं, यदि प्रति परिवार सदस्यों की संख्या 5.6 के बीच मान ली जाए तो 26.92 करोड़ से लेकर 32.31 करोड़ के बीच ग्रामीण जनसंख्या निर्धनता रेखा से नीचे रह रही है अर्थात् ऐसे लोगों के पास जीवित रहने के लिए आवश्यक 2,400 कैलोरी युक्त भोजन (प्रति व्यक्ति प्रतिदिन) खरीदने लायक भी आय नहीं हो पाती।

ग्रामीण गरीबी का क्षेत्रीय विवरण

सारणी 2 अंकों से ज्ञात होता है कि भारत में ग्रामीण क्षेत्र के 41.23%, परिवार निर्धनता रेखा से नीचे रह रहे हैं, निरपेक्ष रूप से निर्धन परिवारों की सर्वाधिक संख्या उत्तर प्रदेश में (75.41 लाख) तथा सबसे कम संख्या गोआ राज्य (23101) में है, केन्द्रशासित क्षेत्रों में सर्वाधिक निर्धन परिवार पाण्डिचेरी (63262) तथा सबसे कम दमन और दीव (396) में हैं, सापेक्ष प्रतिशत के रूप में निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले सर्वाधिक परिवार (78.39 प्रतिशत) अरुणाचल प्रदेश में तथा सबसे कम (17.00 प्रतिशत) गोआ मे है। आधे से अधिक निर्धन परिवार (56.53 प्रतिशत) देश के केवल पाँच राज्यों–उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, प.बंगाल तथा उड़ीसा में रह रहे हैं।

पूर्वोत्तर सीमा प्रान्त के सभी राज्यों में निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों का अनुपात 60 प्रतिशत से अधिक है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन राज्यों में आदिवासियों की संख्या का

आधिक्य है। इस प्रकार आदिवासी बाहुल्य अन्य राज्यों–मध्य प्रदेश, उड़ीसा, बिहार, प.बंगाल, आन्ध्र प्रदेश और राजस्थान में आदिवासियों का काफी बड़ी आबादी निर्धनता रेखा से नीचे रह रही है।

सारणी 4.2: भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले परिवार
(17.3.2001 की स्थिति)

	राज्य/केन्द्र शासित क्षेत्र	कुल परिवार	निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले परिवार	कुल परिवारों में निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों का प्रतिशत
1.	आन्ध्र प्रदेश	1,04,84,028	41,84,628	39.91
2.	अरुणाचल प्रदेश	1,02,852	86,627	79.39
3.	असम	36,07,241	21,64,416	60.00
4.	बिहार	1,89,33,813	93,99,281	49.64
5.	गोआ	1,35,816	23,101	17.00
6.	गुजरात	55,87,768	19,80,879	35.45
7.	हरियाणा	20,74,615	5,03,019	24.25
8.	हिमाचल प्रदेश	10,36,996	2,86,112	27.59
9.	जम्मू कश्मीर	10,47,251	6,06,545	57.92
10.	कर्नाटक	64,79,832	22,02,756	34.00
11.	केरल	NR	NR	NR
12.	मध्य प्रदेश	1,16,15,082	51,11,874	43.87
13.	महाराष्ट्र*	1,10,10,022	38,60,675	35.07
14.	मणिपुर	3,65,670	2,46,980	67.54
15.	मेघालय	2,82,362	1,56,646	55.48
16.	मिजोरम	1,10,570	74,154	67.07
17.	नागालैण्ड	1,46,615	88,541	60.69
18.	उड़ीसा	67,90,202	44,45,736	65.50
19.	पंजाब	23,30,725	6,50,209	29.90
20.	राजस्थान	67,68,541	20,97,560	30.99
21.	सिक्किम	NR	NR	NR

भारत में गरीबी के कारण

1. **ब्रिटिश शासन के अंदर शोषण** (Exploitation under British Rule)–ब्रिटिशों ने भारत को अपना उपनिवेश बनाकर इसके प्राकृतिक संसाधनों का शोषण किया। उनके शासन के दौरान, आधुनिक उद्योगों के विकास की ओर कोई प्रयास नहीं किया गया। छोटे पैमाने के उद्योगों को नष्ट कर दिया गया। परिणामस्वरूप भारतीय गरीब हो गए।

2. **प्राकृतिक संसाधनों का अल्प उपयोग** (Under Utilisation of Natural Resources)–अब तक हमने अपने प्राकृतिक संसाधनों का बेहतर इस्तेमाल नहीं किया है। हमारे देश के

संसाधनों का या तो अल्प प्रयोग हुआ है या फिर बिल्कुल ही इस्तेमाल नहीं किया गया है। बहुत अधिक मात्रा में जल, वन, ऊर्जा और खनिज संसाधनों को पूरी तरह इस्तेमाल नहीं किया गया है।

नोट

3. **भारतीय कृषि का पिछड़ापन** (Backwardness of Indian Agriculture)–भारत में कृषि में पिछड़ी हुई तकनीकी का इस्तेमाल किया जाता है यहाँ पर्याप्त साधनों जैसे–जल, उर्वरक; खाद, कीटनाशक और उन्नत बीजों आदि की कमी है। परिणामस्वरूप, प्रति हैक्टेयर और प्रति श्रमिक उत्पादकता बहुत कम है। जिससे किसानों की स्थिति हमेशा खराब रहती है।
4. **बेरोजगारी** (Unemployment)–गरीबी भी बेरोजगारों की बढ़ती हुई संख्या के साथ बढ़ती जा रही है। बेरोजगारी के कारण कार्यशील जनसंख्या पर निर्भर लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है। इससे प्रति व्यक्ति उपभोग व्ययघटता जा रहा है और अधिक संख्या में लोग गरीबी की रेखा के नीचे रह रहे हैं।
5. **पूँजी की कमी** (Capital Deficiency)–पूँजी की निम्न प्रति व्यक्ति उपलब्धता के कारण और निम्न पूँजी निर्माण के कारण देश में पूँजी की कमी हैं परिणामस्वरूप, कुल उत्पादन और प्रति श्रमिक उत्पादकता भारत में गिरी है।
6. **पिछड़ी तकनीकी** (Backward Technology)–भारत में गरीबी के लिए जिम्मेदार एक कारण तकनीकी का निम्न स्तर भी है। निर्माण, उद्योग और कृषि क्षेत्र में निम्न प्रौद्योगिकी होने के कारण प्रति श्रमिक उत्पादकता भी निम्न स्तर की है और जिससे अर्थव्यवस्था गरीबी की स्थिति में है।
7. **मुद्रा स्फीति** (Inflation)–देश में मुद्रा स्फीति ने भी गरीब लोगों की संख्या को बढ़ाया है। स्फीति वस्तु की कीमत को बढ़ा देती है। जब कीमतें बढ़ती हैं, मुद्रा की क्रय शक्ति कम हो जाती है और जिससे गरीब और मध्यम आय वर्ग के लोगों पर बुरा असर पड़ता है। मुद्रा के मूल्य में कमी होने से गरीब लोग कम मात्रा में वस्तुएँ खरीदते हैं जिससे उनकी दशा और खराब हो जाती है।
8. **सामाजिक कारक** (Social Factors)–हमारी सामाजिक कुप्रथायें, जन्म-मरण, विवाह की रूढ़िवादी परंपरायें, अनुत्पादक खर्चे, झूठी प्रतिष्ठा के लिये अनावश्यक ऋण आदि भी हमारी गरीबी के लिए जिम्मेदार हैं।
9. **जनसंख्या की उच्च वृद्धि दर** (High Growth Rate of Population)–अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर की तुलना में जनसंख्या की वृद्धि दर बहुत तेज रही है। जनसंख्या की तीव्र वृद्धि दर के कारण प्रति व्यक्ति आय और उपभोग व्यय बढ़ नहीं सका है। हमारी जनसंख्या विश्व की जनसंख्या की 15: है लेकिन राष्ट्रीय आय विश्व की राष्ट्रीय आय की केवल 2: ही है।
10. **आय और संपत्ति की असमानता** (Inequalities of Wealth and Income)– उत्पादन के साधनों और मौद्रिक आय के वितरण की असमानता के कारण भी भारत में गरीबी पाई जाती है। संपत्ति और उत्पादन के साधन कुछ ही हाथों में केंद्रित हैं। जिससे अधिकतर लोग गरीबी रेखा के नीचे रहते हैं।

11. **गरीबी का कुचक्र** (Vicious Circle of Poverty)– भारत गरीबी के कुचक्र में फँसा है और ये गरीबी का कारण और परिणाम दोनों ही हैं। गरीबी एक अभिषाप है, लेकिन इससे भी बड़ा अभिशाप यह है कि ये खुद ही अपने आप को पैदा करती है।
12. **आर्थक विकास का निम्न स्तर** (Low Level of Economic Development)– भारत में अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर और जनसंख्या वृद्धि दर को देखते हुए आर्थिक विकास की दर बहुत कम है। आर्थिक वृद्धि की उच्च दर ही गरीबी को दूर कर सकती है। दुर्भाग्यवश इसे अभी तक प्राप्त नहीं किया जा सका है।

4.4 भारत में गरीबी हटाने के लिए सुझाव

भारत में गरीबी को हटाने के निम्नलिखित उपाय हैं:

1. **आर्थिक वृद्धि को बढ़ाना** (Acceleration of Economic Growth)– गरीबी को हटाने के लिए पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व है अर्थव्यवस्था की आर्थिक वृद्धि दर को बढ़ाना। राष्ट्रीय आय को जनसंख्या वृद्धि से तेज दर से बढ़ना चाहिए।
2. **जनसंख्या पर नियंत्रण** (Control Over Population)– गरीबी को बड़े स्तर पर परिवार नियोजन को बढ़ावा देकर दूर किया जा सकता है। जनसंख्या प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाने में मदद करेगा। जनसंख्या वृद्धि और आर्थिक संसाधनों के बीच के अंतर को कम करने में सहायक होगा।
3. **अधिक रोजगार के अवसर** (More Employment Opportunities)– ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में रोजगार के अवसर पैदा करके भारत में गरीबी को दूर किया जा सकता है। यह काम बड़ो पैमाने पर शुरू किया जाना चाहिए। कुटीर और लघु उद्योगों को भी प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।
4. **भूमि सुधार** (Land Reform)– गरीबी दूर करने के लिए, भूमि हदबंदी (Ceiling) द्वारा प्राप्त अतिरिक्त भूमि को छोटे अथवा भूमिहीन व्यक्तियों मे वितरित कर देना चाहिए। भूमि के छोटे-छोटे भाग होने पर पाबदी लगानी चाहिए एवं भूमि की चकबंदी पर जोर देना चाहिए।
5. **गरीबों के लिए न्यूनतम आवश्यकता की योजना** (Minimum Needs Programme for the Poors)– सरकार को व्यक्तियों की न्यूनतम एवं आधारभूत आवश्यकताओं पर अधिक ध्यान देना चाहिए। इस योजना के अंतर्गत आधारभूत वस्तुयें व्यक्तियों को न्यूनत कीमत पर प्रदान करने एवं विभिन्न सामाजिक सेवायें निःशुल्क प्रदान करने पर विचार किया जाये।
6. **आर्थिक असमानता को कम करना** (Reduction in Economic Inequalities)– गरीबी दूर करने के लिए अर्थिक असमानता दूर करना आवश्यक है। इसके लिए हमें अपने निवेश ढाँचों को बदलना चाहिए; इसलिए अधिकतम साधनों को विलासीन वस्तुओं के उत्पादन के स्थान पर उपभोकता वस्तुओ के उत्पादन के लिए उपयोग किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त आर्थिक शक्ति के समान वितरण के लिए भी उपाय किए गए। भूमि की हदबंदी (Ceiling) करके अतिरिक्त भूमि को भूमिहिन व्यक्तियो में वितरित किया गया।

नोट

7. **ग्रामीण औद्योगिकीकरण** (Rural Industrialisation)– ग्रामीण क्षेत्रों से गरीबी हटाने के लिए हमें ग्रामीण औद्योगिकीकरण पर अधिक जोर देना चाहिए। इसकी सहायता से ग्रामीण क्षेत्रों की श्रम शक्ति को रोजगार के नये अवसर प्रदान हो सकेंगे।
8. **स्फीति पर नियंत्रण** (Control over Inflation)– स्फीति की स्थिति में वस्तुओं की कीमत में वृद्धि हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप स्थायी आय एवं निर्धनों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। कीमतों में निरंतर एवं तीव्र वृद्धि के कारण मुद्रा की क्रय शक्ति कम हो जाती है, जिससे निर्धन व्यक्ति प्रभावित होते हैं। इसलिए निर्धन व्यक्तियों के जीवन स्तर में वृद्धि के लिए बढ़ती कीमतों पर नियंत्रण आवश्यक है।
9. **सामाजिक सुरक्षा** (Social Security)– गरीब औद्योगिक कर्मचारियों के लिए प्रोविडेंट फंड, वृद्धावस्था पेंशन, प्रसूति (Maternity), छुट्टी भत्ते आदि की व्यवस्था करके औद्योगिक कर्मचारियों की सामाजिक सुरक्षा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त सरकार को निःशुल्क शिक्षा, निःशुल्क स्वास्थ्य सुविधा, निवास एवं आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था पर अधिक व्यय करना चाहिए गरीबों के हित के लिए राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण पर अधिक जोर देना चाहिए। धन को जब्त कर लेना चाहिए। पिछड़े क्षेत्रों में अधिक उद्योगों की स्थापना करनी चाहिए।

4.5 गरीबी दुर करने के सरकारी प्रयास

ग्रामीण विकास तथा गरीबी उन्मूलन हमारे देश की विभिन्न योजनाओं के प्रमुख लक्ष्य रहे हैं परन्तु अभी तक इस सम्बन्ध में कोई अधिक प्रगति नहीं हुई है। स्वयं छठी योजना ने यह स्वीकार किया है कि कहाँ की लगभग 50 प्रतिशत जनसंख्या पिछले काफी लम्बे समय से गरीबी की रेखा से नीचे रह रही है। छठी योजना के 10 प्रमुख उद्देश्य थे जिनमें से एक "गरीबी व बेरोज़गारी के भार को उत्तरोत्तर कम करना" (A Progressive Reduction in the Incidence of Poverty and Unemployment) था। सातवीं व आठवीं योजनाओं में भी गरीबी उन्मूलन की बात जोरदारी से कही गयी, जबकि नौवीं योजना में भी प्रमुख स्थान दिया गया।

नौवीं योजना में ग्रामीण क्षेत्रों में स्वरोजगार एवं मजदूरी रोजगार उत्पन्न करने के लिए विशेष रूप से बनाये गये गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों को पुनः तैयार एवं गठित किया गया है, ताकि गरीबों के लिए कारगरता एवं प्रभाव में सुधार लाया जा सके। वर्ष 1998.99 में 9ए345 करोड़ रुपये की तुलना में 1999.2000 में 9ए650 करोड़ रुपये का परिव्यय प्रदान किया गया है।

गरीबी उन्मूलन और रोजगार उत्पादन के प्रमुख कार्यक्रम इस प्रकार हैं–

(1) स्वरोजगार कार्यक्रम (Self Empolyment Programme)
   - (i) स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना (Swarna jayanti Gram Swarozgar Yojna)|

(2) मजदूरी रोजगार कार्यक्रम (Wage Employment Programme) :
   - (i) जवाहर ग्राम समृद्धि योजना (Jawahar Rozgar Yojna) एवं
   - (ii) रोजगार आश्वासन योजना अक्टूबर, 1993 (Empolyment Assurance Scheme, 1993)|

(3) राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम (Social Assistance Programme)|

(4) शहरी रोजगार एवं गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमः

(i) प्रधानमंत्री रोजगार योजना एवं

(ii) स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना।

4.6 विजन 2020 फॉर इण्डिया

देश में गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वालों की स्थिति सुधारने के लिए 'विजन 2020 फॉर इण्डिया' नाम से एक महत्वाकांक्षी नीतिगत दस्तावेज केन्द्र द्वारा तैयार किया जा रहा है। इसका उद्देश्य एक निश्चित समय सीमा के अन्दर गरीबी रेखा से नीचे आने वाले लोगों का विभिन्न कार्यक्रमों के द्वारा स्थिति में सुधार करना है, ताकि अगले 20 वर्षों में 'गरीबी रेखा' से नीचे का कलंक पूर्णतः समाज से मिटाया जा सके। इसके लिए योजना आयोग के सदस्य डॉ. एम. पी. गुप्ता की अध्यक्षता में एक समिति का गठन शहरी विकास एवं गरीबी उन्मूलन मन्त्रालय द्वारा किया गया है।

निर्धनता तथा असमानता सम्बन्धी डॉ. अमर्त्यसेन के सुझाव

3 नवम्बर, 1993 को शान्ति निकेतन में जन्मे एक बालक के नामकरण का दायित्व जग गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर को दिया गया तो उन्होंने उस बालक का नाम 'अमर्त्य' रेखा जिसका अर्थ होता है 'अनश्वर'। इस नाम की सार्थकता 65 वर्ष बाद सिद्ध हुई जब भारत के सुविख्यात अर्थशास्त्री प्रो. अमर्त्यसेन को सन् 1998 का अर्थशास्त्र का नोबेल पुरस्कार देने कीघोषणा की गयी।

समाज के निर्धनतम तबके को पीड़ित करने वाली दैवीय आपदाओं की नयी समझदारी विकसित करने वाले प्रो. सेन को कल्याणकारी अर्थशास्त्र के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए ही यह पुरस्कार दिया गया है। पुरस्कार की घोषणा करने वाली संस्था 'रायल स्वीडिश अकादमी ऑफ साइन्स' ने प्रो. सेन के प्रशस्ति पत्र में कहा है,

"कल्याणकारी अर्थशास्त्र को श्री सेन के योगदान और उनके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण के प्रयोग ने अकाल के लिए जिम्मेदार आर्थिक प्रक्रियाओं की हमारी समझदारी में वृद्धि की है।.... उन्होंने अर्थशास्त्र और दर्शन के उपकरणों के संयोजन से महत्त्वपूर्ण आर्थिक समस्याओं पर विचार-विमर्श को एक नैतिक आयाम दिया है।"

अर्थशास्त्र में 1998 के नोबेल पुरस्कार विजेता प्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री डॉ. अमर्त्यसेन के असमानता सम्बन्धी मुख्य विचार निम्नलिखित हैं–

(1) **सामाजिक विकास आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है**–प्रो. सेन अपने आर्थिक चिन्तन का मानो निचोड़ प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि हमें सकल राष्ट्रीय उत्पाद की विकास दर को किसी देश के अर्थिक कल्याण की कसौटी नहीं माननी चाहिए; आर्थिक विकास होने पर भी देश में निरक्षरता, अस्वास्थ्य व अन्य सामाजिक अभावों का बोलबाला हो सकता है। अत: प्रो. सेन का मत है कि बिना सामाजिक सुधार किये कल्याणकारी आर्थिक विकास नहीं हो सकता। प्रो. सेन पश्चिमी देशों के अनुभवों के आधार पर बताते हैं कि जिन देशों में आम जनता को शिक्षा व स्वास्थ्य जैसी बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध कराई जा रही हैं, वहाँ आर्थिक विकास का लाभ लोगों को व्यापक पैमाने पर मिल रहा है। अत: प्रो. सेन का मत है कि भारत मे आर्थिक सुधार तभी अपेक्षित सफलता हासिल कर सकता है जबकि शिक्षा, स्वास्थ्य और भूमि सुधार पर विशेष ध्यान दिया जाय। इन चीजों

नोट

के जरिये ही जनता बाजार द्वारा उपलब्ध अवसरों का लाभ उठाने मे सक्षम हो सकती है। भारतीय सन्दर्भ में विचार करते हुए प्रो. सेन कहते हैं कि भारत में शिक्षा, स्वास्थ्य व भूमि सुधार कार्यक्रमों के क्षेत्र में आश्चर्यजनक विफलता नजर आती है। उनका मत है कि इन सामाजिक क्षेत्रों में कारगर कदम उठाये बिना आर्थिक सुधारों के लाभ जनसाधारण तक नहीं पहुँचाये जा सकते। इस सम्बन्ध में कारगर सरकारी कार्यवाही अत्यन्त आवश्यक है। प्रो. सेन की इस बात का महत्त्व ऐसे समय में और बढ़ जाता है जब शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं को निजी क्षेत्रों के हाथों में सौंपने की मुहिम चल रही हो और भूमि सुधारों का कोई नाम लेने वाला न हो। बाजार और सरकार को अपनी भूमिकाओं को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "भारत में कुछ क्षेत्रों में बहुत अधिक सरकारी हस्तक्षेप हैं जो बहुत से दूसरे क्षेत्रों में अपर्याप्त व अप्रभावकारी कार्यवाही।" केवल बहुत कम बाजार या बहुत अधिक बाजार के उपचार की जरूरत नहीं है। बाजार एक औजार है जो मानवीय क्षमताओं के विकास में मददगार हो सकता है। सरकार और आम जनता की सक्रिय भूमिका को रेखांकित करते हुए एक बाजार अराजकतावाद के प्रति सतर्कता उनका महत्वपूर्ण योगदान है। उदारीकरण से सम्बन्धित अवसरों की चाहे जो भी सीमा हो, यदि सरकार शिक्षा, स्वास्थ्य और लगभग भुला दिये गये भूमि सुधार पर वास्तव में ध्यान दे तो स्वयं में यह उपलब्ध होगी।

(2) **अकाल और निर्धनता**–प्रो. अमर्त्यसेन ने इस प्रचलित धारणा को चुनौती दी है कि खाद्यान्न की कमी ही अकाल का एकमात्र कारण होता है। अकाल हमेशा खाद्यान्न की कमी से नहीं आते। भुखमरी की समस्या को केवल परम्परागत अर्थशास्त्र के खाँचे में ही सीमित नहीं रखा जा सकता है। यहीं पर सामाजिक मूल्य दर्शन, नीतिशास्त्र, सरकार की सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक, सांस्कृतिक आदि नीतियाँ भी महत्वपूर्ण हो जाती हैं। प्रो. सेन महाराष्ट्र और अफ्रीकी देश साहेल का उदाहरण देते हुए बताते हैं कि सन् 1970 के दशक में दोनों क्षेत्रों को सूखे का सामना करना पड़ा। खाद्यान्न की उपलब्धता महाराष्ट्र की अपेक्षा साहेल में दुगुनी थी लेकिन मरने वालों की संख्या साहेल में ही ज्यादा थी, जबकि महाराष्ट्र में एक-दो लोगों की ही भूख से मरने कीघटनाएँ सामने आयीं। कारण स्पष्ट था, महाराष्ट्र में ग्रामीण रोजगार कार्यक्रमों ने स्थानीय निवासियों की क्रय शक्ति बनाये रखी, जबकि साहेल ऐसी कोई कारगर व्यवस्था खड़ी नहीं कर पाया। प्रो. सेन यह मानते हैं कि अकाल से बचने के लिए लोकतन्त्र सबसे अच्छी प्रणाली है क्योंकि विपक्ष और मीडिया के दबाव के कारण सरकार इस समस्या को हल करने के लिए बाध्य होती है, जबकि निरंकुश प्रणाली के सामने ऐसी कोई बाध्यता नहीं होती।

गरीबी उन्मूलन बहुत कुछ सरकारी नीतियों पर निर्भर करता है। वे गरीबी को व्यापक निरक्षरता, निम्न स्तर की स्वास्थ्य व्यवस्था, अधुरे भूमि सुधारों, लिंग-भेद, महिलाओं को अधिकारों से वंचित रखना और बच्चों को उपेक्षा के रूप में देखते हैं। डॉ. सेन ने सुझाव दिया है कि पश्चिमी देशों की तरह ही लोगों के हित के लिए एक सामाजिक व्यवस्था अपनायी जाये। विश्व अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण से लाभ उठाने और कमजोरों की इससे रक्षा करने के लिए भिन्न देशों को 'सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था' की जरूरत है।

नोट

सारणी 4.3: भारत में गरीबी निवारण हेतु ग्रामीण विकास योजनाएँ

क्रमांक योजनाएँ 1. रोजगारपरक योजनाएँ	योजनाएँ 2. मूलभूत सुविधाओं विषयक योजनाएँ	योजनाएँ 3. सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने वाली योजनाएँ हेतु	योजनाएँ 4. महिलाओं/बालिकाओं के विकास योजनाएँ	योजनाएँ 5. शैक्षिक विकास हेतु योजनाएँ	योजनाएँ 6. कृषि एवं दुग्ध विकास की योजनाएँ	योजनाएँ 7. सहकारी सहयोग से परिचालित बीमा योजनाएँ
1. ग्राम समृद्धि योजना, 1999 2. स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना, 1999 (क) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (आई.आर.डी.पी.), 1980 (ख) ट्राइसेम योजना, 1979 (ग) ड्वाकरा योजना, 1982 (घ) उन्नत चूल्हा कार्यक्रम 1993 (च) उन्नत टूल किट्स योजना, 1992 (छ) गंगा कल्याण योजना, 1997 (ज) दस लाख कूप योजना, 1988 3. उद्यमिता विकास कार्यक्रम, 1986 4. अम्बेडकर विशेष रोजगार योजना, 1991 5. प्रधानमन्त्री रोजगार योजना, 1993 6. सुनिश्चित रोजगार योजना, 1993 7. रोजगार छतरी योजना, 1998	1. ग्रामीण पेयजल योजना 1971 2. राष्ट्रीय बायोगैस कार्यक्रम, 1982 3. इन्द्रा आवास योजना 1985 4. स्वच्छ शौचालय निर्माण योजना, 1990 5. अम्बेडकर ग्राम्य विकास योजना, 1991 6. स्वजल योजना, 1996 7. दीनदयाल उपाध्याय ग्रामीण सम्पर्क योजना, 1997 8. आश्रम आवसीय योजना, 1997 9. स्वर्ण जयन्ती ग्राम विकास योजना, 1986 10. प्रधानमन्त्री ग्रामोदय योजना, 2000-01	1. राष्ट्रीय टीकाकरण कार्यक्रम, 1984 2. राष्ट्रीय पारिवारिक लाभ योजना, 1994 3. राष्ट्रीय मातृत्व लाभ योजना, 1997 4. वृद्धावस्था पेंशन योजना, 1994 5. स्वास्थ्य सखी योजना 1998 6. अन्नपूर्णा योजना, 1999 7. आश्रय आवासीय योजना, 1997 8. जनश्री बीमा योजना, 2000-01	1. न्यू मॉडल चर्खा योजना, 1987 2. इन्द्र महिला योजना, 1995 3. बालिका समृद्धि योजना 1997 4. किशोरी बालिका योजना, 1998	1. अनौपचारिक शिक्षा योजना, 1979 2. प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम, 1988 3. प्राथमिक विद्यालयों हेतु मध्यान्ह भोजन योजना, 1995 4. दम्पत्ति शैक्षिक योजना, 1998 5. शिक्षा गारण्टी योजना, 1999 6. शिक्षा मित्र योजना, 1999	1. महिला डेयरी योजना, 1991 2. सघन मिनि डेयरी योजना, 1992 3. किसान मित्र योजना, 1998	1. ग्रामीण सामूहिक जीवन बीमा योजना, 1995 2. भूमिहीन मजदूरों हेतु सामूहिक बीमा योजना, 1987 ग्रामीण कुटीर योजना, 1988 4. आई. आर. डी. हेतु सामूहिक बीमा योजना, 1988 5. ग्रामीण सामूहिक जीवन बीमा योजना, 1995

नोट—भारत में 2001-02 में निर्धनता व गरीबी कम करने के लिए जो योजनाएँ शुरू की गई हैं, उनका 'भारत में बेरोजगारी की समस्या व रोजगार नीति' अध्याय में दिया जा चुका है।

नोट

(3) **विषमता पर पुनर्विचार**–प्रो. सेन की हाल में ही एक पुस्तक प्रकाशित हुई है–'इन इक्वलिटी रीज एक्जामिड'। इसमें उन्होंने 'सभी लोग जन्मजात समान हैं' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। यह सिद्धान्त इस तथ्य से हमारा ध्यान हटा देता है कि हमारी लिंग, उम्र, प्रतिभा और शारीरिक क्षमताओं में अन्तर हैं तथा हमारी भौतिक लाभ की स्थितियों और सामाजिक पृष्ठभूमि में भी भिन्नताएँ हैं।

(4) **सेन निर्देशांक**–किसी भी अर्थव्यवस्था में गरीबी के साथ-साथ विषमता का अध्ययन और उसका निराकरण आवश्यक है। इसके लिए विषमता की माप आवश्यक है और इसके लिए जरूरी है–एक उपयुक्त मापदण्ड। इस उपयुक्त मापदण्ड की ही चर्चा प्रो. सेन ने 1973 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'ऑन इकोनामिक इन क्वालिटी' में की है। प्रो. सेन ने गरीबी निर्देशांक बनाने के लिए एक नया फार्मूला दिया जो गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों की आय में विषमता पर आधारित है। यह फार्मला 'निर्देशांक' (Sen Index) के नाम से जाना जाता है। यह निर्देशांक यू.एन.डी.पी. की मानव विकास की रिपोर्ट के लिए मानव विकास सूचकांक की गणना में सहायक है।

4.7 बेरोजगारी की अवधारणाएँ

1. **पूर्ण रोजगार** (Full Employment)–जब किसी अर्थव्यवस्था में सभी संसाधनों का पूर्णतः दोहन होता है तथा रोजगार की इच्छा वाले सभी व्यक्तियों को पूर्णतया रोजगार मिलता है, तब इसे पूर्ण रोजगार की अवस्था माना जाता है।
2. **बेरोजगारी** (Unemployment)–बेरोजगारी से आशय एक ऐसी स्थिति से है जिसमें व्यक्ति वर्तमान मजदूरी की दर पर काम करने को तैयार है परन्तु उसे काम नहीं मिलता।
3. **मौसमी बेरोजगारी** (Seasonal Unemployment)–जब वर्ष के कुछ महीनों या विशेष अवधि में प्रति वर्ष बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो इस प्रकार की बेरोजगारी को मौसमी बेरोजगारी कहते हैं।
4. **अल्परोजगार** (Under-employment)–जब किसी व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार काम नहीं मिलता है अथवा पूरा काम नहीं मिलता है तो उसे अल्परोजगार कहते हैं।
5. **संरचनात्मक बेरोजगारी** (Structural Employment)–दीर्घकालीन प्रवृत्ति की यह बेरोजगारी अर्थव्यवस्था के ढाँचे के पिछड़ेपन, सीमित पूँजी एवं श्रम के बाहुल्य के कारण उत्पन्न होती है।
6. **चक्रीय बेरोजगारी** (Cyclical Unemployment)–जब देश में व्यापार-चक्र में मन्दी के कारण बेरोजगारी उत्पन्न हो तो इसे चक्रीय बेरोजगारी कहा जाता है।
7. **छिपी हुई या अदृश्य बेरोजगारी** (Disguised Unemployment)–छिपी हुई बेरोजगारी से हमारा तात्पर्य ग्रामीण अर्थव्यवस्था की उस स्थिति से है जिसमें श्रमिक काम पर लगा हुआ मालूम होता है किन्तु उत्पादन में उसका अंशदान नहीं के बराबर होता है अर्थात् सीमान्त उत्पादन शून्य होता है।
8. **घर्षणात्मक बेरोजगारी क्षेत्र** (Frictional Unemployment)–उत्पादन की तकनीकों में परिवर्तन के कारण कुछ लोग बेरोजगार हो जाते हैं क्योंकि नई तकनीक के प्रयोग में वे

कुशल नहीं होते हैं अथवा इसके कारण उत्पादन श्रम की वांछित मात्रा में कमी हो जाती है। इस प्रकार की बेरोजगारी कोघर्षणात्मक बेरोजगारी कहते हैं।

9. **अनौपचारिक क्षेत्रक** (Informal Sector)–अल्पविकसित देशों में बहुत-से लोग छोटे-छोटे श्रम-प्रधान रोजगार में लगे रहते हैं जिन्हें अनौपचारिक क्षेत्रक कहा जाता है। इसके अन्तर्गत दर्जी, मोटर मैकेनिक, धोबी, चाय-पान आदि की दुकानों को शामिल किया जाता है।
10. **रोजगार गुणक** (Employment Multiplier)–प्राथमिक रोजगार में वृद्धि होने के कारण कुल रोजगार में जो वृद्धि होती है, वृद्धि की इस दर को रोजगार गुणक कहते हैं।
11. **बेरोजगारी दर** (Unemployment Rate)–वह दर है जिसका अनुमान बेरोजगार लोगों की संख्या को श्रम शक्ति से भाग देकर लगाया जाता है।

    बेरोजगारी की दर (Rate of Unemployment) = बेरोजगारों की संख्या श्रम शक्ति
12. **चिरकालिक बेरोजगारी** (Chronic Unemployment) या सामान्य अवस्था (Usual Status) बेरोजगारी–चिकालिक बेरोजगार वे व्यक्ति हैं जो पूरे वर्ष बेरोजगार रहे हों। ये व्यक्ति आकस्मिक कार्य स्वीकार नहीं करते हैं।
13. **साप्ताहिक अवस्था बेरोजगारी** (Weekly Status Unemployment)–साप्ताहिक बेरोजगार वे व्यक्ति हैं जिन्हें 'सर्वेक्षण सप्ताह' के दौरान एकघण्टे के लिए भी काम नहीं मिल पाया हो।
14. **दैनिक अवस्था बेरोजगारी** (Daily Status Unemployment)–दैनिक बेरोजगार वे व्यक्ति हैं जो सप्ताह में कुछ दिनों तो रोजगार पाते हैं और शेष दिन बेरोजगार रहते हैं। दूसरे शब्दों में, 'सर्वेक्षण सप्ताह' के दौरान वे एक दिन या कुछ दिन बेरोजगार रहे हैं।

आशय (Meaning)–बेरोजगारी एक ऐसी स्थिति है जहाँ श्रम-शक्ति (श्रम की पूँजी) व रोजगार के अवसरों (श्रम की माँग) में अन्तर होता है। बेरोजगारी श्रमिकों की माँग की अपेक्षा उनकी पूर्ति के अधिक होने का परिणाम है। बेरोजगारी से आशय एक ऐसी स्थिति से है जिसमें व्यक्ति वर्तमान मजदूरी की दर पर काम करने को तैयार होता है परन्तु उसे काम नहीं मिलता। किसी देश में बेरोजगारी की अवस्था वह अवस्था है जिसमें देश में बहुत-से काम करने योग्य व्यक्ति हैं परन्तु उन्हें विभिन्न कारणों से काम नहीं मिल रहा है। अतएव बेरोजगारी का अनुमान लगाते समय केवल उन्हीं व्यक्तियों की गणना की जाती है जो (a) काम करने के योग्य हैं; (इ) काम करने के इच्छुक हैं तथा (ब) वर्तमान मजदूरी पर काम करने के लिए तैयार हैं। उन व्यक्तियों को जो काम करने के योग्य नहीं हैं; जैसे–बीमार, बूढ़े, बच्चे, विद्यार्थी आदि को बेरोजगारी में सम्मिलित नहीं किया जाता। इसी प्रकार जो लोग काम करना ही पसन्द नहीं करते, उनकी गणना भी बेरोजगारों में नहीं की जाती है। प्रो. पीगू के अनुसार, "एक व्यक्ति को उस समय ही बेरोजगार कहा जायेगा जब उसके पास रोजगार का कोई साधन नहीं है परन्तु वह रोजगार प्राप्त करना चाहता है।"

बेरोजगारी की दर (Rate of Unemployment) = बेरोजगारों की संख्या

श्रम शक्ति

बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ-साथ समाज की श्रम-शक्ति में वृद्धि होती है। श्रम की अधिकता के कारण भारत में बेरोजगारी तथा अदृश्य बेरोजगारी में वृद्धि होती जा रही है।

4.8 भारत में बेरोजगारी के कारण

भारत में बेरोजगारी के लिए उत्तरदायी कारण इस प्रकार हैं–

नोट

(1) सामान्य कारण (General Causes) भारत में बेरोजगारी के लिए उत्तरदायी कुछ सामान्य कारण निम्न प्रकार हैं–

(1) **जनसंख्या में तीव्र वृद्धि** (Rapid Increase in Population)–बेरोजगारी में तीव्र गति से वृद्धि का मुख्य एवं महत्वपूर्ण कारण बढ़ती हुई जनसंख्या है जो 2.5 प्रतिशत की दर से बढ़ रही है, जबकि रोजगार की सुविधाएँ उस दर से नहीं बढ़ रही हैं। यहाँ प्रतिवर्ष 70 लाख व्यक्ति रोजगार चाहने वालों की संख्या में जुड़ हो हैं।

(2) **नियोजन में दोष** (Defective Planning)–देश में 1951 से नियोजन का कार्य चल रहा है लेकिन यह नियोजन त्रुटिपूर्ण रहा है। इसमें रोजगारमूलक नीति का प्रतिपादन नहीं किया गया है, फलतः बेरोजगारी में वृद्धि हुई है।

(3) **आर्थिक विकास की धीमी गति** (Slow Rate of Economic Growth)–रोजगार की मात्रा में वृद्धि आर्थिक विकास की दर पर निर्भर करती है। जब आर्थिक विकास की दर तीव्र होती है तो रोजगार के अधिक अवसर उत्पन्न होते हैं। पिछले 47 वर्षों के योजनाबद्ध विकास के बावजूद भारतीय अर्थव्यवस्था में वार्षिक विकास दर 3.5% ही रही। इससे रोजगार के पर्याप्त अवसर उत्पन्न नहीं हो सके। परिणाम यह हुआ कि बेरोजगारी बढ़ती गयी।

(4) **रोजगार नीति व श्रम-शक्ति नियोजन** (Employment Policy and Man-power Planning)– स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा देश का आर्थिक विकास करने का प्रयास किया गया है लेकिन योजनाओं में रोजगार प्रदान करने के सम्बन्ध में कोई व्यापक, प्रगतिशील व प्रभावशाली नीति नहीं अपनायी जा सकी है। श्रम-शक्ति के नियोजन की दिशा में विशेष प्रगति नहीं हुई है। परिणामस्वरूप देश में रोजगार बढ़ने के साथ-साथ बेरोजगारी भी बढ़ी है।

(5) **आर्थिक सुधार** (Economic Reform)–आर्थिक सुधारों के सात वर्षों (1991-98) में भी विशेषतया पूँजी-गहन विकास, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के विनियोग व इन्फ्रास्ट्रक्चर के विकास की धीमी प्रगति के कारण रोजगार के अवसर उतनी तेजी से नहीं बढ़ सके जितनी तेजी से श्रम-शक्ति बढ़ी है। 1996-97 में उद्योगों को तरलता संकट का सामना करना पड़ा जिससे औद्योगिक क्षेत्र में रुग्णता के फैलने से भी रोजगार-संवर्द्धन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इसका विशेष असर लघु उद्योगों पर देखा गया है जिन्हें कार्यशील पूँजी के अभाव का सामना करना पड़ा है।

बेरोजगारी की स्थिति विस्फोटक होती जा रही है, इसका एक कारण यह भी है कि संगठित क्षेत्र के दोनों भागों (सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र) में रोजगार वृद्धि दर में कमी आयी है। सार्वजनिक क्षेत्र में तो रोजगार वृद्धि की दर 1998 में ऋणात्मक हो गयी और 1999 में नगण्य रही। इसी प्रकार निजी क्षेत्र में भी रोजगार वृद्धि दर में कमी आयी है।

(II) विशिष्ट कारण (Specific Causes) भारत में बेरोजगारी के विशिष्ट कारणों का अध्ययन हम निम्नलिखित दो शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं– (अ) ग्रामीण या अदृश्य बेरोजगारी

सम्बन्धी कारण (Causes of Rural or Disguise Unemployment)– ऊपर वर्णित सामान्य कारणों के अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्र में बेरोजगारी में वृद्धि के लिए निम्नघटक उत्तरदायी हैं–

नोट

(1) **कृषि की मौसमी प्रकृति** (Seasonal Nature of Agriculture)–आज भी अनेक राज्यों में कृषि मानसून की वर्षा पर निर्भर है। फलतः पूरे वर्ष भर कृषि रोजगार प्रदान नहीं कर पाती। केवल फसल बोने से लेकर उसको काटने तक ही पर्याप्त रोजगार के अवसर रहते हैं एवं वर्ष के शेष माहों में श्रमिक बड़े पैमाने पर बेरोजगार रहते हैं। भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी का एक कारण कृषि की मौसमी प्रकृति भी है।

(2) **बढ़ता हुआ जन-भार** (Increase in Pressure of Population)–जनसंख्या की वृद्धि से कृषि भूमि पर जन-भार भी बढ़ा है। आवश्यकता से अधिक जनसंख्या होने से उपलब्ध कृषि पर छिपी हुई बेरोजगारी के आकार में वृद्धि हुई है। इससे औसत ग्रामीण परिवार का स्तर कम हुआ है और प्रति व्यक्ति आय में गिरावट आई है।

(3) **ग्रामीण क्षेत्र में व्यापक निरक्षरता** (Mass Illiteracy in Rural Sector)–भारत में ग्रामीण क्षेत्र में निरक्षरता व्यापक स्तर पर विद्यमान है। इससे ग्रामीण क्षेत्र में अकुशलता में वृद्धि होती है। यही नहीं, निरक्षरता ग्रामीण को विशेष प्रकार के प्रशिक्षण प्राप्त करने में बाधा उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त, यह स्थिति कृषि के सहायक उद्योग-धन्धों को अपनाने में भी गतिरोध उत्पन्न करती है।

(4) **पूँजी का अभाव** (Shortage of Capital)–भारत में कृषकों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय है। कृषकों की आय कम होने के कारण वे अधिक बचत नहीं कर पाते। फलतः उनके पास पर्याप्त मात्रा में पूँजी नहीं होती। पूँजी की कमी के कारण किसानों के पास कृषि से सम्बन्धित पूँजी के साधनों का अभाव बना रहता है और उन्हें वैकल्पिक कार्य भी उपलब्ध नहीं हो पाते।

(5) **सामाजिक स्थिति** (Social Status)–भारत का ग्रामीण समाज अत्यधिक परम्परागत एवं सामाजिक कुरीतियों, अन्धविश्वासों आदि से जकड़ा हुआ है। इससे जाति-व्यवस्था अधिक मजबूत हुई है। ये स्थितियाँ कृषकों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने में रुकावट डालती हैं। सामाजिक एवं धार्मिक अन्धविश्वास कृषि श्रमिकों की गतिशीलता पर भी विपरीत प्रभाव डालते हैं।

(6) **सहायक उद्योग-धन्धों का अभाव** (Shortage of Secondary Industries)–भारत की प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि से सम्बन्धित सहायक उद्योग-धन्धों और कुटीर उद्योगों के विकास पर अधिक बल नहीं दिया गया। बाद में पंचवर्षीय योजनाओं में यद्यपि इस दिशा में प्रयास किये गये, फिर भी ग्रामीण और कुटीर उद्योगों का अभाव है। फलतः रोजगार के वैकल्पिक अवसर ग्रामीण क्षेत्र में पर्याप्त रूप से नहीं बढ़ पाये हैं।

(ब) नगरीय या शिक्षित बेरोजगारी सम्बन्धी कारण (Causes for Urban or Educated Unemployment)– नगरीय क्षेत्र में औद्योगिक श्रमिकों तथा पढ़े-लिखे लोगों में बेरोजगारी के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं–

(1) **दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली** (Defective Education System)–हमारी शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण है क्योंकि वह अधिकतर साहित्यिक है, व्यावसायिक नहीं है जिसके फलस्वरूप शिक्षित

बेकारी देश में अधिक है। प्रत्येक वर्ष हमारे विश्वविद्यालयों से हजारों विद्यार्थी बी.ए., एम.ए. पास करते हैं। फलतः प्रति वर्ष शिक्षित वर्ग में कार्य ढूँढने वालों तथा कार्य के अवसरों में अन्तर बढ़ता जाता है।

नोट

वर्तमान शिक्षा प्रणाली 'स्व-रोजगार' (Self-employment) को बढ़ावा न देकर 'रोजगार तलाश करने वालों' (Employment Seekers) को अधिक बढ़ावा देती है जिससे समस्या जटिल होती जाती है। यह बात दक्ष व अदक्ष दोनों प्रकार के श्रमिकों पर लागू होती है।

(2) **प्रतिकूल उत्पादन तकनीकी का चुनाव** (Selection of Unfavourable Technique of Production)– भारत में विभिन्न योजनाओं में उत्पादन के क्षेत्र में विकसित पाश्चात्य तकनीकों का प्रयोग किया गया। फलतः उपभोग-वस्तु उद्योगों व भारी उद्योगों में क्षेत्रीकरण इतना अधिक हो गया कि वर्तमान उपभोग-वस्तुओं व मशीन बनाने वाले उद्योगों में विनियोग की प्रति इकाई रोजगार प्रदान करने की क्षमता बहुत कम है।

योजनाओं की अवधि में राष्ट्रीय आय तथा बेरोजगारी में एक साथ वृद्धि होने का एक कारण यह है कियोजनाओं के अन्तर्गत चुने गये तकनीकी उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करते हैं परन्तु इनसे श्रम कीए आवश्यकता कम हो जाती है।

(3) **विकास की धीमी गति** (Low Rate of Development)–भारत में योजना काल में यद्यपि आर्थिक विकास हुआ है और उत्पादन की मात्रा में वृद्धि हुई है लेकिन आर्थिक विकास की दर विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत लक्ष्य से नीची रही है। इस स्थिति में रोजगार के अवसरों में ज्यादा वृद्धि न होना स्वाभाविक ही है।

(4) **विनियोग का निम्न स्तर** (Low Level of Investment)–भारत की बेरोजगारी के प्रमुख कारणों में विनियोग के निम्न स्तर को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। देश में सार्वजनिक विनियोग की वास्तविक मात्रा में वृद्धि नहीं की जा सकती थी। आन्तरिक मुद्रा-स्फीति, विदेशी सहायता की अनिश्चितता व युद्ध की आशंका के कारण पूँजी विनियोग विशेष रूप से 1965.75 के दशक में आशानुकूल नहीं रहा। ऐसी स्थिति में गतिहीनता की स्थिति अर्थव्यवस्था में उत्पन्न हो गयी थी। इस प्रकार विनियोग के अभाव के कारण भारत में रोजगार के अवसरों में पर्याप्त वृद्धि नहीं की जा सकी है।

(5) **निजी क्षेत्र के समक्ष अनिश्चितता** (Uncertaintics before Private Sector)–निजी क्षेत्र समर्थकों का मत है कि सरकारी नीतियाँ निजी क्षेत्र को हतोत्साहित करती हैं जिससे रोजगार के अवसर बढ़ाने में अपना पूरा योगदान नहीं दे पाते। भूतकाल में सरकार की कर नीति विनियोग को प्रोत्साहन देने वाली नहीं रही है।

(6) **शिक्षितों का दृष्टिकोण** (Attitudes of Educated People)–देश में शिक्षितों का दृष्टिकोण विचित्र है, सफेदपोश कुर्ता पसन्द है। उनमें शारीरिक श्रम के प्रति अरुचि है, ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य करने सेघृणा है। वे शहरी वातावरण को लालायित हैं। वे तकनीकी व ग्रामीण-रोजगारों में जाना नहीं चाहते, अतः शिक्षित बेकारी बढ़ी है।

(7) **व्यावसायिक शिक्षा की धीमी गति** (Slow Progress of Vocational Education)–देश में सामान्य शिक्षा का तेजी से विकास हुआ है किन्तु व्यावसायिक व तकनीकी शिक्षा की प्रगति बहुत धीमी रही है। इससे सामान्य शिक्षितों में बेरोजगारी निरन्तर बढ़ती ही गयी। अब तो तकनीकी शिक्षा प्राप्त लोगों में भी बेकारी व्याप्त है।

(8) **रोजगार मार्गदर्शन का अभाव** (Lack of Employment Guidance)–देश में नियोजकों व रोजगार चाहने वालों के बीच निकट सम्पर्क कराने वाली संस्थाओं की कमी रही है। अत: रोजगार सूचनाओं, उपयुक्त मार्गदर्शन तथा उनमें ताल-मेल बैठाने की सेवाओं का नितान्त अभाव रहा है।

4.9 भारत में बेरोजगारी दूर करने के उपाय

भारत में बेरोजगारी दूर करने के विभिन्न उपाय हैं जो निम्न प्रकार हैं–

(I) सामान्य उपाय (General Measures)

सामान्य उपायों में वे उपाय सम्मिलित किये गये हैं जो भारत में सभी प्रकार की बेरोजगारी को दूर करने में सहायक हो सकते हैं। इनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं–

(1) **जनसंख्या नियन्त्रण** (Contral of Population)–भारत में प्रति वर्ष श्रम-शक्ति में 70 से 80 लाख की वृद्धि हो रही है। इतनी अधिक मात्रा में रोजगार के अवसर उत्पन्न करना कठिन है। अत: बेरोजगारी की समस्या का निराकरण करने के लिए जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण करना आवश्यक है।

(2) **विनियोग के दर में वृद्धि** (Increase in Investment Rate)–रोजगार सुविधाओं को बढ़ाने के लिएघरेलू बचतों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए जिससे कि पूँजी निर्माण ऊँची दर से किया जा सके और विनियोग दर में वृद्धि की जा सके। इससे नये-नये उद्योगों में वृद्धि होगी।

(3) **जन-शक्ति नियोजन** (Man-power Planning)–देश में जन-शक्ति नियोजन किया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में श्रम एवं पूर्ति के बीच समसायोजन किया जाना चाहिए। समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप ही शिक्षा का विकास किया जाना चाहिए। इसके लिए श्रमिकों की भारी माँग व उसंकी पूर्ति के बारे में पहले से पता लगा लिया जाना चाहिए तथा उसी के अनुसार प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(4) **रोजगार-उन्मुख नियोजन** (Employment-oriented Planning)–देश में नियोजन करते समय रोजगार सृजन को प्रमुख स्थान देना चाहिए। यह सही है कि आर्थिक विकास होने पर रोजगार में वृद्धि होगी परन्तु देश में इस उद्देश्य को अलग से प्राथमिकता देना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में जो नीतियाँ इस दिशा में बाध क दिखायी देती हैं, उन्हें तुरन्त हटा देना चाहिए।

(5) **प्राकृतिक साधनों का सर्वेक्षण** (Survey of Natural Resources)–सरकार को प्राकृतिक साधनों का विस्तृत सर्वेक्षण करके उन सम्भावनाओं का पता लगाना चाहिए जिनसे नये–नये उद्योग स्थापित किये जा सकते हैं।

(6) **सामाजिक सुधार** (Social Reforms)–भारत में सामाजिक ढाँचे में उपयुक्त परिवर्तन किया जाय, ताकि जाति प्रथा, पर्दा प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली आदि के दोष दूर हो सकें और श्रमिकों की गतिशीलता में वृद्धि होकर रोजगार के अवसर बढ़ सकें।

(7) **उद्यमिता के गुणों का विकास** (Development of Entrepreneur's Qualities). –प्रारम्भ से ही छात्र-छांत्राओं में उद्यमिता के गुणों का विकास कर उन्हें स्वरोजगार

के लिए तैयार किया जाये। स्वरोजगार के लिए एक बार प्रेरित होने के बाद व्यक्ति सरकारी अथवा निजी नौकरी की ओर नहीं भागता बल्कि वह उपलब्ध साधनों की ओर कदम बढ़ाता है।

नोट

(II) विशिष्ट उपाय (Specific Measures)

(अ) ग्रामीण बेरोजगारी दूर करने सम्बन्धी उपाय (Measures for Removing Rural Employment)– भारत में ग्रामीण बेरोजगारी को दूर करने के लिए निम्नलिखित उपाय किये जाने की आवश्यकता है–

(1) **ग्रामीण औद्योगीकरण को बढ़ावा** (Encouragement to Rural Industrialisation) –ग्रामीण क्षेत्रों में कुटीर एवं लघु उद्योगों का विकास किया जाय। इसके लिए आवश्यक है कि ग्रामीण क्षेत्रों में यातायात, बैंक सेवाओं, विद्युत आपूर्ति आदि सुविधाओं का विकास किया जाय। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में फैली बेरोजगारी को दूर करने में मदद मिलेगी।

(2) **कृषि में संस्थागत परिवर्तन** (Institutional Changes in Agriculture)–कृषिगत विकास से रोजगार के अवसर अवश्य बढ़ेंगे लेकिन इस विकास के लिए संस्थागत व तकनीकी परिवर्तन एक साथ होने चाहिए। इसके लिए एक तरफ भूमि सुधार कार्यक्रम लागू किये जाने चाहिए और दूसरी ओर, सिंचाई, उर्वरक, बीज आदि का तेजी से विस्तार करके कृषिगत उत्पादकता में वृद्धि की जानी चाहिए।

(3) **गाँव में रोजगारोन्मुख नियोजन** (Employment-oriented Planning in Villages) –गाँव में सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए रोजगार के अनेक अवसर उत्पन्न किये जा सकते हैं लेकिन आवश्यकता है गाँव को ठीक से बसाने की एवं उनका समुचित विकास करने की। गाँव में इन्जीनियरों, ओवरसियरों, अध्यापकों, डाक-बाबुओं व डाकियों, मोटरचालकों, डॉक्टरों, छोटे उद्यमकर्ताओं व मिस्त्रियों तथा अन्य व्यक्तियों के लिए रोजगार की विशाल सम्भावनाएँ निहित हैं। ग्रामीण विद्युतीकरण से गाँवों में आधुनिक जीवन की सभी सुविधाएँ पहुँचायी जा सकती हैं और धीरे-धीरे वहाँ की जनशक्ति को उत्पादक कार्यों में लगाया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि हमारा लक्ष्य केवल 'मजदूरी पर रोजगार' उत्पन्न करना ही नहीं है बल्कि हम साथ में 'स्वरोजगार' के अनेक अवसर भी विकसित करना चाहते हैं।

(4) **ग्राम पंचायतों का दायित्व** (Responsibility of Village Panchayats)–स्थानीय रोजगार का दायित्व ग्राम पंचायतों पर छोड़ दिया जाना चाहिए। ग्रामीण रोजगार योजनाओं के प्रबन्धकर्ताओं को विकास का दायित्व दिया जाय तथा कार्यक्रमों की समयबद्धता सुनिश्चित की जाये।

(5) **भूमि सुधार कार्यक्रमों का क्रियान्वयन** (Implementation of Land-reform Programmes)–भारत में भूमि सुधार कार्यक्रमों का शीघ्रता से क्रियान्वयन किया जाय, जैसे–कृषि जोतों की सीमाबन्दी करके फालतू जमीन का वितरण किया जाये, भूमि की चकबन्दी की जाय, का संयुक्त भूमि को कृषि योग्य बनाकर उसको वितरित कर दिया जाये। इसके अतिरिक्त, जिन लोगों को भूमि आवंटित की गयी है, उनको तथा छोटे किसानों को कृषि से सम्बन्धित आवश्यक साधन उपलब्ध कराये जायें। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार में वृद्धि होगी।

(6) बहुफसली कृषि को प्रोत्साहन (Encouragement in Multiple Cropping in Agriculture)– भारत में बहुफसली कृषि को प्रोत्साहन दिया जाय जिससे कि श्रमिकों को पूर्ण रोजगार उपलब्ध हो सके। बहुफसली कार्यक्रम के लिए आवश्यक है कि सिंचाई, उन्नत बीज, साख आदि की व्यवस्था की जाय तथा कृषि तकनीक का विकास किया जाय।

(ब) शहरी बेरोजगारी दूर करने सम्बन्धी उपाय (Measures to Remove Urban Unemployment)–भारत में शहरी बेरोजगारी को दूर करने में निम्न उपाय सम्मिलित किये जा सकते हैं–

(1) उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग (Full Utilisation of Production Capacity) –भारत में अधिकांश बड़े उद्योग अपनी स्थापित क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। इसका प्रमुख कारण बिजली की पूर्ति, कच्चे माल, परिवहन सुविधाओं आदि का अभाव होना है। इन आधारभूत सुविधाओं के अभाव के कारण कई उद्योगों में क्षमता-उपयोगिता बहुत कम है। अत: सरकार को इन कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्षमता के अनुरूप उत्पादन होने से रोजगार की मात्रा में भी वृद्धि होती है।

(2) लघु उद्योगों को प्रोत्साहन (Encouragement to Small Industries)–स्वरोजगार योजना को प्रोत्साहन देने के लिए वित्त, तकनीकी प्रशिक्षण, कच्चा माल तथा मशीनरी आदि की सुविधाएँ उदारतापूर्वक उपलब्ध करायी जानी चाहिए। विभिन्न अध्ययनों से यह बात स्पष्ट होती है कि लघु उद्योग की रोजगार निर्माण क्षमता बड़े उद्योगों की तुलना में बहुत अधिक होती है। अत: लघु एवं कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देकर रोजगार के अवसरों में वृद्धि की जा सकती है। जापान, दक्षिण कोरिया, ताइवान आदि कई देशों में लघु उद्योगों का जाल फैलाकर रोजगार के अवसरों में वृद्धि की गयी है।

(3) शिक्षा का व्यावहारिक रूप (Practical Form of Education)–शिक्षित बेरोजगारी की समस्या को हल करने लिए शिक्षा प्रणाली का पुनर्गठन किया जाना चाहिए। शिक्षा प्रणाली को व्यवसाय-उन्मुख बनाया जाना चाहिए। शिक्षित बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिए शिक्षा को रोजगार-उन्मुख (Job-oriented) बनाना आवश्यक है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए माध्यमिक स्तर पर व्यावसायिक पाठ्यक्रमों (Vocational Courses) की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(4) सीमित स्वचालन पर नियन्त्रण (Control on Limited Automation)–विगत वर्षों में भारत में उद्योगपतियों ने मशीनों के आधुनिकीकरण व स्वचालन पर बहुत जोर दिया है। इसका कारण जहाँ उत्पादन क्षमता को बढ़ाना है, वहाँ सम्भवत: श्रमिकों पर कम निर्भर रहना है परन्तु रोजगार की दृष्टि से यह नीति उचित नहीं है। अत: सरकार को केवल पूँजीगत वस्तुओं तथा निर्यात से सम्बन्धित वस्तुओं के सम्बन्ध में स्वचालन की अनुमति देनी चाहिए।

(5) उदारीकरण की नीति (Liberalisation Policy)–भारत सरकार की 1991 की आर्थिक उदारीकरण की नीति के बाद से देश में विदेशी कम्पनियों की भरमार हो गयी है। इन कम्पनियों द्वारा वृहद् पैमाने के उद्योगों की स्थापना का क्रम जारी है। इन उद्योगों में आधुनिक मशीनों के माध्यम से उत्पादन किया जाता है जिससे मानवीय श्रम का

उपयोग कम होता जा रहा है, जबकि देश में मानव-शक्ति की कमी नहीं है। यद्यपि उदारीकरण की यह नीति जारी रहना उचित है किन्तु इस नीति के माध्यम से ऐसे उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए जो श्रम-प्रधान हों। अनुमान है कि उतनी ही पूँजी लगाने पर लघु उद्योग वृहद् उद्योग की तुलना में पाँच गुना अधिक व्यक्तियों को रोजगार के अवसर प्रदान कर सकते हैं।

नोट

4.10 रोजगार हेतु सरकारी उपाय

प्रारम्भ की तीन पंचवर्षीय योजनाओं में रोजगार वृद्धि के लिए सरकार ने कोई प्रत्यक्ष कदम नहीं उठाये। द्वितीय तथा तृतीय योजनाओं में अनेक पूँजी-प्रधान उद्योगों का विकास किया गया। परिणामस्वरूप तृतीय योजना के अन्त में बेरोजगारी की समस्या ने विकराल रूप धारण करना आरम्भ कर दिया।

चतुर्थ व विशेष रूप से पंचम् एवं छठी योजना में अनेक उपायों की व्यवस्था की गयी और इस समस्या पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया।

सातवीं योजना में रोजगार उत्पन्न करने के लिए कृषि क्षेत्र के महत्व को स्वीकारा गया परन्तु यह क्षेत्र सम्पूर्ण बेरोजगारी को दूर नहीं कर सका। अत: ग्रामीण विकास विशेष रूप से निर्माणी कार्यों के रूप में ग्रामीण पूँजी निर्माण की बात कही गयी।

आठवीं योजना व नौवीं योजना में रोजगार सृजन एक मुख्य उद्देश्य था और यह स्वीकार किया गया कि रोजगार के लिए उत्पादन उन क्षेत्रों में बढ़ाना चाहिए जिनकी रोजगार सृजन की क्षमता काफी है।

सरकार द्वारा रोजगार वृद्धि हेतु समय-समय पर जो उपाय अपनाये गये हैं, उन्हें हम अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से निम्न तीन भागों में बाँट सकते हैं–

(I) सामान्य रोजगार, (II) विशिष्ट रोजगार एवं (III) रोजगार सेवा।

(I) सामान्य रोजगार (General Employment) सामान्य रोजगार के अन्तर्गत मजदूरी रोजगार में वृद्धि तथा स्वरोजगार को सम्मिलित किया जाता है। मजदूरी रोजगार में वृद्धि हेतु प्रमुख रूप से योजनाओं में विनियोग वृद्धि तथा उद्योगों में विशेष रूप से लघु एवं कुटीर उद्योगों में श्रम-प्रधान विधियों का सहारा लिया जाता है।

स्वरोजगार के लिए बेरोजगारों की अनेक प्रकार से सहायता की गयी है, जैसे–उनके लिए व्यवसाय सम्बन्धी प्रशिक्षण की व्यवस्था, आधारिक संरचना का निर्माण, कच्चे माल तथा विपणन सम्बन्धी सुविधाएँ तथा वित्तीय सहायता के लिए संस्थागत प्रबन्ध आदि की व्यवस्था की गयी है।

(II) विशिष्ट रोजगार (Specific Employment) बेरोजगार एवं निर्धन वर्ग की सहायता के लिए सरकार ने कुछ विशिष्ट कार्यक्रम अपनाये हैं जिनमें मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं–

(1) **जवाहर ग्राम समृद्धि योजना** (Jawahar Gram Smirdhi Yojana)–अप्रैल, 1999 से जवाहर रोजगार योजना को पुनर्गठित करके उसके स्थान पर जवाहर समृद्धि योजना आरम्भ की गयी है। यह योजना गाँवों में रहने वाले गरीबों के जीवन स्तर को सुधारने तथा उन्हें लाभप्रद रोजगार के अवसर प्रदान करने के लिए लागू की गयी है। इस योजना की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(i) इस योजना का मुख्य उद्देश्य है गाँवों में रहने वाले गरीब बेरोजगारों के लिए निरन्तर रोजगार के अवसर उत्पन्न करना। इसके लिए स्थायी परिसम्पत्तियों सहित माँग प्रारित बुनियादी ढाँचे का निर्माण किया जायेगा।

(ii) इस योजना के अन्तर्गत गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों को रोजगार उपलब्ध कराया जायेगा। अनुसूचित जाति तथा जनजाति परिवारों तथा शारीरिक रूप से अपंग व्यक्तियों को प्राथमिकता दी जायेगी।

(iii) यह कार्यक्रम पूरी तरह ग्राम पंचायत स्तर तक लागू किया जा रहा है।

(2) **स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना** (Swarna Jayanti Gram Swarojgar Yojana—SJGSY) –गरीबी उन्मूलन एवं रोजगार सृजन की पूर्व में चल रही निम्नांकित योजनाओं को 31 मार्च, 1999 को समाप्तघोषित करके अप्रैल, 1999 से स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना लागू की गयी है और पूर्व की सभी योजनाओं को इस योजना में विलय कर दिया गया है–

(i) एकीकृत ग्रामीण विकास योजना (IRDP),

(ii) ट्राइसेम (TRYSEM),

(iii) ग्रामीण महिला एवं बालोत्थान योजना (Mokdjk),

(iv) दस लाख कूप योजना (MWS)।

उद्देश्य (Objectives)–इस योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

(i) गरीबी उन्मूलन के लिए संकेन्द्रित प्रयास,

(ii) सामूहिक ऋणों के लाभों का पूँजीकरण,

(iii) कार्यक्रमों की बहुलता सम्बन्धित समस्याओं को दूर करना।

इस योजना की वित्तीय व्यवस्था केन्द्र और राज्यों द्वारा 75 : 25 में की जाती है। इस पर केन्द्र सरकार द्वारा 1999.2000 में 701 करोड़ रुपये व्यय किये गये और 2000.2001 में इस योजना पर 1,000 करोड़ व्यय करने का प्रस्ताव था।

(3) **उद्यमिता विकास कार्यक्रम (1986)**–18 से 35 वर्ष के शिक्षित बेरोजगार की लघु औद्योगिक इकाइयों की स्थापना हेतु ऋण, कच्चा माल, औद्योगिक सहायता तथा विद्युत कनेक्शन आदि उपलब्ध कराकर उन्हें स्वरोजगार उपलब्ध कराने के उद्देश्य से इस योजना को प्रारम्भ किया गया।

(4) **अम्बेडकर विशेष रोजगार योजना (1991)**–ग्रामीण अंचलों के बेरोजगारों को आत्मनिर्भरता की ओर अग्रसर करने तथा उन्हें ग्रामीण अंचलों से शहरी क्षेत्रों की ओर पलायन रोकने के उद्देश्य से ग्राम्य विकास विभाग द्वारा इसी योजना का क्रियान्वयन किया गया।

(5) **प्रधानमंत्री रोजगार योजना (1993)** (PMRY)–18 से 35 वर्ष आयु वर्ग के शिक्षित बेरोजगार नवयुवकों को उद्योग, सेवा अथवा व्यवसाय से सम्बन्धित परियोजनाओं हेतु उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करते हुए उन्हें आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनाने के उद्देश्य से इस योजना का क्रियान्वयन किया गया है।

(6) **सुनिश्चित रोजगार योजना (1993)** (EAS)–ग्रामीण गरीबों को गैर-कृषि के महीनों में वर्ष में कम-से-कम सौ दिन का सुनिश्चित रोजगार उपलब्ध कराने के उद्देश्य से इस योजना को लागू किया गया है।

रोजगार आश्वासन योजना की शुरूआत विभिन्न राज्यों के सूखा सम्भावित क्षेत्रों, मरुभूमि क्षेत्रों, जनजातीय तथा पर्वतीय क्षेत्रों में चुने गये 1,778 विकास खण्डों में 2 अक्टूबर, 1993 से की गयी थी। बाद में यह योजना चरणबद्ध रूप से देश के शेष विकास खण्डों

नोट

में भी लागू की गयी थी। सभी विकास खण्डों में चलायी जा रही इस योजना का पहली अप्रैल, 1999 से पुनर्गठन किया गया है।

1998.99 के दौरान इस योजना के लिए केन्द्र ने 1,990 करोड़ रुपये का आबंटन किया था। योजना के अन्तर्गत संसाधनों का बँटवारा केन्द्र और राज्य सरकारें क्रमशः 75 रू 25 के अनुपात में करेंगी।

(7) रोजगार छतरी योजना (1998)–ग्रामीण विकास में लगे विभिन्न सोलह विभागों की योजनाओं को समन्वित करते हुए इस योजना को बेरोजगारों के लिए सुविधाजनक बनाते हुए चलाया जा रहा है।

(8) स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना (1997)–स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना 1 दिसम्बर, 1997 से शहरी क्षेत्रों में निर्धनता निवारण के उद्देश्य से प्रारम्भ की गयी है।

(9) ट्रायसेम योजना (1979)–ट्रायसेम योजना का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्र में बेरोजगारों को रोजगार दिलाना है।

(10) खेतिहर मजदूर रोजगार गारण्टी कार्यक्रम (1983)–इसका उद्देश्य भूमिहीन श्रमिकों को रोजगार की सुविधाएँ उपलब्ध कराना है। इसमें परिवार में एक सदस्य को कम-से-कम 100 दिन रोजगार प्रदान करना है।

(11) जवाहर ग्राम समृद्धि योजना (JGSY)–इस योजना को जवाहर रोजगार योजना की पुनर्संरचना करके बनाया गया है। इसे अप्रैल 1999 से प्रारम्भ किया गया है। इसका उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्र के बेरोजगार व अल्परोजगार के साथ महिलाओं को अतिरिक्त रोजगार उपलब्ध कराना है।

(12) शहरी मजदूरी रोजगार योजना (UWEP)–इसका उद्देश्य शहरी निकायों में मजदूरों को रोजगार व मजदूरी दिलाना है।

(13) शहरी सवेतन रोजगार योजना (SUWE)–एक लाख से 20 लाख की जनसंख्या वाली शहरी बस्तियों में आश्रय उन्नयन द्वारा रोजगार प्रदान करना।

(14) सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना–ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर उत्पन्न कराने के उद्देश्य से इस महत्वाकांक्षी योजना को 15 अगस्त, 2001 से प्रारम्भ करने की घोषणा प्रधानमन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा की गयी जिसमें 10,000 करोड़ रुपये व्यय किये जाने का प्रावधान था इसके अन्तर्गत पंचायतों द्वारा संचालित स्थायी विकास कार्यक्रमों में काम करने वालों को नकद व अनाज के रूप में मजदूरी का प्रावधान था इसके लिए 5,000 करोड़ मूल्य का 50 लाख टन अनाज राज्यों को प्रति वर्ष वितरित किया जायेगा व 5,000 करोड़ रुपया वेतन व अन्य मदों पर व्यय होगा तथा भविष्य में संचालित सभी रोजगार योजनाओं को इसमें सम्मिलित कर दिया जायेगा।

इस योजना के क्रियान्वयन पर केन्द्र व राज्य सरकारें 75 व 25 के अनुपात में वहन करेंगी। इस प्रकार 8,750 करोड़ रुपये केन्द्रीय ग्रामीण रोजगार मन्त्रालय तथा शेष 1,250 करोड़ रुपये राज्य सरकारें उपलब्ध करायेंगी। इस योजना का मूल उद्देश्य पंचायती राज संस्थाओं द्वारा संचालित कर ग्रामीण बुनियादी ढाँचे का तेजी से विकास करना और योजना के द्वारा 100 करोड़ मानव दिवस रोजगार का सृजन करना था। इसमें 50: कार्य जिला परिषद् करेगी जिसमें 30% पंचायत समिति के जिम्मे होगा व शेष 50: ग्राम पंचायत के हिस्से में होगा। प्रति मानव दिवस के लिए 5 किग्रा. अनाज

दिया जायेगा। अनाज व वेतन अनिवार्यत: प्रत्येक सप्ताह वितरित होगा। इसका लाभ अ/जा, अ.ज. जा. व गरीबी रेखा से नीचे के लोगों को मिलेगा। इस योजना के तहत मिट्टी व नमी संरक्षण, जल स्रोत का विकास, वन्य रोपण, सड़क व स्कूल भवनों का निर्माण आदि कार्य निर्धारित किये गये।

4.11 सारांश

गरीबी या निर्धनता का अर्थ उस सामयिक क्रिया से है जिसमें समाज का एक भाग अपने जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर सकता। जब समाज का एक बहुत बड़ा अंग-न्यूनतम जीवन-स्तर से वंचित रहता है और केवल निर्वाह-स्तर (Subsistence Level) पर गुजारा करता है तो यह कहा जाता है कि समाज में व्यापक निर्धनता या गरीबी (Mass Poverty) विद्यमान है।

भारत गरीबी के कुचक्र में फँसा है और ये गरीबी का कारण और परिणाम दोनों ही हैं। गरीबी एक अभिषाप है, लेकिन इससे भी बड़ा अभिशाप यह है कि ये खुद ही अपने आप को पैदा करती है। गरीब औद्योगिक कर्मचारियों के लिए प्रोविडेंट फंड, वृद्धावस्था पेंशन, प्रसूति (Maternity), छुट्टी भत्ते आदि की व्यवस्था करके औद्योगिक कर्मचारियों की सामाजिक सुरक्षा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त सरकार को नि:शुल्क शिक्षा, नि:शुल्क स्वास्थ्य सुविधा, निवास एवं आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था पर अधिक व्यय करना चाहिए गरीबों के हित के लिए राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण पर अधिक जोर देना चाहिए।

धन को जब्त कर लेना चाहिए। पिछड़े क्षेत्रों में अधिक उद्योगों की स्थापना करनी चाहिए। ग्रामीण विकास तथा गरीबी उन्मूलन हमारे देश की विभिन्न योजनाओं के प्रमुख लक्ष्य रहे हैं परन्तु अभी तक इस सम्बन्ध में कोई अधिक प्रगति नहीं हुई है।

छठी योजना के 10 प्रमुख उद्देश्य थे जिनमें से एक "गरीबी व बेरोजगारी के भार को उत्तरोत्तर कम करना" (A Progressive Reduction in the Incidence of Poverty and Unemployment) था। सातवीं व आठवीं योजनाओं में भी गरीबी उन्मूलन की बात जोरदारी से कही गयी, जबकि नौवीं योजना में भी प्रमुख स्थान दिया गया।

देश में गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वालों की स्थिति सुधारने के लिए 'विजन 2020 फॉर इण्डिया' नाम से एक महत्वाकांक्षी नीतिगत दस्तावेज केन्द्र द्वारा तैयार किया जा रहा है। इसका उद्देश्य एक निश्चित समय सीमा के अन्दर गरीबी रेखा से नीचे आने वाले लोगों का विभिन्न कार्यक्रमों के द्वारा स्थिति में सुधार करना है, ताकि अगले 20 वर्षों में 'गरीबी रेखा' से नीचे का कलंक पूर्णत: समाज से मिटाया जा सके। प्रो. सेन अपने आर्थिक चिन्तन का मानो निचोड़ प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि हमें सकल राष्ट्रीय उत्पाद की विकास दर को किसी देश के अर्थिक कल्याण की कसौटी नहीं माननी चाहिए; आर्थिक विकास होने पर भी देश में निरक्षरता, अस्वास्थ्य व अन्य सामाजिक अभावों का बोलबाला हो सकता है।

बेरोजगारी से आशय एक ऐसी स्थिति से है जिसमें व्यक्ति वर्तमान मजदूरी की दर पर काम करने को तैयार है परन्तु उसे काम नहीं मिलता। जब वर्ष के कुछ महीनों या विशेष अवधि में प्रति वर्ष बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो इस प्रकार की बेरोजगारी को मौसमी बेरोजगारी कहते हैं।

जब देश में व्यापार-चक्र में मन्दी के कारण बेरोजगारी उत्पन्न हो तो इसे चक्रीय बेरोजगारी कहा जाता है। छिपी हुई बेरोजगारी से हमारा तात्पर्य ग्रामीण अर्थव्यवस्था की उस स्थिति से है जिसमें श्रमिक काम पर लगा हुआ मालूम होता है किन्तु उत्पादन में उसका अंशदान नहीं के बराबर होता है अर्थात् सीमान्त उत्पादन शून्य होता है।

उत्पादन की तकनीकों में परिवर्तन के कारण कुछ लोग बेरोजगार हो जाते हैं क्योंकि नई तकनीक के प्रयोग में वे कुशल नहीं होते हैं अथवा इसके कारण उत्पादन श्रम की वांछित मात्रा में कमी हो जाती है। इस प्रकार की बेरोजगारी कोषर्षणात्मक बेरोजगारी कहते हैं।

नोट

बेरोजगारी एक ऐसी स्थिति है जहाँ श्रम-शक्ति (श्रम की पूँजी) व रोजगार के अवसरों (श्रम की माँग) में अन्तर होता है। बेरोजगारी श्रमिकों की माँग की अपेक्षा उनकी पूर्ति के अधिक होने का परिणाम है। बेरोजगारी से आशय एक ऐसी स्थिति से है जिसमें व्यक्ति वर्तमान मजदूरी की दर पर काम करने को तैयार होता है परन्तु उसे काम नहीं मिलता।

भारत में बेरोजगारी के लिए उत्तरदायी कुछ सामान्य कारण निम्न प्रकार हैं–

(i) बेरोजगारी में तीव्र गति से वृद्धि का मुख्य एवं महत्वपूर्ण कारण बढ़ती हुई जनसंख्या है जो 2.5 प्रतिशत की दर से बढ़ रही है, जबकि रोजगार की सुविधाएँ उस दर से नहीं बढ़ रही हैं। यहाँ प्रतिवर्ष 70 लाख व्यक्ति रोजगार चाहने वालों की संख्या में जुड़ जाते हैं।

(ii) देश में 1951 से नियोजन का कार्य चल रहा है लेकिन यह नियोजन त्रुटिपूर्ण रहा है। इसमें रोजगारमूलक नीति का प्रतिपादन नहीं किया गया है, फलतः बेरोजगारी में वृद्धि हुई है।

(iii) रोजगार की मात्रा में वृद्धि आर्थिक विकास की दर पर निर्भर करती है। जब आर्थिक विकास की दर तीव्र होती है तो रोजगार के अधिक अवसर उत्पन्न होते हैं। पिछले 47 वर्षों के योजनाबद्ध विकास के बावजूद भारतीय अर्थव्यवस्था में वार्षिक विकास दर 3.5% ही रही। इससे रोजगार के पर्याप्त अवसर उत्पन्न नहीं हो सके। परिणाम यह हुआ कि बेरोजगारी बढ़ती गयी।

आज भी अनेक राज्यों में कृषि मानसून की वर्षा पर निर्भर है। फलतः पूरे वर्ष भर कृषि रोजगार प्रदान नहीं कर पाती। केवल फसल बोने से लेकर उसको काटने तक ही पर्याप्त रोजगार के अवसर रहते हैं एवं वर्ष के शेष माहों में श्रमिक बड़े पैमाने पर बेरोजगार रहते हैं। भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी का एक कारण कृषि की मौसमी प्रकृति भी है।

भारत में ग्रामीण क्षेत्र में निरक्षरता व्यापक स्तर पर विद्यमान है। इससे ग्रामीण क्षेत्र में अकुशलता में वृद्धि होती है। यही नहीं, निरक्षरता ग्रामीण को विशेष प्रकार के प्रशिक्षण प्राप्त करने में बाधा उत्पन्न करती है। भारत में कृषकों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय है। कृषकों की आय कम होने के कारण वे अधिक बचत नहीं कर पाते। फलतः उनके पास पर्याप्त मात्रा में पूँजी नहीं होती। पूँजी की कमी के कारण किसानों के पास कृषि से सम्बन्धित पूँजी के साधनों का अभाव बना रहता है और उन्हें वैकल्पिक कार्य भी उपलब्ध नहीं हो पाते।

हमारी शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण है क्योंकि वह अधिकतर साहित्यिक है, व्यावसायिक नहीं है जिसके फलस्वरूप शिक्षित बेकारी देश में अधिक है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली 'स्व-रोजगार' (Self-employment) को बढ़ावा न देकर 'रोजगार तलाश करने वालों' (Employment Seekers) को अधिक बढ़ावा देती है, जिससे समस्या जटिल होती जाती है। यह बात दक्ष व अदक्ष दोनों प्रकार के श्रमिकों पर लागू होती है।

निजी क्षेत्र समर्थकों का मत है कि सरकारी नीतियाँ निजी क्षेत्र को हतोत्साहित करती हैं जिससे रोजगार के अवसर बढ़ाने में अपना पूरा योगदान नहीं दे पाते। भूतकाल में सरकार की कर नीति विनियोग को प्रोत्साहन देने वाली नहीं रही है।

भारत में प्रति वर्ष श्रम-शक्ति में 70 से 80 लाख की वृद्धि हो रही है। इतनी अधिक मात्रा में रोजगार के अवसर उत्पन्न करना कठिन है। अत: बेरोजगारी की समस्या का निराकरण करने के लिए जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण करना आवश्यक है।

रोजगार सुविधाओं को बढ़ाने के लिएघरेलू बचतों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए जिससे कि पूँजी निर्माण ऊँची दर से किया जा सके और विनियोग दर में वृद्धि की जा सके। इससे नये-नये उद्योगों में वृद्धि होगी। सरकार को प्राकृतिक साधनों का विस्तृत सर्वेक्षण करके उन सम्भावनाओं का पता लगाना चाहिए जिनसे नये-नये उद्योग स्थापित किये जा सकते हैं।

नोट

भारत में सामाजिक ढाँचे में उपयुक्त परिवर्तन किया जाय, ताकि जाति प्रथा, पर्दा प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली आदि के दोष दूर हो सकें और श्रमिकों की गतिशीलता में वृद्धि होकर रोजगार के अवसर बढ़ सकें। ग्रामीण क्षेत्रों में कुटीर एवं लघु उद्योगों का विकास किया जाय। इसके लिए आवश्यक है कि ग्रामीण क्षेत्रों में यातायात, बैंक सेवाओं, विद्युत आपूर्ति आदि सुविधाओं का विकास किया जाय। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में फैली बेरोजगारी को दूर करने में मदद मिलेगी।

गाँव में सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए रोजगार के अनेक अवसर उत्पन्न किये जा सकते हैं लेकिन आवश्यकता है गाँव को ठीक से बसाने की एवं उनका समुचित विकास करने की। गाँव में इन्जीनियरों, ओवरसियरों, अध्यापकों, डाक-बाबुओं व डाकियों, मोटरचालकों, डॉक्टरों, छोटे उद्यमकर्ताओं व मिस्त्रियों तथा अन्य व्यक्तियों के लिए रोजगार की विशाल सम्भावनाएँ निहित हैं।

भारत में बहुफसली कृषि को प्रोत्साहन दिया जाय जिससे कि श्रमिकों को पूर्ण रोजगार उपलब्ध हो सके। बहुफसली कार्यक्रम के लिए आवश्यक है कि सिंचाई, उन्नत बीज, साख आदि की व्यवस्था की जाय तथा कृषि तकनीक का विकास किया जाय। स्वरोजगार योजना को प्रोत्साहन देने के लिए वित्त, तकनीकी प्रशिक्षण, कच्चा माल तथा मशीनरी आदि की सुविधाएँ उदारतापूर्वक उपलब्ध करायी जानी चाहिए।

शिक्षित बेरोजगारी की समस्या को हल करने लिए शिक्षा प्रणाली का पुनर्गठन किया जाना चाहिए। शिक्षा प्रणाली को व्यवसाय-उन्मुख बनाया जाना चाहिए। शिक्षित बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिए शिक्षा को रोजगार-उन्मुख (Job-oriented) बनाना आवश्यक है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए माध्यमिक स्तर पर व्यावसायिक पाठ्यक्रमों (Vocational Courses) की व्यवस्था की जानी चाहिए।

सामान्य रोजगार के अन्तर्गत मजदूरी रोजगार में वृद्धि तथा स्वरोजगार को सम्मिलित किया जाता है। मजदूरी रोजगार में वृद्धि हेतु प्रमुख रूप से योजनाओं में विनियोग वृद्धि तथा उद्योगों में विशेष रूप से लघु एवं कुटीर उद्योगों में श्रम-प्रधान विधियों का सहारा लिया जाता है।

अप्रैल, 1999 से जवाहर रोजगार योजना को पुनर्गठित करके उसके स्थान पर जवाहर समृद्धि योजना आरम्भ की गयी है। यह योजना गाँवों में रहने वाले गरीबों के जीवन स्तर को सुधारने तथा उन्हें लाभप्रद रोजगार के अवसर प्रदान करने के लिए लागू की गयी है।

गरीबी उन्मूलन एवं रोजगार सृजन की पूर्व में चल रही निम्नांकित योजनाओं को 31 मार्च, 1999 को समाप्तघोषित करके अप्रैल, 1999 से स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना लागू की गयी है और पूर्व की सभी योजनाओं को इस योजना में विलय कर दिया गया है

उद्यमिता विकास कार्यक्रम (1986)—18 से 35 वर्ष के शिक्षित बेरोज़गार की लघु औद्योगिक इकाइयों की स्थापना हेतु ऋण, कच्चा माल, औद्योगिक सहायता तथा विद्युत कनेक्शन आदि उपलब्ध कराकर उन्हें स्वरोजगार उपलब्ध कराने के उद्देश्य से इस योजना को प्रारम्भ किया गया। प्रधानमंत्री

नोट

रोजगार योजना (1993) (PMRY)–18 से 35 वर्ष आयु वर्ग के शिक्षित बेरोजगार नवयुवको को उद्योग, सेवा अथवा व्यवसाय से सम्बन्धित परियोजनाओं हेतु उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करते हुए उन्हें आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनाने के उद्देश्य से इस योजना का क्रियान्वयन किया गया है। ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर उत्पन्न कराने के उद्देश्य से इस महत्वाकांक्षी योजना को 15 अगस्त, 2001 से प्रारम्भ करने कीघोषणा प्रधानमन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा की गयी जिसमें 10,000 करोड़ रुपये व्यय किये जाने का प्रावधान था।

4.12 शब्दकोश

- **समन्वित** : लगा हुआ, मिला हुआ
- **सामयिक** : समयानुसार होने वाला, वर्तमान समय का
- **स्वावलम्बी** : आत्मनिर्भर
- **विकराल** : विकट, भयानक
- **रोजगारोन्मुख** : रोजगार प्रद, रोजगार उपलब्ध कराने में सहायक

4.13 अभ्यास-प्रश्न

1. गरीबी का क्या अर्थ है? भारत में गरीबी के कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. भारत में ग्रामीण गरीबी के क्या कारण हैं? भारत में निर्धनता के दुश्चक्र को कैसे तोड़ा जा सकता है।
3. गरीबी की रेखा से क्या अभिप्राय है? भारत में गरीबी निवारण के लिए चालू किये गये कार्यक्रमों की व्याख्या कीजिए।
4. सापेक्ष निर्धनता व निरपेक्ष निर्धनता में क्या अंतर है?
5. ग्रामीण गरीबी दूर करने हेतु क्या सरकारी प्रयास किये गये हैं?
6. बेरोजगारी की अवधारणा एवं इसके कारणों की विवेचना किजिए।
7. भारत में बेरोजगारी की समस्या का विवेचन कीजिए।
8. भारत में बेरोजगारी को दूर करने का विश्लेषणात्मक वर्णन कीजिए।
9. भारत सरकार द्वारा बेरोजगारों को रोजगार मुहैया कराने के लिए किये जा रहे उपायों का समीक्षात्मक विवेचन कीजिए।
10. ग्रामीण गरीबी दूर करने हेतु क्या सरकारी प्रयास किये गये हैं?

4.14 संदर्भ ग्रंथ

- भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
- भारतीय अर्थव्यवस्था– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
- विकास नियोजन एवं नीतियाँ– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।